हिन्दू पद पादशाही













सावरकर

हिन्दू पद पादशाही







सावरकर

हिन्दू पद पादशाही

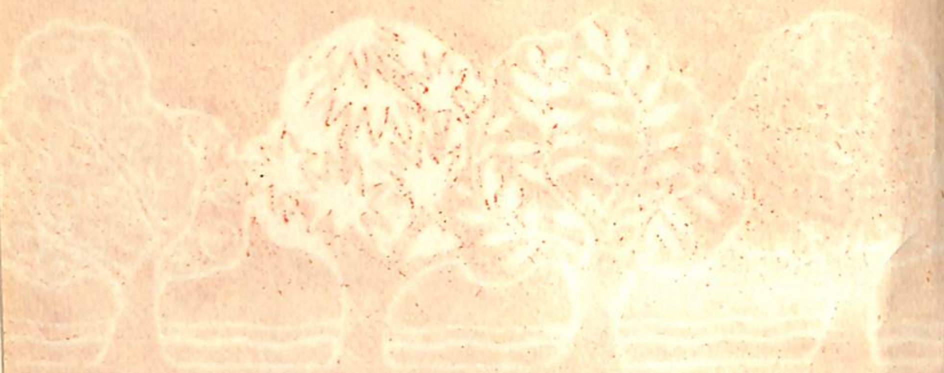
सावरकर



१२. ३. १९८५









With compliments
[signature]



हिन्दू पद पादशाही

स्वातन्त्र्य वीर
विनायक दामोदर सावरकर



राजधानी ग्रन्थागार, नई दिल्ली-१४

तीसरा हिन्दी संस्करण : सितम्बर १९६४

प्रकाशक :
रामतीर्थ भाटिया,
राजधानी ग्रन्थागार,
59-H-IV, लाजपत नगर, नई दिल्ली-१४

मूल्य : ६.५० (छः रुपये पचास नये पैसे)

अनुवादक : बनारसीसिंह एम० ए०
कलापक्ष : द्वारिकाधीश-दिल्ली

मुद्रक :
रामस्वरूप शर्मा,
राष्ट्र भारती प्रेस,
कूचा चेलान
दरियागंज, दिल्ली-६

Hindu Pad Padshahi : By—V. D. Savarkar : Price 6.50

प्रकाशकीय

इतिहास राष्ट्र के भवन की आधार-शिला है। जो जाति अपने इतिहास का विस्मरण कर देती है उसकी राष्ट्रीयता का आधार-स्तम्भ ही हिल जाता है। विदेशी सत्ता जब किसी जाति को अपनी दासता की शृङ्खला में आबद्ध रखने के लिए प्रयत्नशील होती है तो उसके इतिहास को मिटाने अथवा विकृत करने का सुनियोजित प्रयास करती है। भारत के इतिहास को भी इसी भाँति विकृत करने की विदेशी सत्ताधीशों द्वारा दुरभिसन्धि की गई हैं। हिन्दू जाति के गौरवपूर्ण इतिहास को उसके वास्तविक स्वरूप में प्रस्तुत करने का महान् कार्य प्रस्तुत ग्रंथ के रूप में स्वातन्त्र्य-वीर विनायक दामोदर सावरकर ने किया है। आधुनिक हिन्दू राजनीति के जन्मदाता की इस पुस्तक को महाराष्ट्र के गौरवपूर्ण इतिहास का शोध-ग्रंथ भी कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

यह ग्रंथ वस्तुतः हिन्दू जाति के गौरवमय इतिहास का एक ऐसा स्वर्णिम पृष्ठ है जिसमें महाराष्ट्र के वीर-विजेताओं द्वारा मुगल सत्ता के समूलोच्छेद की कहानी अकाट्य तथ्यों की जबानी प्रस्तुत की गई है।

हिन्दुस्थान के भाग्य-गगन पर जब विदेशी मुस्लिम सत्ता की दासता के सघन घन घहरा उठे थे तो उस अन्धकार को विदीर्ण कर स्वतन्त्रता के नन्दादीप को थाम कर अरावली की गिरिमालाओं में हिन्दू कुल सूर्य प्रणवीर महाराणा प्रताप खड़े हुए थे। उनका सुसंकल्प था पांडवों की प्राचीन राजधानी इन्द्रप्रस्थ से विदेशी पताका को उतारकर उसके स्थान पर हिन्दू जाति की पुनीत पताका को पुनः ससम्मान फहराना। यह संकल्प उनके जीवनकाल में तो पूर्ण नहीं हो पाया किन्तु छत्रपति शिवाजी ने स्वतन्त्रता और हिन्दू राज्य स्थापना की वही पावन प्रतिज्ञा सह्याद्रि की पर्वतमालाओं में गुंजाई। उन्हीं के अनुयायियों ने १७६१ ई०

में दिल्ली में हिन्दुत्व की विजय पताका फहराकर विदेशी मुगल सत्ता को समाप्त कर दिया। प्रस्तुत ग्रंथ में हिन्दुओं के इसी विजय-अभियान विवेचना है।

यह सत्य सूर्य के समान जाज्वल्यमान है कि हिन्दू जाति का उत्थान-पतन ही देश की राष्ट्रीय शक्ति का मापदण्ड रहता चला आया है। आदिकाल से जाति ने इस देश को आर्यावर्त, भारतवर्ष अथवा हिन्दुस्थान का नाम दिया वह हिन्दू (आर्य) जाति ही है।

भारतीय इतिहास को विदेशी इतिहासकारों और लेखकों ने अपने कुचक्र को आधार बनाकर ही लिखा है। इस विकृत इतिहास को पढ़कर हिन्दू जाति में अपना सभी कुछ त्याज्य और दूसरों का जो कुछ तथा जैसा भी है वह सभी ग्राह्य है, ऐसी ग़लत भावना निर्माण होती रही है। किन्तु कई राष्ट्र-भक्त इतिहासकारों ने राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दुस्थान के वास्तविक इतिहास का लेखन किया है और इतिहास को उसके विशुद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। ऐसे इतिहासकारों का यह अडिग विश्वास रहा है कि हिन्दू आन्दोलन ही इस देश का विशुद्ध स्वातन्त्र्य आन्दोलन है। अंग्रेजी साम्राज्य के क्रीतदासों अथवा चाटुकारों की मान्यताओं को चुनौती देकर जिन इतिहासकारों ने भारत के इतिहास को उसके विशुद्ध स्वरूप में प्रस्तुत किया है उनमें स्वातन्त्र्य वीर-विनायक दामोदर सावकर तथा देवता-स्वरूप भाई परमानन्द इस पक्ष का सूत्रपात करने वाले थे। जिस प्रकार १८५७ का स्वातन्त्र्य समर नामक ग्रंथ श्री सावरकर की पैनी लेखनी से लिखा गया उसने इस महान् राष्ट्रीय आन्दोलन को गदर कहने वालों के मिथ्या प्रचार की कलई खोल दी। उसी प्रकार भाई परमानन्दजी की पुस्तक भारत का इतिहास भी विदेशी मान्यताओं पर खुला प्रहार थी। अंग्रेजी राज्य सत्ता से भारत को मुक्त कराने के लिए अपने प्राण हथेली पर धर कर आगे बढ़ने वाले क्रांतिकारियों के लिए ये गीता के समान ही प्रेरणादायक थे। इन ग्रन्थों दोनों को क्रान्ति यज्ञ का एक प्रज्वलित यज्ञकुण्ड समझकर अंग्रेजों ने राजहृत कर लिया था।

अण्डमान (कालापानी) में कारागार की घोर यातनाओं को सहन कर मुक्त होने के बाद ही वीर सावरकरजी ने हिन्दू पद-पादशाही नामक यह ग्रंथ लिखा है। जिसकी पृष्टभूमि उनके मस्तिष्क में अन्डमान के वर्षों के कारागार में बनी।

इतिहास के गलत तथ्य और आधार आगे चलकर ग़लत राजनैतिक दृष्टिकोण और विचारधारा बन जाते हैं—यहाँ इसके प्रमाण स्पष्ट मिलते हैं। श्री सावरकर जी ऐसे इतिहासकार, इतिहास का राजनैतिक विशलेषण करना और राजनीति का ऐतिहासिक मूल्यांकन इस दृष्टि-कोण के प्रतिपादक हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दू पद-पादशाही के एक-एक पृष्ठ पर हिन्दू साम्राज्य के उत्थान और पतन की कहानी ही अंकित है। कई विदेशी इति-हासकारों के अतिरिक्त अपने देश के ही इतिहासकार भी इसी भ्रांति का प्रतिपादन करते रहे हैं कि महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी द्वारा प्रारंभ किया गया पुनीत स्वतन्त्रता आन्दोलन मराठों का केवल एक आंचलिक आन्दोलन मात्र था और उनके समक्ष कोई अखिल भारतीय दृष्टिकोण नहीं था। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में यह सिद्ध किया गया है कि वस्तुतः महा-राष्ट्र का यह आन्दोलन हिन्दू पद-पादशाही की स्थापना की पुनीत प्रेरणा से ही प्रेरित था। इस आन्दोलन के संस्थापक छत्रपति शिवाजी ने अपने पथ-प्रदर्शक समर्थ स्वामी रामदास को भी हिन्दू जाति की रक्षा का ही वचन दिया था। वस्तुतः यह इस सम्पूर्ण भारत-वसुन्धरा और इसकी परम्पराओं की ही रक्षा का एक कठोर संकल्प था।

हिन्दू पद-पादशाही को पढ़ते समय पाठकों को अनेकों ऐसे उदाहरण मिलेंगे जिनसे इस भ्रांति का खण्डन हो जाता है कि मराठों का आन्दो-लन कोई आंचलिक आन्दोलन मात्र था। इसके स्थान पर वे इस तथ्य से और भी अवगत हो सकेंगे कि महाराष्ट्र का यह आन्दोलन वस्तुतः अखिल हिन्दु-बन्धुत्व भावना से ओत-प्रोत था।

इस ग्रंथ का यह तृतीय हिन्दी संस्करण है। द्वितीय संस्करण २०

वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। अब यह संस्करण सर्वथा नवीन रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

पुस्तक हिन्दू हृदय सम्राट् स्वातन्त्र्य वीर विनायक दामोदर सावरकर की विशेष आज्ञा से प्रकाशित हो रही है। इस अनुकम्पा के लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

—रामतीर्थ भाटिया
(संचालक)

लेखक की ओर से...

समय व्यतीत होने के साथ-साथ ही प्राचीन इतिहास की सत्यता की परख कर पाना भी कठिन से कठिनतर होता जाता है, परन्तु श्रीयुत राजवाड़े आदि विद्वानों के सतत प्रयत्नों के फलस्वरूप महाराष्ट्र के इतिहास के धूमिल पृष्ठों पर से विस्मृति का पटल पर्याप्त अंशों में उठ गया है और वह स्पष्ट रूप में विश्व के समक्ष आ रहा है। इस महान् प्रयास के पूर्व तो हमें अपने इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने हेतु भी विदेशी इतिहासज्ञों की खोज का ही आश्रय लेना पड़ा था। नवीन खोज के बहुत-से राजकीय पत्रकों एवं अन्य कागज-पत्रों के मराठी में होने के कारण श्रीयुत न्यायाधीश रानाडे के अतिरिक्त अन्य किसी भी विद्वान् ने महाराष्ट्र के इतिहास को ऐसी भाषा में लिखने का प्रयत्न नहीं किया जिससे हिन्दुस्थान की जनता और समग्र विश्व महाराष्ट्र के राष्ट्रीय आन्दोलन के महत्त्व को भली भाँति समझ पाता। मैं अपने हृदय में बहुत दिनों से यह इच्छा संजोए हुए था कि जन-साधारण के समक्ष एक ऐसी पुस्तक प्रस्तुत करूँ, जिससे महाराष्ट्र के इस महान् आन्दोलन एवं क्रान्ति के सन्देश का न्यूनाधिक ज्ञान उपलब्ध हो सके। १९१० ई० में सिखों के इतिहास का लेखन कार्य पूर्ण करने के उपरान्त मैंने मराठों के इतिहास का लेखन कार्य अंग्रेज़ी में ही प्रारम्भ किया। यद्यपि सिखों का इतिहास क्रान्ति आन्दोलन के प्रथम थपेड़ों में ही कहीं नष्ट-भ्रष्ट हो गया था, परन्तु उस समय ही कतिपय ऐसे आवश्यक कर्तव्य समक्ष आकर उपस्थित हो गये जिसके कारण जीवन के बहुत-से दिन अन्दमान की निर्जन काल कोठरियों में मृत्यु एवं गहन तिमिर से संघर्ष में ही व्यतीत हो गये और अपनी इस साधना को पूर्ण करने में सफलता अर्जित करने की आशा भी निराशा में ही परिणत हो गई।

निराशा में भी आशा की किरण प्रस्फुटित हुई और मैं अन्दमान की काल कोठरियों से मुक्त हुआ। वस्तुतः परमात्मा को ही यह स्वीकार था कि मैं अपने उन महान् पूर्वजों के प्रति अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करने का सुअवसर प्राप्त करूँ जिन्होंने १६वीं शताब्दी में अपने प्रचण्ड शौर्य और त्याग के बल पर अपनी आन और महान् हिन्दू राष्ट्र की स्वतन्त्रता के संरक्षण का महत् कार्य सम्पन्न किया।

हिन्दुस्थान के किसी भी अंचल में प्रस्फुटित होने वाली जागृति की किरणों की महत्ता की छाप सम्पूर्ण हिन्दू राष्ट्र के इतिहास पर पड़ना अवश्यम्भावी ही है, फिर चाहे जागृति की वह लहर राजपूतों में प्रवाहित हुई हो अथवा सिखों में उठी हो अथवा मराठों और मद्रासियों में उभरी हो। किसी जाति के एक अंग द्वारा अर्जित सफलता वस्तुतः उस सम्पूर्ण जाति में निहित शक्तियों का ही प्रतिबिम्ब होती है। यद्यपि यह दृष्टिकोण तो अपने आप में सत्य है ही, किन्तु मराठों की जागृति के आन्दोलन की उत्ताल तरंगों ने तो प्रान्तीय सीमाओं को लाँघकर 'अखिल हिन्दू आन्दोलन का रूप ही ग्रहण कर लिया था।

इसलिए प्रस्तुत विवेचनात्मक पुस्तक के लिखने का प्रमुख उद्देश्य महाराष्ट्र के बाहर अन्य प्रान्तों में निवास करने वाले लोगों के समक्ष इस मराठा आन्दोलन के सम्पूर्ण इतिहास का हिन्दू दृष्टिकोण के आधार पर दिग्दर्शन कराना ही है। इसी कारण इस पुस्तक में महाराष्ट्र के हिन्दू साम्राज्य का सम्पूर्ण इतिवृत्त तो प्रस्तुत नहीं किया जा सका, केवल उन मुख्य-मुख्य आदर्शों एवं उद्देश्यों का ही चित्रण किया गया है जो इस आन्दोलन के प्रेरणा स्रोत अथवा आत्मा थे।

हिन्दू साम्राज्य के उत्थान और पतन की गाथा हमें एक महान् सन्देश सुनाती है जो इस पुस्तक के एक-एक पृष्ठ में अंकित है। अतएव हिन्दू जनों को इस पुस्तक का विशेष परिचय कराने की कोई महती आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती।

परन्तु प्रस्तुत पुस्तक के मुस्लिम पाठकों से इस सबम्न्ध में दो शब्द

कहना अवश्य ही आवश्यक है। किसी भी इतिहासकार का यह पावन कर्त्तव्य है कि वह अपने पात्रों की आकांक्षाओं, भावनाओं तथा क्रिया-कलापों का यथा रूप ही चित्रण प्रस्तुत करे। ऐसा होना तभी संभव है जब वह अपनी पूर्व धारणाओं और पूर्वाग्रहों को एक ओर रखकर इस चिन्ता से पूर्णतः मुक्त होकर लेखनी को संभाले कि उसके यथार्थ चित्रण से वर्तमान हितों पर क्या एवं कैसा प्रभाव पड़ेगा। वर्तमान के हित-रक्षण के नाम पर इतिहास की घटनाओं की तोड़-मरोड़ अथवा उन्हें गहरे या कृत्रिम रंग में रंगना कदापि स्तुत्य नहीं हो सकता। उदाहरणतः यदि हजरत मुहम्मद का जीवन चरित्र एवं उनके क्रिया कलापों का लेखन कार्य सम्पन्न करने वाला कोई लेखक मूर्ति पूजकों तथा काफिरों के सम्बन्ध में उनके द्वारा किए गये तीक्ष्ण प्रहारों को इस कारण ही ही चुभते ढंग से वर्णन करने में संकोच का अनुभव करता है कि उससे अ-मुस्लिमों की भावनाओं को आघात लगेगा, तो वह अपने कर्त्तव्य का पालन न कर सकेगा। दूसरों की भावनाओं के आदर करने का वास्तविक ढंग यही है कि लेखक स्वयं ही अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति सहिष्णुता की भावना रखता हो तथा अपनी रचनाओं के अन्त में अपने मतभेदों तथा स्वतन्त्र विचारों की भी अभिव्यक्ति करदें। परन्तु इतिहास की घटनाओं का वर्णन यथोचित करना ही श्रेष्ठ है। यदि मुहम्मद साहब के जीवन वृत्त का लेखक ऐसा न कर पाए तो यही उचित है कि वह उनके सम्बन्ध में लेखनी ही न उठाए। इसी भाँति उसके पाठकों का भी एक स्वाभाविक कर्त्तव्य है और विशेषतः उन पाठकों का जिन्हें हजरत मुहम्मद की शिक्षाओं पर कोई आस्था नहीं है। पाठकों को यह भ्रान्ति अपने हृदय से निकाल देनी चाहिए कि मुहम्मद साहब, बाबर अथवा औरंगजेब के क्रिया-कलापों, उनकी अच्छी और बुरी भावनाओं तथा आकांक्षाओं का वास्तविक चित्रण करने वाला लेखक आजका अच्छा नागरिक नहीं समझा जा सकता। यह भी सम्भव है कि लेखक अपने अन्य देशवासियों जो किसी अन्य मत को मानते हैं, के प्रति नितान्त ही उदार एवं सहिष्णु

हो। हिन्दू इतिहास का इतिवृत्त और उस काल का वर्णन करते समय भी जब कि हिन्दू, मुस्लिम शक्तियों के साथ जीवन, मरण के घोर संघर्ष में उलझे हुए थे, हमने एक सच्चे लेखक के आदर्श को दृष्टिगत रखते हुए सत्य का आंचल एक पल के लिए भी नहीं छोड़ा। हमने सभी घटनाओं की निष्पक्षता सहित खोज की है और यथासम्भव घटनाओं के पात्रों की भावनाओं को उनके ही अपने शब्दों में अभिव्यक्त किया है। परन्तु केवल इसी कारण मुसलमान पाठकों को लेखक पर यह दोष आरोपित नहीं कर देना चाहिए कि उसके हृदय में उनके प्रति किसी प्रकार की द्वेष भावना विद्यमान है। यद्यपि इस पुस्तक में इतिहास के उस अध्याय का वर्णन है जब कि मुसलमानों के पूर्वजों के प्रति उस समय हिन्दू जाति ने एक भारी संग्राम का आह्वान किया था और दुर्धर्ष संघर्ष किया था, जो लेखक की दृष्टि में पूर्णतः न्याय पर आधारित था। किन्तु बीती बातों और अतीत की शत्रुता के आधार पर आज भी लड़ने में संलग्न रहना उतना ही हास्यापद एवं घातक है जितना कि हिन्दू और मुसलमानों का परस्पर गले मिलते हुए केवल इसलिए ही एक दूसरे की हत्या करने के हेतु दाव लगाना कि क्योंकि आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व शिवाजी एवं अफजलखान ने ऐसा किया था।

पुराने विवादों और संघर्षों की स्मृति को अपने हृदय में चिरस्थायी रखने की दृष्टि से इतिहास का अध्ययन नहीं किया जाना चाहिए और न ही आज भी "मातृभूमि" और "खुदा" के नाम पर रक्तपात किया जाना ही अभीष्ट है। इतिहास का कार्य तो उन मौलिक कारणों की खोज करना है, जो झगड़े, फिसाद एवं रक्तपात को मिटाकर, मानव को मानव से, जो एक परम पिता परमात्मा की सन्तान हैं और एक ही माता वसुन्धरा की पावन गोदी में खेले हैं, पले हैं मिला दें और अन्ततः इस धराधाम पर सर्वभौम मानवीय प्रजातन्त्र की स्थापना का स्वप्न साकार हो सके।

किन्तु दूसरी ओर आशा के इस सुदूर क्षितिज की चमक से हमारे

नेत्र चकाचौंध नहीं हो जाने चाहिए। क्योंकि यदि ऐसा हुआ तो हमारी दृष्टि से यह सत्य ही विलुप्त हो जाएगा कि इस विश्व में मानव और जातियाँ समुदायों में विभाजित हैं और युद्ध और संघर्ष की प्रचण्ड अग्नि में से निकल कर ही वे पारस्परिक-एकरूपता के लक्ष्य को उपलब्ध कर सकती हैं। जो जातियाँ कठिन परीक्षा काल में भी नैतिकता तथा चारित्र्य का सम्बल नहीं छोड़ती और अपनी योग्यता के बल पर सफलता अर्जित करती हैं वस्तुत: उन्हें ही संसार में जीवित रहने का अधिकार है। अतः एकता का डिमडिम नाद करने से पूर्व हमें अपनी जाति को एक जीवित जागृत और प्राणवान् राष्ट्र के रूप में खड़ा करना ही उचित होगा। वस्तुत: इसी कठिन कसौटी पर खरा और पूर्ण उतरने हेतु हिन्दुओं को मुसलमानों के विरुद्ध घोर संघर्ष करना पड़ा था। स्वामी और सेवक में आदरपूर्ण एकता होनी कदापि संभव नहीं। यदि हिन्दुओं ने जागृत होकर अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों का मुँहतोड़ उत्तर देकर अपनी शक्ति का परिचय न दिया होता तो यदि मुसलमानों का हाथ हिन्दुओं के साथ मैत्री के लिए बढ़ता तो भी उसमें मैजी की अपेक्षा की अपेक्षा दया की भावना ही अधिक होनी थी। इतना ही नहीं हिन्दू भी उसे आत्म-विश्वास, अधिकार एवं समानता सहित ग्रहण नहीं कर सकता था। मित्रता उन्हीं में हो सकती है जिनमें शक्ति की भी समानता हो। सत्य तो यह है कि हिन्दुओं ने अपने देश और धर्म की रक्षा हेतु जो विपुल संग्राम किया, उसी ने इन दो शक्तियों के मध्य परस्पर समान मैत्री का द्वार खोला। इसी कारण "१८५७ ई० का स्वातन्त्र्य संग्राम" नामक अपने ग्रन्थ में मैंने यह लिखा था कि हिन्दू मुस्लिम एकता केवल उसी दिन से थोड़ी बहुत संभव प्रतीत होने लगी थी जिस दिन १७६१ ई० में हिन्दू राष्ट्र के पराक्रमी शूरवीरों ने दिल्ली में अपना विजय ध्वज फहराया था। मुगलों का सिंहासन और राजमुकुट तथा पताका वीर सेनानी भाऊ और नवयुवक विश्वासराव के चरणों में टूक-टूक होकर धूल-धूसरित हो गए थे। क्योंकि यही वह स्वर्णिम घड़ी थी जब हिन्दुओं

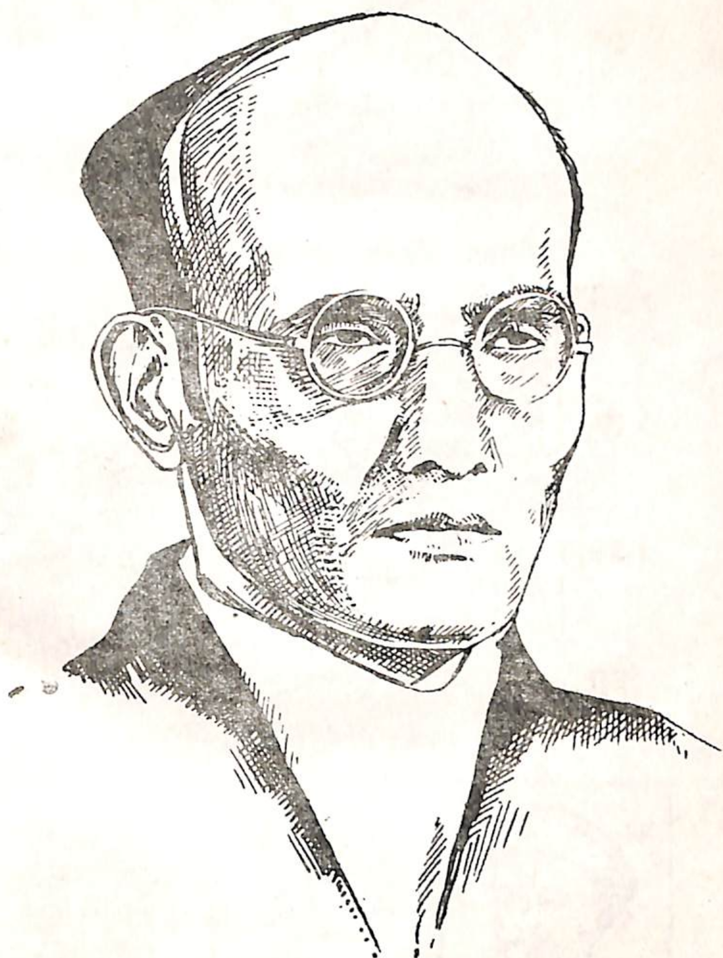
ने अपनी लुप्त हुई स्वतन्त्रता को पुनः अपने शौर्य के बल पर प्राप्त किया था तथा विश्व के रंगमंच पर एक जीवित और जाग्रत राष्ट्र के रूप में खड़े रहने के अपने अधिकार और क्षमता का प्रमाण प्रस्तुत किया था। उन्होंने विजेता को पराजित किया था और उस पर अपनी विजय पताका फहराई थी। वस्तुतः यही वह समय था जिसमें यदि मुगल चाहते तो इस देश के निवासियों और मित्र के नाते उन्हें गले लगाया जा सकता था। इस दृष्टि से यदि हम विचार करते हैं तो वह महान् सत्य हमारी दृष्टि के समक्ष उभर आता है कि मराठों का इतिहास हिन्दू-मुस्लिम एकता के मार्ग का रोड़ा नहीं, उसमें बाधक नहीं अपितु चिरस्थायी एकता के पथ का दिग्दर्शक है, जो इसके पूर्व नितान्त दुर्गम था। इसलिए भारत के इतिहास का यह स्वर्णिम पृष्ठ सभी भारतीय देश-भक्तों, हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए विशेष रूप से अध्ययन करने योग्य है।

सामान्य पाठकों के हेतु भी स्वातन्त्र्य संग्राम में लिप्त राष्ट्र की यह गौरव-गाथा कम रोचक नहीं है, जिसमें दूरदर्शी राजनीतिज्ञों, कुशल साम्राज्य संस्थापकों, तेजस्वी सन्तों और कवियों और रणकौशल में पारंगत महान् वीरों—शिवाजी और बाजीराव, भाऊ साहब तथा जनकोजी, नाना जी एवं महाद जी, सन्त प्रवर समर्थ रामदास और मोरो पन्त ने योगदान दिया था।

शिरगाँव —वि० दा० सावरकर

१५ फरवरी. १९२५

महान ग्रन्थ के महान लेखक



हिन्दू हृदय सम्राट वीर वि० दा० सावरकर

हिन्दू पद पाद-शाही के संस्थापक



हिन्दू पद-पादशाही के प्रेरणा स्रोत छत्रपति शिवाजी



सदाशिवराव भाऊ मुगल तख्त को तुड़वाते हुए



बालाजी विश्वनाथ, बाजीराव, महादजी शिन्दे

R c.

१

नवयुग

[शिवाजी के नाम शाहजी का पत्र]

"स्वधर्म राज्य वृद्धि करणें ! तुम्ही सुपुत्र निर्माण आहां"

छत्रपति शिवाजी का जन्म १६२७ ई० में हुआ। उनके जन्म ग्रहण करने के कारण ही यह वर्ष एक नवीन युग का प्रारम्भिक काल ही बन गया। शिवाजी के अवतीर्ण होने के पूर्व सैकड़ों वीर और महान् आत्माएँ, मुसलमान आक्रमणकारियों के आक्रमण का प्रतिकार करते हुए हिन्दू जाति के मान और सम्मान की रक्षा हेतु संघर्ष करते-करते अपना बलिदान चढ़ा चुकी थीं। स्वदेश पर सर्वस्व समर्पित करने वाले उन योद्धाओं के समान ही शिवाजी भी वीरता सहित संघर्ष करते रहे और अन्ततः विजयश्री का वरण करने में सफल हो गये। उन्हें विजय पर विजय प्राप्त होने लगी। विजय की इस तरंग ने समग्र हिन्दू जाति को नवजीवन प्रदान कर दिया। देश में एक नवीन शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ जो शनैः-शनैः वृद्धि पाती रही और इस योग्य हो गई कि सैकड़ों वर्षों तक निरन्तर शत्रुओं को पराभूत कर अपनी विजय पताका फहराती रही और पावन हिन्दू धर्म का विजयी ध्वज उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर शान सहित लहराता रहा।

महमूद गज़नवी के आक्रमण से शिवाजी के संघर्षरत होने तक यवनों की विजय तरंग इतनी प्रबल गति से प्रवाहित होती रही थी कि उसका सफल प्रतिरोध एवं प्रतिकार ही नहीं हो सका था। इस लहर ने बढ़ते-बढ़ते सम्पूर्ण हिन्दुस्थान को ही आत्मसात कर लिया था। शिवाजी ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने विधर्मियों की इस विजय तरंग से अपना गर्वोन्नत भाल निकाला और इसे दृढ़ता सहित चुनौती देते हुए गर्जना की "बस तुम्हें जहाँ तक बढ़ना था बढ़ चुकीं, अब और आगे नहीं बढ़ सकतीं।"

राजनैतिक रंगभूमि पर शिवाजी के प्रकट होने से पूर्व—अर्थात् १६२७ ई० से पहले हिमगिरि की गगन चुम्बी शैल मालाओं से हिन्दू महासागर पर्यन्त जहाँ कहीं भी हिन्दू और मुस्लिम वाहिनियों में संघर्ष हुआ वहाँ हिन्दुओं को ही पराजित होना पड़ा। कभी हिन्दू सहसा ही अपने नेता के लापता हो जाने के कारण पराजित हुए तो कभी उसके रणभूमि में बलिदान हो जाने के परिणामस्वरूप हार गये अथवा कभी अपने ही किसी मन्त्री या सेनापति के विश्वासघात के फलस्वरूप विजयश्री का वरण कर पाने में असफल हो गये। इस प्रकार जब कभी भी दो-दो हाथ हुए तभी हिन्दुओं की पराजय की कहानी में एक पृष्ठ और जुड़ गया। सिन्धु नरेश महाराज दाहिर सेन का दुर्भाग्य, जयपाल का संघर्ष, अनंगपाल की दृढ़ता, दिल्लीपति महाराजा पृथ्वीराज चौहान का पतन, कालिंजर, सीकरी अथवा तालीकोट की घटनाओं को स्मृतिपटल पर लाते ही उपरोक्त कथन की सत्यता स्वतः प्रमाणित हो जाती है। परन्तु जब हिन्दू जाति के भाग्य की बागडोर शाहजी तनय सरजा शिवाजी ने अपने सशक्त हाथों में थामी तो उन्होंने हिन्दुओं के इतिहास से पराजय के पन्ने को फाड़कर उसमें विजय वरण के अध्याय को संलग्न कर दिया। हिन्दू जाति अभी तक जिस दुर्भाग्य का ग्रास बनती आई थी वह अब मुसलमानों के समक्ष उपस्थित होने लगा। इसके बाद इतिहास के उस स्वर्णिम समुल्लास का सृजन हुआ जिसमें हिन्दू राष्ट्र की पावन पताका पुनः कभी यवनों के हलाली परचम के सम्मुख नतमस्तक नहीं हुई।

१६२७ ई० के पश्चात् आसिन्धु सिन्धुपर्यन्त भारतभूमि में जहाँ कहीं हिन्दुओं और मुसलमानों में युद्ध हुआ, वहीं हिन्दुओं की विजय हुई और मुसलमानों की पराजय। यद्यपि उनकी शक्ति और सैन्यबल हिन्दुओं की अपेक्षा दुगना चौगुना तक ही होता था और मुस्लिम सेनाओं के मुख से उच्चारित "अल्ला हो अकबर" (ईश्वर विजयी हो) के जयघोषों से धरा और गगन भी गुंजित होते रहते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि

विजय तो ईश्वर की ही हुई किन्तु अब की बार ईश्वर हिन्दू जाति के साथ खड़ा था। वस्तुतः १६२७ ई० के उपरान्त ईश्वर ने हिन्दुओं पर ही अपने सहयोग का वरद् हस्त बढ़ा दिया था, उन हिन्दुओं पर उसकी कृपादृष्टि होने लगी थी जो मूर्ति भंजक नहीं अपितु मूर्ति पूजक थे। अब ईश्वर मूर्ति भंजकों को ही कुपित दृष्टि से देखने लग गया था। सिंहगढ़ की विजय, पावन खण्ड की रक्षा की घटना तथा गुरु गोविन्दसिंह की गौरव गाथा, वीर बन्दा बैरागी की यशोगाथा, छत्रसाल, पेशवा बाजीराव, नाना साहब, भाऊराव, मल्हारराव, परशुराम पन्त, महाराजा रणजीतसिंह तथा अन्य अगणित मराठा, राजपूत एवं सिख सेनापतियों के जीवनवृत्त पर दृष्टिपात करते ही यह अकाट्य सत्य स्वतः प्रमाणित हो उठता है। इन पराक्रमी हिन्दू वीरों से जहाँ कहीं तथा जब भी यवनों का संघर्ष हुआ वहाँ उन्हें सिर-पर-पैर रखकर ही पलायन करना पड़ा। हिन्दुओं के राजनैतिक क्षेत्र में सहसा ही महत्त्वपूर्ण तथा विजयगान से परिपूर्ण परिवर्तन के दो महत्त्वपूर्ण कारण थे—एक था छत्रपति महाराज शिवाजी और उनके पूज्यपाद-गुरुदेव समर्थ रामदास सरीखी महान् आत्माओं द्वारा हिन्दू जाति के समक्ष उनके आध्यात्मिक एवं जातीय उच्च आदर्शों का युक्तियुक्त दिग्दर्शन तथा दूसरा नवीन युद्ध शैली का अवलम्बन एवं नये-नये शस्त्रास्त्रों का आविष्कार। वस्तुतः मराठों की यह नवीन युद्ध कला युद्ध विज्ञान में एक नवीन आविष्कार ही था। महाराष्ट्र धर्म एक नवीन शक्ति के रूप में प्रकट हुआ था, जिसने हिन्दू जाति के जराजीर्ण राजनैतिक जीवन की नष्ट होती हुई आत्मा में नवीन प्राण फूंके थे, उसे अमरत्व का मंत्र प्रदान किया था। अतः समग्र हिन्दू जाति ने उसका वन्दन अनुकरण और अनुशीलन करना आरम्भ कर दिया।

हिन्दू पद पादशाही—अर्थात् स्वतन्त्र हिन्दू साम्राज्य की स्थापना का महान् आदर्श ही हिन्दू स्वातन्त्र्य हेतु संघर्षरत योद्धाओं के लिए एक

नवीन अवलम्बन हो गया। इसके साथ ही गुरिल्ला युद्ध कला की नूतन मराठा शैली से मुसलमान आश्चर्यचकित रह गये। इस नवीन युद्ध कला के समक्ष यवनों के पैर उखड़ गये। इस प्रकार महाराष्ट्र के वीर योद्धाओं ने मुसलमानों पर विजय प्राप्त कर हिन्दू जाति के मस्तक पर पुनः विजय-तिलक लगाकर उसे सुशोभित कर दिया।

इतना ही नहीं इतिहास के पृष्ठों में इस तथ्य की साक्षी सुस्पष्ट शब्दों में उल्लिखित है कि इस महान् ध्येय ने ही मराठों की एक के उपरान्त दूसरी पीढ़ी को भी अनुप्राणित कर निरन्तर प्रयत्नशील रहने की पावन प्रेरणा प्रदान की। ध्येय देव की अर्चना की यह पुनीत भावना उन्हें प्रोत्साहन देती रही। उनकी बिखरी हुई शक्तियों को ऐक्य सूत्र में आबद्ध होने का सन्देश मिला तो उनके उद्देश्य में भी समानता का सृजन हुआ और उनके हित तथा अनहित भी समान हो गये। जिसके फलस्वरूप उन्हें इस सत्य की अनुभूति हुई कि उनके मनोरथ न तो व्यक्तिगत हैं और न ही प्रादेशिक, अपितु यह महान् कार्य एक विशुद्ध धार्मिक तथा सार्वदेशिक कार्य है, जो संन्यासी से लेकर सैनिक पर्यन्त सभी का प्रमुख कार्य होना चाहिए। इसी मनोरथ की प्राप्ति के उत्साह के फलस्वरूप मराठे निरन्तर विजयोन्मुख होते हुए दिल्ली की देहरी तक ही नहीं पहुँचे अपितु उनके विजयी अश्वों ने सिन्धु सरिता की पावन जलधारा का भी रसास्वादन किया। दक्षिण में वे विजयी मराठे सागर की उत्ताल तरंगों तक अपने विजयी तुरंग ले जाने में सफल हो गए जिनका एकमात्र लक्ष्य था हिमालय की हिममंडित शैलमालाओं से धुर दक्षिण में महासागर की उत्ताल तरंगों तक हिन्दू साम्राज्य तथा हिन्दू पद पादशाही की स्थापना करना। उनके द्वारा सम्पन्न किये गये अलौकिक से लगने वाले महान् कार्यों की गौरव गाथाओं से एक वीर-रस से परिपूरित महाकाव्य का ही सृजन हो गया। जिसे हिन्दू माताएँ अपने बालकों को उन गीतों के स्थान पर सुना सकती हैं, जो कुछ समय पूर्व हमारे अधः पतन

तथा शत्रुओं के समक्ष हमारी पराजय का स्मरण कराते थे।

सन् १६२७ ई० ही वह पावन वर्ष था जब सिंह सपूत शिवाजी अवतीर्ण हुए। उनके समकालीन इतिहासकारों ने इस बात का उल्लेख किया है कि ज्यों-ज्यों शिवाजी की आयु बढ़ती गई, त्यों-त्यों वे हिन्दू जाति की परतंत्रता का अनुभव कर क्षुब्ध होते चले गए। जब वे यवनों द्वारा हिन्दू देवालयों को नष्ट-भ्रष्ट किए जाने तथा अपने पूर्वजों के स्मारकों को तोड़े जाने अथवा अपवित्र किये जाने के सम्बन्ध में विचार करते थे तो उनका हृदय टूक-टूक होने लगता था।

छत्रपति शिवाजी की वीर माता जीजाबाई ने जो एक धर्म परायण हिन्दू महिला थीं, बाल्यावस्था में ही उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, योगेश्वर कृष्ण, धुनर्धर अर्जुन, महाबली भीम, बालवीर अभिमन्यु तथा सत्यवादी हरिश्चन्द्र की सत्कीर्तियों से परिपूर्ण गौरव गाथाएं सुना-सुना कर उनका हृदय महान हिन्दू जाति के विगत गौरव से परिपूरित कर दिया था। जिसके फलस्वरूप उनके हृदय-गगन में उसी प्रकार के उत्साह शौर्य और आशा के सघन धन उमड़ने-घुमड़ने लग गये थे।

प्रत्येक धर्म प्राण हिन्दू के मुख से, जिसको देवी-देवताओं के प्रति अडिग विश्वास था और जिसके हृदय में भगवान श्रीकृष्ण की यह अटल प्रतिज्ञा सदैव गुंजित होती रहती थी कि वे उनसे कदापि विमुख न होंगे, यह ही वाक्य निकलता था कि हिन्दू जगत की रक्षा हेतु कोई-न-कोई उद्धारक अवश्यमेव अवतीर्ण होगा। शिवाजी के परिवार में भी यह धारणा परम्परागत ही बद्धमूल थी। अतः उनके हृदय में भी इस बात का अडिग विश्वास रोपित हो गया कि यह मेरा ही कुल है जिसको ऐसे राष्ट्रोद्धारक महापुरुष के आविर्भाव का सौभाग्य प्राप्त होगा। क्या यह संभव है कि ये सब भविष्यवाणियाँ शिवाजी के अवतीर्ण होने की ही पूर्व सूचनाएँ थीं? क्या शिवाजी को अपने आप में ही राष्ट्र द्वारा चुने हुए नेता अथवा स्वयं को भगवान का वांछित साधन समझने की कल्पना

उदित हो गई थी, यह बात सही हो अथवा न हो किन्तु यह तो एक निश्चित तथ्य है कि शिवाजी को अपना कार्यक्षेत्र बाल्यावस्था से ही अपने सामने दृष्टिगोचर होने लग गया था।

क्षणिक सुखों की प्राप्ति हेतु अपनी पावन आत्मा को विदेशियों के हाथ नीलाम चढ़ाकर जीवन को दासता के कलंकित बन्धनों में जकड़ने तथा हास्यास्पद बनाने के लिए वीरवर शिवाजी कदापि तैयार न थे। वे उन विदेशियों की चरण वन्दना कर भौतिक सुखों का अभिनन्दन करने हेतु प्रस्तुत न थे जिन्होंने उनकी जाति के राज्य सिंहासन को खण्ड-खण्डित कर उसके धर्मग्रंथों को तथा धर्म-मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट करना ही अपना लक्ष्य घोषित कर रखा था। इसके विपरीत उनके अन्तरतम में अपना सर्वस्व समर्पित करके भी अपने पूर्वजों की गौरव गरिमा की रक्षा करने की महान् विजगीषु भावना हिलोरें ले रही थी। अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कठिनाइयों के पर्वतों से टकराना भी उन्हें खेल-सा लगता था। समय पड़ने पर हिन्दू जाति के गौरव की रक्षा हेतु अपना जीवन प्रसून भी उसके चरणों में समर्पित कर देने की पुनीत आकांक्षा सदैव उनके मानस पटल पर प्रवाहित होती रही थी। उनकी यह दृढ़ आकांक्षा थी कि यदि रणक्षेत्र में विजयलक्ष्मी ने उनके चरण पखारे तो एक-न एक दिन महान पराक्रमी विक्रमादित्य तथा शालिवाहन के समान ही महत्त्व-पूर्ण तथा गौरवशाली राज्य की संस्थापना करेंगे जो हिन्दू जाति के सुख-स्वप्नों को वास्तविक स्वरूप प्रदान करेगा तथा जिससे ऋषि-मुनियों की अभिलाषित प्रार्थनाएँ भी पूर्ण हो सकेंगी।

२

हिन्दवी स्वराज्य

[शिवाजी का पत्र]

१६४५ ई० की एक घटना है कि एक स्वदेशी व्यक्ति द्वारा ही शिवाजी की निन्दा की गई थी। उसने उन पर आरोप लगाया था कि वे राजद्रोही हो गये हैं।

उसको उत्तर देते हुए शिवाजी ने उपरोक्त आरोप का खण्डन करते हुए लिखा था कि वह बीजापुर के शाह के विरुद्ध विद्रोह नहीं कर रहे हैं। उन्होंने उस व्यक्ति को कर्तव्य का स्मरण कराते हुए कहा था कि मैंने केवल ईश्वर में अपने दृढ़ विश्वास की प्रतिज्ञा ग्रहण की है किसी शाह के प्रति विश्वास रखने की नहीं। धर्म पर किसी भी शासक का अधिकार नहीं है। क्या आपने अपने संरक्षक दादा कोणदेव तथा मित्र मण्डल सहित सह्याद्रि पर्वत शिखर पर परम पिता परमात्मा को साक्षी देकर यह शपथ ग्रहण नहीं की थी कि हिन्दुस्थान में हिन्दू पद पादशाही स्थापित करने के लिए हम लोग प्राणप्रण सहित जीवन की अन्तिम घड़ी तक संघर्षरत रहेंगे? इस समय प्रभु का हम पर आशीर्वाद है और हम अवश्य ही सफलता अर्जित करेंगे।

महाराज शिवाजी के श्रीमुख से उच्चारित—"हिन्दवी स्वराज्य" के पावन शब्दों ने इस महान् धार्मिक आन्दोलन को जितने अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया उतना अन्य किसी भी माध्यम से हो पाना सम्भव नहीं था। यह आन्दोलन महाराष्ट्र देशवासियों को, उनके जीवन तथा क्रिया-कलापों को १०० से भी अधिक वर्ष तक आन्दोलित करते हुए प्रोत्साहन प्रदान करता रहा।

यह आन्दोलन मूलतः ही कोई व्यक्तिगत अथवा प्रान्तीय आन्दोलन

न होकर एक देश-व्यापी आन्दोलन था जिसका सुनिर्धारित लक्ष्य था हिन्दू जाति के स्वत्व एवं धर्म की रक्षा तथा भारत भूमि से विदेशियों के साम्राज्य का समूलोच्छेदन कर एक सुदृढ़ तथा सुविशाल हिन्दू साम्राज्य की स्थापना।

केवल वीरश्रेष्ठ शिवाजी ही इस देशभक्ति की पावन भावना से प्रेरित नहीं थे अपितु उनके सभी मित्रों तथा महाराष्ट्रवासियों के हृदय में भी इस भावना ने किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही स्थान पाया था। उनके हृदय को भी वह उसी भाँति प्रोत्साहित कर रही थी जिस प्रकार शिवाजी के मन को। इसी कारण शिवाजी महाराज जहाँ कहीं भी पधारते थे जनसाधारण द्वारा भी उनका स्वागत एक प्रसिद्ध देश उद्धारक तथा जन-नेता के रूप में पलक-पाँवड़े बिछाकर ही किया जाता था।

परन्तु इन दिनों में भी कुछ लोग मुसलमानों के ही पक्षपाती बन कर उनको सहयोग दे रहे थे। इस प्रवृत्ति के कई कारण थे। प्रथम यह कि बहुत से व्यक्तियों के हृदयों पर मुसलमानों का आतंक व्याप्त था, और उनकी यह धारणा थी कि मराठों का आन्दोलन सम्राट् की सत्ता के मुकाबले में कदापि सफल न हो सकेगा। दूसरा कारण यह था कि कतिपय मिथ्या अभिमान से प्रेरित तथा अपने-आपको महान् विचारवान समझने वाले व्यक्ति शिवाजी के तुल्य एक अनुभवहीन नवयुवक को अपने नेता के रूप में स्वीकार करके उसके नेतृत्व में कार्य करना अपनी प्रतिष्ठा के सर्वथा प्रतिकूल समझते थे। इनके अतिरिक्त कतिपय ऐसे स्वार्थ से अन्धे हुए लोग भी समाज में विद्यमान थे जो अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु यवन सत्ता को हिन्दुस्थान में चिरस्थायी स्वरूप देना ही नितान्त आवश्यक मानते थे।

वस्तुतः छत्रपति शिवाजी केवल महाराष्ट्र निवासियों के ही नेता नहीं थे, अपितु वे दक्षिण से उत्तर-भारत तक की हिन्दू जनता की आकांक्षाओं को मूर्तरूप देने के लिए संघर्षरत एक शूरवीर और पराक्रमी जन-

नायक भी समझे जाते थे। हिन्दू जनता के हृदय में आशा की एक ऐसी किरण प्रस्फुटित हो गई थी जिसके आलोक में उसे यह दिखाई देने लग गया था कि शिवाजी ही वह महान् पराक्रमी पुरुष है जिसके हाथों हिन्दू जाति और हिन्दुस्थान की पराधीनता का पाश टूक-टूक होकर रहेगा।

यदि उस समय के इतिहास एवं साहित्य का हम अवलोकन करें तो हमें ऐसी अनेक घटनाओं का वर्णन प्राप्त हो जायगा जिनके अध्ययन से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जायगा कि जनसाधारण शिवाजी महाराज, समर्थ गुरु रामदासजी एवं उनके वंशजों तथा सहयोगियों के प्रति उनके महान आदर्श, उद्देश्यों तथा क्रिया-कलापों के कारण नितान्त श्रद्धा और आस्था रखते थे। उस समय सभी प्रान्तों की जनता की यह प्रबल और पुनीत आकांक्षा थी और वे इस दिशा में प्रयत्नशील भी रहते थे कि मराठा सेना छत्रपति शिवाजी के नेतृत्व में उनके नगर में पदार्पण करे। वे उस शुभ घड़ी की अपलक प्रतीक्षा करते रहते थे कि कब यवनों की पताका को जीर्ण-शीर्ण कर उसके स्थान पर महाराष्ट्र का परम पवित्र भगवा ध्वज वहाँ फहराता हुआ दृष्टिगोचर हो।

उपरोक्त कथन की पुष्टि में हम एक हृदय विदारक पत्र की साक्षी प्रस्तुत करते हैं जो सवनूर की हिन्दू जनता की ओर से छत्रपति शिवाजी महाराज के नाम प्रेषित किया गया था। यह पत्र वहाँ के हिन्दुओं ने शिवाजी को उस समय लिखा था जब उस अंचल के हिन्दू यवनों के अत्याचारों से दुखित होकर एक क्षण के लिए भी उस विदेशी शासन को सहन करने को तैयार नहीं थे। इस ऐतिहासिक पत्र में उस क्षेत्र के हिन्दुओं ने अत्याचारी यवनों के अन्यायी शासन में हिन्दू जनता पर किये जाने वाले अन्यायों और अत्याचारों का रोमांचकारी नग्न चित्रण करते हुए लिखा था—"हम लोग निर्दयी विधर्मियों के अत्याचारों से अत्यन्त पीड़ित हैं। हमारे धर्म और मान्यताओं को उनके द्वारा पद-दलित किया जा रहा है और धूल-धूसरित किया जा रहा है। अतएव हे हिन्दू धर्म

रक्षक, दुष्टों का दमन करने में सक्षम तथा विदेशी राज्य को धूल-धूसरित कर देने वाले शिवाजी महाराज ! आइये, अतिशीघ्र आइये । हम लोग इस समय सेनापति युसुफ तथा उसकी सेना के अत्याचारों के आहार बने हुए हैं। हमारा धन जन सब कुछ इन्हीं के हाथों में है। इस अन्यायी शासन ने हमें हमारे घरों में ही बन्दी बनाकर रख दिया है। हमारे गृह-द्वारों पर पहरे बैठा दिये गये हैं। हमारा अन्न-जल भी रोक कर हमें भूखों मार डालने की दुरभिसन्धि में विदेशी सेनापति संलग्न है। इसको विदित हो गया है कि हमारी सहानुभूति आपके साथ है और आपको निमन्त्रित करने की चेष्टा में भी हम संलग्न हैं। अतः हम दीन-हीन हिन्दू जनों पर कृपादृष्टि प्रदर्शित कर आप रात्रि को भी दिन समझें और जितना शीघ्र सम्भव हो यहाँ आकर काल के कराल गाल से हमें मुक्ति दिलाने की अनुकम्पा करें।''

महाराष्ट्र की सीमा के बाहर निवास करने वाली विदेशी सत्ता से संत्रस्त हिन्दू जनता के इस आर्त्तनाद और कातर पुकार ने शिवाजी के हृदय को कितना आन्दोलित किया, यह लिखना व्यर्थ-सा ही है। क्योंकि जिस महापुरुष के जीवन का क्षण-क्षण और रक्त का कण-कण ही हिन्दू धर्म की रक्षा हेतु समर्पित था, वह भला ऐसे अवसर पर किस भाँति मौन दर्शक बन कर रह सकता था। अविलम्ब मराठा सेना के सुप्रसिद्ध सेनापति हम्मीर राव सदल-बल वहाँ पहुंचे और उन्होंने बीजा-पुर की यवन सेना को एक नहीं कई युद्ध-स्थलों में पूर्णतः पराजित कर अन्याय दमन और अत्याचारों के कुचक्रों में पिसते हुए हिन्दुओं को अन्यायी यवनों से मुक्ति प्रदान कर मलेच्छ शासन की अन्त्येष्टि कर दी।

१६ वर्ष की अल्पायु में ही शिवाजी ने पूना और सूपा की छोटी जागीरों को समुचित प्रशासन-व्यवस्था भी प्रदान की एवं अपने अधीन १२ मावलो (जिलों) को भी पूर्ण रूपेण संगठित कर दिया। तदनन्तर अपने कतिपय चुने हुए प्रमुख वीर सहयोगियों की सहायता से शिवाजी ने

उस प्रदेश के तोरण एवं अन्य सुप्रसिद्ध दुर्गों पर धावा बोलकर प्रचण्ड शौर्य और निपुणता के साथ शत्रु सैन्य को समरभूमि में परास्त कर उन पर अपनी विजय पताका फहरा दी। उन्होंने सेनापति अफ़जलखां के नेतृत्व में युद्धरत बीजापुर की सेनाओं को पूर्णतः पराजित कर अपनी विजय दुन्दुभि बजा दी और अब मुगलसत्ता से खुलकर दो-दो हाथ करने आरम्भ कर दिये।

छत्रपति अपने रणकौशल और चातुर्य का परिचय देते हुए कभी-कभी पीछे हट जाते थे, कभी सहसा ही शत्रु सैन्य पर चढ़ दौड़ते थे। वे अपनी इस नवीन रणनीति के बल पर ही मुगल सरदारों तथा सेनापतियों को युद्ध-स्थल में पराजित करते रहे और पीछे हटाते रहे। युद्धस्थल में एक के बाद मिलने वाली दूसरी पराजय ने शत्रु दलों का साहस तोड़ दिया एवं उनके मन में ऐसा भय और आतंक व्याप्त हो गया कि अन्ततः मुगल सम्राट् औरंगजेब ने भी भय-त्रस्त होकर कुछ समय के लिए युद्ध-विराम में ही बुद्धिमत्ता देखी। उसने तदुपरान्त अपने अजेय शत्रु शिवाजी को प्रलोभनों के भ्रमजाल में फांसने का फैसला किया। परन्तु नौरंग औरंगजेब की चालों को सौरंग सपूत शिवाजी भली-भांति समझते थे अतः उसकी कुटिलता में फँसने हेतु तत्पर नहीं थे। उन्होंने 'शठे शाठ्यम् समाचरेत' के सिद्धान्त का अनुसरण और अनुकरण करते हुए शत्रु के कपट जाल को तार-तार कर दिखाया और उसकी आशा को निराशा में परिणत कर दिया। वे आगरा दुर्ग के कारागार से सुनियोजित योजना के द्वारा सकुशल निकलने में सफल सिद्ध हुए और रायगढ़ दुर्ग में पहुँचकर उन्होंने पुनः मुगलों से तुमुल संग्राम का सिंहनाद कर दिया। युद्ध का क्रम पुनः प्रारम्भ हुआ और सिंहगढ़ दुर्ग पर पुनः हिन्दुत्व की स्वर्ण गैरिक पताका फहरा उठी। शिवाजी के कई अन्य सेनापतियों ने भी मुसलमान सैनिकों के बढ़ते हुए हौसले परास्त कर दिये और यश अर्जित कर दिखाया। अन्त में शिवाजी महाराज ने अपना राज्याभिषेक कराकर हिन्दू-धर्म और

सभ्यता का संरक्षक अर्थात् छत्रपति बनने में ही स्वहित के दर्शन किये। वस्तुतः विजयनगर के वैभवशाली हिन्दू साम्राज्य के पतन के उपरान्त किसी भी हिन्दू शासक में यह साहस नहीं हो पाया था कि वह स्वतन्त्र छत्रपति के रूप में राजमुकुट से अपने शीश को सुशोभित कर सके। शिवाजी द्वारा किये गये इस राज्याभिषेक ने मुसलमानी धाक और दर्प को चूर्ण-चूर्ण कर दिया। इसके पश्चात् जितने भी युद्ध हुए उसमें युद्ध की देवी ने विजयमाला हिन्दुओं के गले में डाली और मुसलमानों के भाग्य में लिखी गई केवल पराजय। कहीं भी वीर हिन्दुओं के समक्ष यवन दल जम कर युद्ध करने का साहस न दिखा सका।

उपरोक्त घटनाएँ स्वयं उनको सम्पन्न करने वालों के लिए भी आश्चर्य का ही कारण बन रही थीं। हिन्दू-धर्म की स्वतन्त्रता के स्वप्न-दृष्टा तथा भविष्यवक्ता पूज्यपाद स्वामी रामदासजी ने बड़ी प्रसन्नता सहित तथा गौरव का अनुभव करते हुए एक स्वप्न के सम्बन्ध में यह कहा है कि "जो कुछ मैंने स्वप्नावस्था मे देखा था उसकी पूर्ति तो पहले ही हो चुकी थी। किन्तु जिस स्वप्न को मैंने अन्धकारपूर्ण रात्रि में देखा था वह भी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ। अर्थात् भारतवर्ष की निद्रा भंग हो गई और लोगों ने अपने-आपको पहचानना प्रारम्भ कर दिया है। जो भारत से घृणा करते थे तथा ईश्वर के प्रति अपराध करते थे उन्हें सुदृढ़ हाथों से कुचल दिया गया। वस्तुतः भारत पावन और भाग्यवान देश है। क्योंकि भारत के ध्येय को ही प्रभु ने अपने ध्येय के रूप में स्वीकार कर लिया है। इसलिए औरंगजेब का पतन अवश्यमेव होगा। जो लोग सिंहासन पर विराजमान थे वे सिंहासन-च्युत हो गये तथा जो किसी समय राज्य-सिंहासन से उतार दिये गये थे वे उस पर पुनः सुशोभित हो गये। मानवजन का श्रेय, शब्दों की अपेक्षा उनके क्रिया-कलापों से ही सुविदित होता है। वस्तुतः भारतभूमि एक पवित्र पुण्य क्षेत्र है, इसके धर्म की रक्षा का कार्य अब राजधर्म द्वारा सम्पन्न होगा। अब राक्षसी शक्ति

और सत्ता द्वारा देश का पावन जल अपवित्र नहीं होता रहेगा और हम एक बार पुनः इस पुण्यभूमि में यज्ञ पूजनादि कार्य सम्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकेंगे।''

इस धर्म युद्ध का प्रारम्भ ही परमात्मा के नाम पर किया गया था इस उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए जब शिवाजी एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना करने के अपने महान् सदुद्देश्य में सफल सिद्ध हो गये तो उन्होंने इस प्रभुप्रदत्त राज्य को अपने आध्यात्मिक तथा राजनैतिक पथ-प्रदर्शक गुरुदेव समर्थ स्वामी रामदास के श्री चरणों में श्रद्धासहित समर्पित कर दिया। किन्तु समर्थ गुरु रामदासजी ने भी उसी ध्येय का स्मरण कर यह राज्य अपने सुयोग्य शिष्य शिवाजी को मनुष्य जाति के उपकार तथा ईश्वरीय धर्म की रक्षा हेतु प्रसाद रूप में प्रदान कर दिया और कहा—

राज्य शिवाजी चें नव्हे—राज्य धर्माचें आहे। अर्थात् राज्य शिवाजी का नहीं अपितु धर्म का है।

छत्रपति शिवाजी से लेकर बाजीराव पर्यन्त मराठा वीरों के प्रति सम्पूर्ण हिन्दुस्थान के हिन्दुओं में कितनी श्रद्धा थी, वे इन पर कितना गर्व अनुभव करते थे इसकी एक झाँकी "छत्र प्रकाश" नामक वीररस-पूर्ण ग्रंथ के अवलोकन से ही मिल जाती है। यद्यपि इस ग्रंथ का लेखक एक बुन्देलखण्ड निवासी हिन्दू था किन्तु उसने महाराष्ट्र के सुदूर अंचल में हिन्दुत्व की कीर्ति पताका फहराने वाले इन हिन्दू वीरों का यशोगान उन्मुक्त कंठ से गाया है। राजकवि "भूषण" ने भी शिव छत्रपति के प्रचण्ड शौर्य और वीरता की गाथा जिस ओजस्विनी कविता में प्रस्तुत की है उससे भी यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि महाराष्ट्रवासी न होने पर भी शिवाजी के चरणों में उनकी कितनी अनुरक्ति और भक्ति थी। मात्र इतना ही नहीं अपितु कवि भूषण ने तो उत्तर से दक्षिण पर्यन्त समग्र देश में घूम-घूम कर शिवाजी का यशोगान और महान् कृत्यों

की गाथा से सम्पूर्ण हिन्दू जाति में जागृति का शंखनाद फूँका था। निराश हिन्दू-जनों के हृदयों में आशा की यह नई ज्योति प्रज्वलित की थी कि छत्रपति शिवाजी महाराज हिन्दू-धर्म के रक्षक हैं। यही कारण था कि सभी भारतीय उनकी कृतियों को नितान्त श्रद्धा भावना सहित देखते थे। स्थानाभाव के कारण उनकी कुछ पंक्तियाँ मात्र ही नीचे प्रस्तुत की जा रही हैं:—

कासीहू की कला जाती, मथुरा मसीत होती।
सिवाजी न होतो तो, सुनति होत सब की ॥
राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
स्मृति और पुराण राखे, वेदि विधि सुनी मैं ॥
राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो, राख्यो गुनगुनी में ॥
"भूषण" सुकवि जीति हद्द मरहठन की,
देस देस कीरति, बखानी तब सुनी मैं ॥
साहि के सपूत, सिवराज समसेर-तेरी,
दिल्ली दल दाबिके, दिवाल राखी दुनी मैं ॥

इस भाँति हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू-पद-पादशाही के नाम पर यश का अर्जन करने वाला जो युद्ध संगीत और आह्वान् सह्याद्रि शैलमाला पर महाराष्ट्रीय दुन्दभि से प्रसारित हुआ था उसने भारतभूमि के एक छोर से दूसरे छोर तक निवास करने वाले सभी हिन्दू जनों के हृदयों में उत्साह की धारा प्रवाहित कर दी। उन्हें अनुभव होने लगा कि मराठे जिस ध्येय से अनुप्राणित होकर अपने प्राण समर्पित कर रहे हैं उसका एकमात्र उद्देश्य भारतवासियों को विदेशी दासत्व के बन्धनों से मुक्ति प्रदान कराना ही है।

३

छत्रपति के उत्तराधिकारी

१६८० ई० में छत्रपति महाराज शिवाजी का निधन हुआ और १६८१ ई० में समर्थ गुरु रामदास का महाप्रयाण। यह सत्य है कि इन दोनों महापुरुषों ने अपने जीवनकाल में हिन्दू-पद-पादशाही के लिए किये गए कठोर परिश्रम और ध्येय निष्ठा के बल पर बहुत कुछ अर्जित कर लिया था किन्तु उससे भी कुछ अधिक की प्राप्ति अवशिष्ट थी। ऐसे अवसर पर उनका निधन इस आन्दोलन के लिए एक भारी क्षति थी जो उनके, संरक्षण में ही पल्लवित और कुसुमित हुआ था। किन्तु जो भी हो "इश्वरेच्छा गरीयसी", प्रभु की इच्छा ही सर्वोपरि है।

यद्यपि इन दोनों महापुरुषों की सांसारिक जीवन यात्रा सम्पूर्ण हो गई थी, किन्तु इन्होंने जिस महान् आन्दोलन का सूत्रपात किया था वह किसी भी अंश में घटा नहीं, क्योंकि इस आन्दोलन के मूल में व्यक्ति-निष्ठा का नहीं राष्ट्र के प्रति सर्वस्व समर्पण की भावना का तत्त्व विद्यमान था। अतः यह आन्दोलन समग्र राष्ट्र जीवन से ही संबद्ध हो गया। यह है मराठों के इतिहास का एक वैशिष्ठ्य, जिसे हम उन पाठकों के हृदय पर अंकित करने का प्रयास कर रहे हैं जो महाराष्ट्र प्रदेश में निवास नहीं करते। छत्रपति शिवाजी एवं उनके महान् गुरु समर्थ स्वामी रामदास के जीवन चरित्र का थोड़ा-बहुत परिचय सभी भारतवासियों को प्राप्त है। किन्तु महाराष्ट्र के इतिहास के पिछले अंश के सम्बन्ध में या तो वे सर्वथा अनभिज्ञ हैं अथवा यदि उन्हें थोड़ा-बहुत कुछ पता भी है तो वह उसे निराधार अथवा अनिश्चित ही मानते हैं। सामान्यतः भारत अथवा हिन्दू इतिहास के पाठकों में यह भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है कि छत्रपति शिवाजी और समर्थ स्वामी रामदास ही महाराष्ट्र के प्रथम और

अन्तिम देश-भक्त थ जिनके हृदय में भारतवर्ष में हिन्दू पद-पादशाही की प्रतिष्ठा करने की आकांक्षा हिलोरें ले रही थीं और जिन्होंने हिन्दुत्व की विजय वैजयन्ती समग्र हिन्दुस्थान में फहराने हेतु प्रचण्ड शौर्य, त्याग एवं साहस का उदाहरण प्रस्तुत किया था। इतना ही नहीं महाराष्ट्र के सम्बन्ध में एक अन्य भ्रान्त धारणा भी जन-साधारण में व्याप्त है कि शिवाजी के प्रादुर्भाव के साथ ही महाराष्ट्र के इतिहास की नींव पड़ी थी और उनके महाप्रयाण के उपरान्त ही उसकी समाप्ति भी हो गई। उनकी दृष्टि में शिवाजी के निधन के उपरान्त अशान्ति का ही साम्राज्य रहा। जिसमें स्वार्थ भावना से प्रेरित व्यक्ति और आचारहीन लोग लूट मार करने हेतु दलों का गठन कर यत्र-तत्र आक्रमण की दिशा में प्रवृत्त रहे और उन्होंने देश को सर्वनाश के पथ पर धकेल दिया। वस्तुतः यह दोनों ही धारणाएँ सर्वथा निराधार और निर्मूल हैं। सत्य तो यह है कि छत्रपति शिवाजी महाराज और स्वामी रामदास की महानता का वास्तविक प्रमाण तो यही है कि उनके निधन के उपरान्त भी उनके द्वारा प्रारम्भ किया गया यह महान् आन्दोलन सुदीर्घ काल तक चलता ही नहीं रहा अपितु महाराष्ट्र के सुयोग्य देश-भक्त, प्रशासक और राष्ट्रदेव के श्री चरणों में सर्वस्व समर्पण करने की आकांक्षा रखने वाले महावीर सरदारों की एक अटूट श्रृंखला अवतरित होती रही। वे उन महापुरुषों द्वारा प्रणीत-पुनीत राष्ट्र भावना को हृदयंगम कर अपनी सम्पूर्ण शक्ति सहित हिन्दू-पद-पादशाही की स्थापनार्थ सचेष्ट एवं सक्रिय रहे तथा अपने जीवन प्रसून राष्ट्र-धर्म की स्थापना के पवित्र यज्ञ में समर्पित करते रहे। उन्होंने अपने कार्यों के बल पर ऐसे शानदार परिणाम प्रस्तुत किये कि उन्हें देखकर शिवाजी भी आश्चर्यचकित हुए बिना न रह पाते।

जिस समय शिवाजी महाराज का राज्याभिषेक हुआ, उस समय तो उनके अधिकार में एक छोटा-सा प्रदेश मात्र ही था, किन्तु उस परिस्थिति में तो वह भी एक महान् और गौरवपूर्ण घटना समझी गई थी। परन्तु

यदि हम गम्भीरता सहित विचार करें तो हमें अनुभव होगा कि महाराष्ट्र के वास्तविक गौरव की स्थापना तो उसी दिन साकार रूप ग्रहण कर पाई जिस दिन शिवाजी महाराज की पुनीत परम्परा को आगे बढ़ाते हुए महान सेनापति राघोबा दादाजी के नेतृत्व में महाराष्ट्र की विजय-वाहिनी ने लाहौर के राजमार्गों में धूमधाम से पथ-संचलन किया और फिर जब उनके महाबली अश्वों ने उछलते-कूदते, अपनी टापों से धरा-गगन में धूल के बादल उठाते हुए सिन्धुसरिता के पावन तट पर पहुँच कर अपनी प्यास बुझाई। वही दिन वास्तव में गौरवपूर्ण दिवस था जब एक महादेश को राघोबा ने अपनी छत्रछाया में लाकर अभयदान दिया।

जब शिवाजी इस संसार से विदा हुए तब भी मुगल सम्राट् औरंगजेब जीवित ही था। उसके हृदय में हिन्दू धर्म और जाति के प्रति भी घृणा की भावना यथापूर्व ही विद्यमान थी। जिन घृणा की भावनाओं का समूलोच्छेद करने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर शिवाजी आजन्म सुख की नींद नहीं सो पाये थे; वह उनके निधन के उपरान्त भी मिट रहीं पाई थी। परन्तु शिवाजी का उत्तराधिकार ग्रहण करने वाली महाराष्ट्र जाति ने अपने पूर्वजों पर विदेशियों और विधर्मियों द्वारा किये गये अत्याचारों का बदला ब्याज सहित चुका लिया। औरंगजेब को हिन्दुओं के प्रति उसके मन में व्याप्त घृणा की भावनाओं सहित अहमदनगर की एक कब्र में सुला दिया गया तथा काल के कराल गाल में जाते हुए हिन्दू धर्म की मुक्ति का उद्देश्य भी पूर्ण हो गया। तनिक विचार कीजिए कि यदि ऐसा न होता तो जिस राज्य का बीज शिवाजी ने रायगढ़ के दुर्ग की धरती में बोया था वह एक दिन इतना विशाल वट वृक्ष किस भाँति बन पाता, कि उसकी शीतल छाया में एक दिन विशाल हिन्दू जाति शरण ग्रहण कर पाती। यदि ऐसा न होता तो यह बीज निरर्थक भूल की धूल में ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया होता और कदापि फल-फूल न पाता। शिवाजी

महाराज ने तो केवल रायगढ़ पर ही शासन किया, परन्तु उनके उत्तराधिकारियों के लिए भारत की प्राचीन राजधानी दिल्ली के राज्यसिंहासन पर अधिकार करने के लक्ष्य के सन्निकट पहुँच पाना कैसे संभव होता ? यह कहना भी सर्वांश में सत्य ही है कि यदि धन्नाजी, सन्ताजी, बालाजी, बाजीराव, भाऊ साहब मल्हार राव, दत्ताजी, माधवराव, परशुराम पंत तथा बापूजी सरीखे महान् व्यक्ति क्रमशः अपना गर्वोन्नत भाल न उठाते, रणचण्डी का आवाहन कर अपने रणकौशल के अनुपम जौहर न दिखाते तथा देश और धर्म की पावन वेदी पर अपना बलिदान न चढ़ाते तो शिवाजी महाराज की आकांक्षाएँ भी कदापि पूर्ण न हो पातीं। उनका मनोरथ भी अपूर्ण ही रह जाता और जो कुछ सफलता उन्होंने अपने जीवन में अर्जित की थी वह भी जन-साधारण में उतनी ही सामान्य मानी जाती जितनी सामान्य पटवर्धन तथा बुन्देला राज्य के संस्थापकों की मानी जाती हैं। फिर हमें हिन्दू इतिहास में छत्रपति शिवाजी एक अनुपम प्रतिष्ठापूर्ण और गौरवशाली पद पर आरूढ़ दिखाई न देते। शिवाजी को एक अपूर्व शक्तिशाली पुरुष बनाने में वस्तुतः उनके सजातीय लोगों द्वारा दिया गया आजन्म सहयोग ही प्रमुख कारण था। वे सदैव ही शिवाजी के सहयोग हेतु तत्पर रहे तथा जब शिवाजी कार्यक्षेत्र में अवतरित हुए तो जिस कार्य को, उनके कार्य को सफ़ल बनाने में भी वे प्राण-पण सहित जुट गये। वे अपना जीवन देकर भी शिवाजी की आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु संघर्षरत रहे। इस प्रकार हमें अन्ततः यह स्वीकार करना ही होगा कि महाराष्ट्र का इतिहास शिवाजी के निधन के उपरान्त समाप्त नहीं हुआ अपितु एक प्रकार से आरम्भ ही होता है। शिवाजी ने अपने जीवन काल में एक छोटे से प्रदेश पर स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की जो आधारशिला रखी थी उस पर हिन्दू साम्राज्य का विशाल वट वृक्ष खड़ा करने का श्रेय तो वस्तुतः उनके उत्तराधिकारियों को ही प्राप्त हुआ था। यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगा कि महाराष्ट्र के वीर रस-प्रधान इति-

ह्रास का प्रारम्भ वस्तुतः उसी समय हुआ जबकि छत्रपति शिवाजी हिन्दू जाति में महान् शक्तियों का प्रादुर्भाव कराने के उपरान्त परलोकगामी हो चुके थे। ये शक्तियाँ उनके संसार से विदा लेने के उपरान्त बड़ी प्रचण्ड गति एवं वेग से उनके स्वप्नों को साकार रूप प्रदान करने की दिशा में नितान्त सफलता सहित बढ़ती रहीं।

४

धर्म के लिए जीवन दो

"धर्मासाठीं मरावें"—रामदास

महाराष्ट्र की वीरभूमि में महाराष्ट्र धर्म और उस धर्म के द्वारा हिन्दू जाति के पुनरुद्धार के आन्दोलन में जिस नवीन शक्ति का प्रादुर्भाव और नव चैतन्य का साक्षात्कार हुआ था, उसके सम्बन्ध में औरंगजेब ने जो अनुमान किया था वह शत-प्रतिशत असत्य ही सिद्ध हुआ। औरंगजेब की यह कल्पना सर्वथा निराधार ही प्रमाणित हुई कि जिस भाँति अनेकों आन्दोलन अपने नेताओं के आँख मूंदते ही बीती बातें बन कर रह गये, उसी भाँति शिवाजी के देहावसान के उपरान्त उनके द्वारा प्रारम्भ किया गया आन्दोलन भी दम तोड़ देगा। उसकी यह कल्पना इस आधार पर भी बलवती हुई थी कि शिवाजी के उत्तरदायित्व को उनके अयोग्य पुत्र सम्भाजी ने ग्रहण किया है। वह शिवाजी के निधन और सम्भाजी के सत्ताग्रहण करने को एक अनुपम अवसर समझ कर उसे अपने हाथ से खोने के लिए तैयार नहीं था। काबुल से लेकर बंगाल तक फैले हुए विशाल साम्राज्य और अपार जन, धन और विस्तृत साधनों का वह स्वामी था। उसने उचित अवसर समझ तीन लाख सैनिकों की प्रचण्ड बाहिनी को लेकर दक्षिण पर धावा बोल दिया। शिवाजी के जीवन काल में भी उसने कभी इतनी विशाल सेना को दक्षिण भारत पर नहीं चढ़ाया था। औरंगजेब ने अनुमान तो वस्तुतः सही ही लगाया था, क्योंकि सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य की यह सुसंगठित सेना मराठों के असंगठित राज्य से १० गुना अधिक विशाल राज्य को भी सहसा ही धूल में मिलाकर रख सकती थी। मुगलों की इस प्रचण्ड बाहिनी से लोहा लेने के लिए मराठों को मिला भी तो एक ऐसा नेता मिला जो कि एक महान्

राष्ट्र का पथ-प्रदर्शक होने की दृष्टि से सर्वथा अयोग्य ही था। सम्भा अयोग्य तो था ही, साथ ही था दुष्ट प्रकृति भी। किन्तु उपरोक्त सभी अवगुणों के होते हुए भी सम्भाजी ने जीवन की अन्तिम घड़ी तक जिस प्रकार की निर्भीकता का उदाहरण प्रस्तुत किया उससे उसके सम्पूर्ण अवगुणों पर आवरण पड़ गया और वह शिवाजी के सत्पुत्र के रूप में हिन्दू आन्दोलन का एक महान पुरोधा ही दिखाई दिया।

जिस समय सम्भाजी औरंगजेब के राज दरबार में एक विवश बन्दी के रूप में उपस्थित किया गया और विधर्मियों ने उसे इस्लाम ग्रहण करने हेतु विवश करने में कोई हथकण्डा बाकी न उठा रखा तो ऐसा लगता था कि उस जैसी बुरी प्रकृति वाला व्यक्ति मृत्यु से भयभीत होकर अपने धर्म को तिलांजलि देने में क्षण भर का विलम्ब नहीं करेगा, किन्तु धन्य है सम्भाजी और उसका सुदृढ़ विश्वास एवं हृदय, कि मृत्यु के साक्षात् सम्मुख उपस्थित होने पर भी उसने भरे दरबार में शत्रुओं को मुँह तोड़ प्रत्युत्तर दिया और धर्म त्यागने के घृणित, कलंकित, कुकृत्य की अपेक्षा हँसते-हँसते मृत्यु का सप्रेम आलिंगन कर लिया। उसने अपने पूर्वजों की प्रखर धार्मिक आस्थाओं और मान्यताओं का हार्दिक समर्थन करते हुए अन्यायी यवनों के ज्ञान और उनके सिद्धान्तों की भर्त्सना करने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं किया। उसके इस अनुपम त्याग और बलिदान से औरंगजेब के सम्मुख भी यह महान सत्य स्वयमेव उपस्थित हो गया कि मराठा सिंह पुरुष क्षुद्र श्वानों के तुल्य दासता को कदापि स्वीकार नहीं कर सकता। अन्ततः अपने सारे प्रयत्नों की असफलता के उपरान्त औरंगजेब ने आदेश दे दिया कि इस काफिर की जान ले ली जाए। किन्तु औरंगजेब की यह अन्तिम धमकी भी धर्मवीर सम्भाजी को हिन्दुत्व के पुनीत पथ से विचलित नहीं कर सकी। अन्यायियों ने तप्त चिमटों से सम्भाजी के नेत्र निकाल लिए, उनकी जिह्वा भी अत्याचारियों ने टूक-टूक कर डाली, किन्तु इतने पर भी

शिवाजी का अंश शाहजी भय से प्रकम्पित न हुआ। अन्त में उसके पंच-भौतिक शरीर को भी खण्ड-खण्डित कर दिया गया। यद्यपि सम्भा जी मुस्लिमधर्मान्धता के आहार बना दिये गये किन्तु वे धर्म की पावन वेदी पर अपना हौतात्म्य देकर हिन्दू जाति के हेतु अमरकीर्ति पताका फहरा गये। आत्म-बलिदान के इस पावन पथ पर चलकर, उन्होंने महाराष्ट्र धर्म और हिन्दू जाति के पुनरुद्धार के पावन कर्त्तव्य की वृत्ति का जो परिचय प्रस्तुत किया, वह किसी अन्य कार्य द्वारा सम्पन्न हो पाना सर्वथा असम्भव ही था। यदि सम्भाजी लुटेरों के नेता होते तो उनका कार्य निश्चित हो इस स्थिति के सर्वथा विपरीत होता। किन्तु धन्य है वीरवर सम्भाजी, आपकी इस धर्म परायणता पर सैकड़ों बार धन्यवाद। हिन्दू राष्ट्र तुम्हारा चिर ऋणी रहेगा। परम पिता परमात्मा तुम्हारी आत्मा को शान्ति प्रदान करें तथा भारत के धर्म गगन में तुम्हारी कीर्ति गाथा सूर्य के सदृश हिन्दू जाति का मार्ग प्रशस्त करती रहे और हिन्दू धर्म के हेतु महान् गौरवशाली एवं पथ-प्रदर्शक प्रमाणित हो।

शिवाजी के द्वारा संस्थापित राज्य एवं उनके द्वारा शौर्य से हस्तगत किया गया प्रदेश छिन गया, राजकोष रिक्त हो गया, दुर्गों पर शत्रुओं की विजय पताकाएँ फहराने लगीं। ऐसा दुर्दिन भी उपस्थित हो गया जब उनकी राजधानी पर भी यवनों ने अधिकार जमा लिया। सम्भाजी यह दुर्दशा होने से रोकने में सर्वथा असफल सिद्ध हुए।

उपरोक्त वृत्तान्त से स्पष्ट है कि सम्भाजी अपने महान् पिता द्वारा अर्जित कमाई को सुरक्षित न रख सके। परन्तु उन्होंने अपने महान् बलिदान के द्वारा छत्रपति शिवाजी के धार्मिक एवं आध्यात्मिक लाभों की ज्योति तथा शक्ति को सुरक्षित ही नहीं रखा अपितु उसकी अभिवृद्धि भी की। इस प्रकार हिन्दू धर्म स्वातन्त्र्य के संघर्ष का वृक्ष उनके रुधिर से सिंचित होकर और अधिक सशक्त, सुदृढ़ एवं पल्लवित हो गया।

५

सम्भा जी को मृत्यु का प्रतिशोध

……मरोनि अवघ्यांसि मारावे।
मारितां मारितां घ्यावें राज्य आपुलें —रामदास

राजकुमार सम्भा जी के हिन्दू धर्म की बलिवेदी पर प्राण विसर्जित कर देने का समाचार ज्यों ही महाराष्ट्र की जनता को प्राप्त हुआ त्यों ही उनके प्रति सब की भावनाएँ तत्काल ही बदल गई। सम्भा जी द्वारा जन्म भर किये गये कुकृत्यों एवं अपराधों को भी लोगों ने सर्वथा भुला दिया। जिस राजकुमार से महाराष्ट्रवासियों को घृणा थी उसी के प्रति अब नेत्रों से श्रद्धा की गंगा, यमुना प्रवाहित हो उठी। उनकी धमनियों का रक्त खौल उठा और राजकुमार सम्भा जी की निर्मम हत्या का प्रतिशोध लेने की ज्वाला से उनके हृदय दग्ध हो उठे! वे कटिबद्ध हो गये तथा धन और साधनों के अभावों की चिन्ता का भी परित्याग कर, उन्होंने स्वातन्त्र्य लक्ष्मी के दर्शनों का सुसंकल्प लेकर अपना कर्तव्य निर्धारित कर लिया। उन्होंने एकत्रित होकर छत्रपति शिवाजी महाराज के द्वितीय पुत्र राजाराम को अपना नेता एवं महाराज स्वीकार किया और हिन्दू धर्म तथा हिन्दू राज्य की रक्षा हेतु सर्वस्व समर्पित कर देने का पावन व्रत धारण कर लिया। समर्थ गुरु रामदास जी की यह पावन शिक्षा उनके निधन के उपरान्त भी महाराष्ट्रवासियों ने विस्मृत नहीं की थी कि—

'धर्मासाठीं मरावें, मरोनि अवघ्यांसी मारावें ॥
मारितां मारितां घ्यावें। राज्य आपुले ॥१॥
मराठा तितुका मेलवावा। आपुला राष्ट्रधर्म वाढ़वावा ॥
येविशीं न करितां तकवा। पूर्वज हासती ॥२॥

("धर्म हेतु प्राण विसर्जित करो। मृत्यु का आलिंगन करते-करते भी शत्रुओं का संहार करो, राज्य प्राप्ति के लिए प्राण भी विसर्जित कर दो, मराठों को संगठित करो, राष्ट्र धर्म को विकसित करो। यदि तुम अपने इस कर्तव्य से च्युत हुए तो पूर्वजों के परिहास के पात्र बनोगे—")

मराठों के लिए समर्थ गुरु रामदास का उपरोक्त आदेश पथ-प्रदर्शक ही नहीं अपितु जीवित जाग्रत धर्म बन गया। राजाराम, नीलो मोरेश्वर प्रह्लाद नीराजी, रामचन्द्र पन्त, शंकर जी मल्हार, परशुराम त्र्यम्बक, सन्ता जी घोरपड़े, धन्ना जी जाधव, खाण्डेराव दाभाड़े, निम्बालकर, नेमाजी परसोजी आदि महाराष्ट्र वीर नेता एवं राजकुमार तथा किसान और ब्राह्मण या फिर यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगा कि सम्पूर्ण जाति ही मुसलमान शत्रुओं के विरुद्ध लोहा लेने हेतु शस्त्र सज्ज होकर खड़ी हो गई।

उस समय पुनः सम्पूर्ण दक्षिण प्रदेश पर औरंगजेब की पताका फहराने लगी थी। समग्र महाराष्ट्र, के दुर्ग ही नहीं अपितु छत्रपति शिवाजी की पावन राजधानी भी मुस्लिम सेनापतियों के सैनिक शासन में बँध कर पद-दलित हो रही थी। ऐसा लगने लगा था कि शिवाजी एवं उनके वंशजों ने संघर्ष का आवाहन कर हिन्दू राज्य संस्थापनार्थ अपने प्राणों का व्यर्थ ही विसर्जन किया था। किन्तु दुर्ग और राजधानी पर अधिकार न रहा तो क्या हुआ, जिस जाति में अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति हेतु प्रचण्ड इच्छा विद्यमान हो वह अपना दुर्ग अपने हृदय में ही निर्मित कर लेती है। उसका महान् आदर्श ही उसकी पावन पताका बन कर फहराता है तो उसकी राजधानी का भव्य भवन भी उठकर खड़ा हो जाता है। इसी महान् विचार ने सम्पूर्ण ही महाराष्ट्र में एक नवीन ज्योति विस्फारित कर दी थी। उन्होंने युद्ध को एक क्षण हेतु भी स्थगित न करने का सुदृढ़ संकल्प कर यह घोषणा कर दी कि "यदि हमारे हाथों से महाराष्ट्र खो गया है तो क्या हुआ, चलो मद्रास की धरती से

स्वातन्त्र्य युद्ध का पुनः श्रीगणेश करेंगे। यदि रायगढ़ हमसे शत्रुओं ने छीन लिया है तो हिन्दू-पद-पादशाही की पावन पताका जिन्जी में जाकर फहरा देंगे और युद्ध का रण गर्जन एक क्षण हेतु भी मन्द न होने देंगे।"

उपरोक्त दृढ़ प्रतिज्ञा कर, मराठों ने मुगल-सम्राट् औरंगजेब की विशाल वाहिनी से निरन्तर २० वर्ष तक संघर्ष किया, अन्ततः उसे निराश और पराजित होकर महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारत से पलायन कर जाने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प दिखाई न दिया। अपनी पराजय के इसी हृदय-विदारक शोक की ज्वाला में दग्ध होकर १७०७ ई० में औरंगजेब ने अहमदनगर में दम तोड़ दिया।

२० वर्ष तक लड़े गये इस दुर्घर्ष संघर्ष में मराठों की युद्ध कला "जानिमी कावा" उनके लिए विशेष रूप से लाभदायक सिद्ध हुई। चपला-सी चंचलता, वीरता एवं साहस सहित मराठा सेना, अद्वितीय मराठा सेनापतियों की अध्यक्षता में कभी एकत्रित होती तो कभी यत्र-तत्र बिखर जाती कभी आगे बढ़कर धावा बोलती तो कभी पीछे हटकर भी शत्रुओं को नाकों चने चबा देती। कभी युद्धस्थल में तुमुल संग्राम करती तो ऐसा भी अवसर आता जब वह एक सुनिश्चित योजना के अनुसार भागती हुई दिखाई पड़ती। इस प्रचण्ड रण कौशल के समक्ष मुगल खूब परेशान हुए और अन्ततः उन्हें पराजित होकर पलायन ही करना पड़ा।

मराठों की इस विचित्र युद्ध कला ने मुगलों का साहस टूक-टूक कर उसे धूल-धूसरित कर दिया। मुसलमान सेनापतियों में से प्रत्येक या तो पराजित हुआ अथवा उसे अपमानित होना पड़ा। वह या तो बन्दी बनाया गया अथवा उसे यमलोक पहुँचा दिया गया। जुल्फिकार खाँ, अली मरदान खाँ, हिम्मत खाँ और कासिम खाँ आदि मुगल सेनानायकों को धन्नाजी, सन्ताजी आदि मराठा सरदारों ने जिन्जी, कोथरीपाक दुधारी तथा दूसरे अन्य युद्धस्थलों में पूर्णतः पराजित करने का पराक्रम दिखाया। उनकी इतनी भयंकर पराजय हुई कि मुगल सेना भी छिन्न-

भिन्न हो गई और जिसका सुपरिणाम यह हुआ कि औरंगजेब के लिए पुनः महाराष्ट्र पर अपनी विजय पताका फहराने की कल्पना करना तो क्या स्वप्न ले पाना भी असंभव हो गया।

इस भाँति मराठे शत्रुओं को पराजित करते हुए तथा उनका दमन करते हुए आगे बढ़ते रहे और उन्होंने मुगलों की शाही छावनियों को भी अपने आक्रमणों का शिकार बनाया। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि वीर मराठों ने सिंह को उसकी गुफा में ही पहुंचकर चुनौती दी। ऐसा भी अवसर आया था कि बादशाह जीवित ही मराठों का बन्दी बन जाता किन्तु भाग्यवश वह उस सुनहरे खेमे में से भाग निकला था जिसमें वह युद्ध भूमि में रहा करता था। मराठों ने इस खेमे पर अपना अधिकार जमा लिया तथा इसे उखाड़ कर अपने साथ ले आये। उस समय महाराष्ट्र के सभी सेनापतियों के हृदय में उत्साह का जो सागर लहरें ले रहा था उसकी झाँकी आपको निम्नलिखित विवरण से प्राप्त हो जायगी—

सुविख्यात मराठा सेनापति खण्डो बल्लाल ने जिन्जी के घेरे में मुगलों को सहयोग देने वाले मराठा सरदारों को अपने साथ सहयोग करने के लिए प्रेरित करने को घोर परिश्रम और प्रयास किया। उन्होंने नागोजी राजे को अपनी ओर मिलाने के लिए गुप्त रूप से पत्र व्यवहार भी आरम्भ कर दिया। पत्र में खण्डो बल्लाल ने भली भाँति उसे समझाया कि यदि आप महाराज राजाराम से आकर मिल जायें तो हम लोग जिन्जी स्थित मुगल सेना का बात की बात में ही सर्वनाश कर पाने में भी सफल हो सकते हैं। उन्होंने यह भी लिखा कि यह आपका पावन कर्तव्य भी है कि आप मराठों की सहायता करें जो कि अपने पूर्वजों के धर्म तथा देश की रक्षार्थ प्रयत्नशील हैं।

नागोजी पर मराठों की उपरोक्त प्रार्थना का गम्भीर प्रभाव पड़ा और वह अपने ५ हजार सिपाहियों सहित एक हिन्दू के नाते

मुसलमानी शिविर से निकलकर मराठा सेना में सम्मिलित हो गये।

तदुपरान्त खण्डो बल्लाल ने उस शिरका सरदार को भी अपनी ओर मिला लेने का सुसंकल्प ग्रहण किया, जो अभी तक मुगलों की सहायता कर रहा था। उन्होंने सरदार को भी लिखा, किन्तु जब शिरका सरदार ने उस पत्र को पढ़कर यह जाना कि राजाराम भारी विपत्ति में फँस गया है, तो सम्भा जी द्वारा अपनी जाति पर किये गये अत्याचारों का स्मरण कर सरदार क्रोध से दग्ध हो उठा। उसने इस पत्र के उत्तर में खण्डो बल्लाल को लिखा कि "राजाराम ही क्या, यदि सम्पूर्ण भौंसला परिवार भी मेरे समक्ष ही धराधाम से मिट जाय तो मुझे लेशमात्र भी चिन्ता न होगी। क्या आप उस दिन को भूल गये हैं जब शिरका सम्भाजी का आहार बन रहे थे, वे जहाँ कहीं भी दिखाई पड़ते थे उन्हें मृत्यु के घाट उतार दिया जाता था। मुझे उन दिनों का स्मरण मात्र करते ही दुख होता है। मैं तो भौंसलों के उन दुर्दिनों की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जिन्हें देखकर मेरी आत्मा गद्गद् हो उठे।"

इस प्रकार की कठोर शब्दावली से युक्त पत्र की प्राप्ति के उपरान्त भी खण्डो बल्लाल निराश नहीं हुए। उन्होंने पुनः शिरका सरदार को एक पत्र लिखकर इन शब्दों में समझाया—

"हे मेरे प्रिय मित्र! सुनिये, आपने जो कुछ लिखा है वह अक्षरशः सत्य है, किन्तु यह बात भी तो सत्य ही है कि सम्भाजी ने केवल आपकी जाति को ही अपने अत्याचारों की आँधी का शिकार नहीं बनाया था अपितु मेरे अपने परिवार के भी तीन सदस्यों को उन्मत्त हाथी के पैरों तले कुचलवा कर मार डाला था। उस दुखद स्मरण मात्र से ही मैं भी क्षुब्ध हो उठता हूँ मुझे भी वैसा ही दुख होता है जैसे दुख का अनुभव आप करते हैं। परन्तु वर्तमान समस्या का सम्बन्ध किसी परिवार विशेष से नहीं है। और फिर हम यह युद्ध भी तो अपने स्वार्थ के लिए नहीं लड़ रहे हैं, हम लोगों का उद्देश्य भौंसला अथवा किसी अन्य कुल विशेष को

उच्च पद पर अधिष्ठित करना नहीं है, अपितु हम सब एक हिन्दू राष्ट्र-मण्डल की सुरक्षार्थ संघर्ष कर रहे हैं।

"हिन्दूच्या साम्राज्यासाठी आम्हीं झटत आहों।"

(हिन्दुओं के साम्राज्य की स्थापनार्थ ही हम प्रयत्नशील हैं)

खण्डोबलाल का उपरोक्त पत्र प्राप्त कर शिरका सरदार का हृदय भी द्रवित हो उठा और उनकी सुप्त पड़ी जातीय भावना पुनर्जाग्रत हो गई। उनके समक्ष महान् हिन्दू जाति के गत गौरव की पुनीत झाँकी प्रतिबिम्बित होने लगी। उन्होंने व्यक्तिगत अपराधों तथा झगड़ों को भुलाकर क्षमा प्रदान कर दी। उन्होंने राजाराम को घिरी हुई मुगलसेना से छुड़ाने का वचन भी दिया और अपने इस दिये हुए वचन की रक्षा अनेक प्रकार की सहायता प्रदान करने के उपरान्त राजाराम को मुगल सेना की कैद से मुक्त करा कर की। उन्होंने राजाराम को मुक्त मात्र ही नहीं कराया अपितु एक विजेता के रूप में महाराष्ट्र भी भेजा।

इस प्रकार यह तथ्य भी प्रमाणित हो जाता है कि शिवाजी के पुत्र ही नहीं अपितु उनके पश्चात् उनके बाद की पीढ़ियों के हृदय में भी देशभक्ति की पावन ज्वाला प्रज्वलित हो रही थी। हिन्दू जाति की राजनैतिक स्वतन्त्रता तथा हिन्दू धर्म की रक्षा का पावन उद्देश्य सदैव ही उनके समक्ष विद्यमान रहता था। इसी कारण वे विदेशी और असभ्य दुश्मनों के भयंकर आक्रमणों के सम्बन्ध में सदैव सतर्क रहते थे तथा अपने प्राण हथेली पर रखकर ही हिन्दू धर्म की रक्षा के पुनीत कार्य में प्रवृत्त रहते थे।

उपरोक्त विवरण के बाद आपको यह बात स्वयं ही समझ में आ सकती है कि क्या लुटेरे और उपद्रवी भी ऐसे पराक्रमी शत्रुओं को युद्ध में पराजित करने में सफलता प्राप्त कर सकते थे? कदापि नहीं, अतः सफलता प्राप्ति का कारण वस्तुतः धर्मवीर मराठों का पावन बलिदान ही था। धर्म और जाति के प्रति हृदय में उमड़ते हुए श्रद्धा के महासागर

ने ही इन मराठा धर्मवीरों को कर्तव्य पथ की ओर प्रेरित किया था। इसी से उन्हें बल प्राप्त हुआ था। अपनी शक्ति में वृद्धि करते-करते वे इतने शक्तिशाली भी हो गये थे कि उनका मुकाबला उनके समय की अन्य कोई भी सेना सफलता सहित नहीं कर सकी।

६

महाराष्ट्र मण्डल

आहे तितुकें जतन करावें। पुढें आणिक मेलवावें ॥
महाराष्ट्र राज्यचि करावें । जिकडे तिकडे ॥

—रामदास

(जो कुछ भी तुम्हारे पास है उसे बचाने का यत्न करो और उसकी वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहो। यत्र तत्र सर्वत्र महाराष्ट्र राज्य की स्थापना व प्रसार करो)

अपनी सम्पूर्ण आशाओं तथा हिन्दू विरोधी आकांक्षाओं को धूल-धूसरित होते हुए देखकर दुख के भार से लदा हुआ औरंगजेब जब शोक-सागर में सर्वदा के लिए विलीन हो गया तो मराठों ने खानदेश, बरार, गोंडवान, और गुजरात तक भी युद्ध के नगाड़े बजाने आरम्भ कर दिये। शाहू की मुक्ति, महाराष्ट्र में मुगल सम्राट् द्वारा मराठों के स्वराज्य को मान्यता देने और दक्षिण के ६ प्रान्तों तथा मैसूर और त्रावनकोर राज्यों में भी सरदेशमुखी और चौथ वसूल करने में सफलता अर्जित कर लेने के उपरान्त मराठे इतने अधिक शक्तिशाली हो गये जितने कि वह पहले कभी भी नहीं थे। इसके उपरान्त मराठों को अपने राज्य की समुचित व्यवस्था करने तथा घातक दलबन्दियों का उन्मूलन कर सर्वसाधारण की आकांक्षाओं के अनुरूप, सम्पूर्ण स्वाभाविक और अनिवार्य दुर्बलताओं के होते हुए भी समग्र जाति की एकता को सूत्र में आबद्ध करने का सुअवसर उपलब्ध हो गया। इसका परिणाम इतना उत्तम हुआ कि मराठा संघ अथवा महाराष्ट्र मण्डल वास्तविक अर्थों में ही हिन्दू पद पाद-शाही बन गया। महाराष्ट्र मण्डल नाम मात्र के लिए नहीं अपितु सच्चे अर्थों में ही समग्र हिन्दुस्थान का शासन सूत्र सँभाल कर राज्य संचालन

करने लगा।

हमने ऊपर जिन दुर्बलताओं और त्रुटियों का उल्लेख मराठा मण्डल के सम्बन्ध में किया है वे स्वाभाविक ही थीं क्योंकि वे हिन्दुओं के राष्ट्रीय चारित्र्य की दुर्बलताओं और भूलों का ही स्वाभाविक प्रतिफल थी। मराठे भी तो हिन्दू जाति का ही अंग हैं, इसलिए वे भी उपरोक्त दुर्बलताओं से कैसे मुक्त रह सकते थे। हम इनका विस्तृत उल्लेख बाद में करेंगे। सब प्रकार के भ्रम का निवारण करने के लिए इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उनके सम्बन्ध में हम से अधिक सचेत कोई नहीं हो सकता। जहाँ हम उन समस्त महान् राष्ट्रीय एवं नैतिक सिद्धांतों का सविस्तार वर्णन करेंगे, जिनके बल पर मराठा जाति एक राष्ट्र के रूप में संगठित हो सकी और जिन्होंने उसे हिन्दू स्वातन्त्र्य के युद्ध में प्रयत्नशील रहने के लिए प्रेरित किया वहाँ हम इस तथ्य को भी विस्मृत करने अथवा कम करके दिखाने के पक्ष में नहीं हैं कि कतिपय अवसरों पर व्यक्तिगत द्वेष तथा स्वार्थ और लालच की अग्नि ने भी उसको अपने राष्ट्रीय कर्तव्यों तथा जातीय प्रवृत्तियों की उपेक्षा कर देने के लिए प्रेरित करने में सफलता पाई थी। यदि मराठों में ये अवगुण न होते तो वे मनुष्यों के स्थान पर देवताओं के राष्ट्र के रूप में ही परिणत हो जाते। किन्तु यहाँ हमारा सम्बन्ध इस बात से नहीं है कि यत्र-तत्र विस्तृत रूप में क्या सत्य है, किन्तु हमारा सम्बन्ध मुख्य रूप से इस महान् हिन्दू आन्दोलन के सम्बन्ध में वास्तविक सत्य को प्रकट करना है। यदि हम मराठों के महान् उद्देश्यों पर दृष्टिपात करें और उनके अपूर्व प्रयत्नों और अर्जित सफलताओं में से उनकी व्यक्तिगत दुर्बलताओं तथा अवगुणों की भी उपेक्षा न करें तब भी प्रत्येक देशभक्त हिन्दू को उनके महान् कार्यों के सम्मुख अवश्य ही श्रद्धा ज्ञापन करना पड़ेगा। इस संक्षिप्त विवरण में हमने भी जहाँ तक सम्भव हो सका है, अकाट्य साक्षियों, और कहीं-कहीं इस राष्ट्रीय आन्दोलन के मुख्य नेताओं और आन्दोलनकर्ताओं के

कृत्यों और उन्हीं के शब्दों को प्रस्तुत कर ऐसा करने का प्रयास किया है।

अपनी राज्य-व्यवस्था को सुदृढ़ करने के उपरान्त बालाजी विश्वनाथ इतने अधिक सक्षम और शक्ति सम्पन्न हो गये कि वे दिल्ली की शाही राजनीति में भी प्रभावशाली ढंग से हस्तक्षेप करने लगे। अब मराठा जाति मुस्लिम आक्रमणों के भय से सर्वथा चिन्तामुक्त हो गई। इतना ही नहीं अपितु मुस्लिम सम्राट् भी अपने विद्रोही वजीरों और सेनापतियों से अपने-आपको सुरक्षित रखने हेतु मराठों के संरक्षण की याचना करने लगा। इस प्रकार मराठों के स्वातंत्र्य समर ने मुस्लिम साम्राज्य की शक्ति को टूक-टूक कर देने में सफलता प्राप्त कर ली और मुस्लिम सम्राट् भी उनसे सहायता प्राप्ति हेतु भिक्षुक-सा बन कर रह गया। १७१८ ई० में सैयद बन्धुओं के मुस्लिम प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध उनका पक्ष लेकर बालाजी विश्वनाथ और दाभाड़े ने ५० हजार मराठा सैनिकों सहित दिल्ली की ओर प्रस्थान कर दिया, क्योंकि सैयदों ने सम्पूर्ण दक्षिण पर चौथ तथा सरदेशमुखी वसूल करने के मराठों के अधिकार को पहले ही मान्यता प्रदान कर दी थी। जब मराठों की ५०,००० की विशाल वाहिनी को हिन्दुओं से घृणा करने वाले मुसलमानों ने अपनी राजधानी में प्रवेश करते हुए देखा तो उनकी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी और उन्होंने मराठा सेनापतियों की हत्या करने का षड्यंत्र रचना आरम्भ कर दिया। उन्होंने यह निश्चय किया कि जिस समय बालाजी विश्वनाथ सरदेशमुखी और चौथ वसूल करने की सनद सम्राट् से प्राप्त करने के उपरान्त राजदरबार से बाहर आएँ तभी धोखे से उनकी हत्या कर दी जाय।

जब मराठा शिविर में इस षड्यंत्र की सूचना प्राप्त हुई तो प्रसिद्ध मराठा सरदार भानू अपने नेता की रक्षार्थ अपने प्राण भी समर्पित कर देने हेतु कटिबद्ध हो गया। अतः ऐसी व्यवस्था की गई कि पेशवा बालाजी सम्राट् से सनद प्राप्त कर लेने के उपरान्त किसी गुप्त मार्ग द्वारा

मराठा शिविर में वापस लौटें तथा भानू बालाजी विश्वनाथ के रूप में राज-दरबार के मुख्य द्वार से पालकी में बैठकर निर्धारित मार्ग से ही वापस आएँ। अन्ततः ऐसा ही किया गया। क्रोध की अग्नि से दग्ध मुसलमानों का समूह राज-दरबार के मुख्य द्वार के बाहर पेशवा के आने की प्रतीक्षा में डटा हुआ था। अतः ज्योंही पेशवा की पालकी पर उनकी दृष्टि पड़ी वे मराठों पर टूट पड़े। मुसलमानों के इस प्रचण्ड समूह ने पालकी के साथ चलने वाले थोड़े से मराठों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। जिन वीर मराठों ने आत्माहुति दी उनमें भानूजी भी सम्मिलित थे। मुसलमानों ने बालाजी समझकर ही उनके प्राण ले लिए। किन्तु बालाजी अपनी कांख में सनद को दबाये गुप्त मार्ग द्वारा सकुशल मराठा शिविर में पहुँच जाने में सफल हो गये। भानूजी के राष्ट्र हित सर्वस्व समर्पित करने की इस महान् घटना ने हिन्दू राष्ट्र के शौर्य और गौरव की गाथा में एक नया पृष्ठ जोड़ दिया। इस संक्षिप्त पुस्तक में ऐसे कतिपय उदाहरणों को यत्र-तत्र देने का हमारा तात्पर्य यही है कि रूखी आलोचनाओं से परिपूरित विस्तृत पुस्तकों की तुलना में ऐसा एक भी उदाहरण इस महान् आन्दोलन की राष्ट्रीय गरिमा और धार्मिक गौरव को प्रकट करने में अधिक समर्थ है।

७

बाजीराव का कर्मभूमि में अवतरण

[स्वतन्त्र महाराष्ट्र को हिन्दू स्वातन्त्र्य समर का नेतृत्व अवश्यमेव करना चाहिए]

दिल्ली से वापिस लौटने के उपरान्त १७२० ई० में बालाजी विश्वनाथ का स्वर्गवास हो गया। अब उनके स्थान पर महाराष्ट्र मण्डल का नेतृत्व उनके पुत्र बाजीराव ने सँभाल लिया। उस समय छत्रपति शाहूजी महाराष्ट्र मण्डल के अध्यक्ष थे। शिवाजी के जन्म के पश्चात् मराठा इतिहास की द्वितीय महत्त्वपूर्ण घटना राजनैतिक क्षेत्र में बाजीराव का पदार्पण ही है। यद्यपि अभी तक नीति सम्बन्धी कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न अनिर्णीत ही पड़े थे किन्तु महाराष्ट्र ने राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सफलता पा ली थी। मराठे इतने शक्ति सम्पन्न हो चुके थे कि अपने देश और धर्म की किसी भी प्रकार की आपत्ति व बाधा से रक्षा करने में पूर्णतः समर्थ थे। यदि वे चाहते तो शाही राजनीति में न उलझते हुए महाराष्ट्र मण्डल पर ही समाधान व्यक्त कर निष्कंटक रूप से राजसुख का उपभोग कर सकते थे। ऐसी भावना कतिपय मराठा सरदारों के हृदय में स्वाभाविक रूप से ही उत्पन्न भी हुई और उन्होंने छत्रपति शाहू को भी अपने इन विचारों से प्रभावित करने का प्रयास किया किंतु उन्हें सफलता प्राप्त न हो सकी। परन्तु यदि वे सम्पूर्ण जाति को अपने दृष्टिकोण से सहमत बना लेने में सफल भी हो जाते और वे महाराष्ट्र की सीमा से बाहर हिन्दुओं की स्वाधीनता का संग्राम चलाने से उन्हें रोक भी लेते तब भी यह बात सन्दिग्ध ही थी कि जो कुछ मराठों ने अपनी विजय के उपरान्त अर्जित किया था उस भूखण्ड का भी वे सुदीर्घ काल तक शान्ति पूर्वक उपभोग करते रहने में समर्थ रह सकते थे।

किन्तु यदि वे हिन्दुस्थान के शेष सभी प्रदेशों से अपना सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न कर केवल महाराष्ट्र को सर्व विधि सुरक्षित रख स्वतन्त्र किन्तु शान्त जीवन यापन करते तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ऐसा करना उनके लिए श्रेयस्कर सिद्ध होता ? क्या उन्होंने केवल क्षुद्र सांसारिक सुखों और शान्ति के हेतु ही तीन पीढ़ियों तक दुर्घर्ष संग्राम करते हुए रक्त की सरिताएँ प्रवाहित की थीं और क्या इसे सम्मान पूर्ण सुख और शान्ति का नाम दिया जा सकता था कि वे महाराष्ट्र की सीमाओं के बाहर होने वाले अपने हिन्दू बन्धु बन्धवों के दमन को मौन दर्शक बन कर देखते रहें और उनके करुण क्रन्दन पर भी ध्यान न धरें ? वस्तुतः शिवाजी और उनके सहयोगियों ने जिस लक्ष्य को अपने समक्ष रखा था वह मराठा राज्य की स्थापना नहीं अपितु हिन्दवी स्वराज्य अर्थात् हिन्दू पद-पादशाही की स्थापना करना ही था।

यद्यपि महाराष्ट्र के हिन्दुओं ने विदेशी दासता के तौक को अपनी गर्दन से उतार कर फेंका था किन्तु अभी भी हिन्दुस्थान के अन्य अंचलों में लाखों ही नहीं अपितु कोटि-कोटि हिन्दू जन विदेशियों के क्रूर शासन में दासता की शृंखला से आबद्ध होकर करुण-क्रन्दन कर रहे थे। समर्थ गुरु रामदास का स्पष्ट निर्देश था 'धर्मासाठीं मरावें' अर्थात् धर्महेतु बलिदान दो। वे इस कारण अत्यधिक दुःखित थे कि 'तीर्थ क्षेत्र भ्रष्ट झाली' अर्थात् हमारे पवित्र तीर्थ स्थल विदेशियों द्वारा अपवित्र कर दिये गये हैं। अतः जब तक काशी में भगवान विश्वनाथ के पावन मन्दिर पर मुसलमानों की हलाली पताका फहरा रही थी तब तक मराठे धर्म की रक्षार्थ संघर्ष करते रहने तथा जीवन प्रसून चढ़ाने के पावन दायित्व से अपने आपको मुक्त किस भाँति कर सकते थे। जब तक दिल्ली में धर्मराज युधिष्ठिर के पवित्र हिन्दू सिंहासन पर विदेशी शासन आसन जमाये हुए था तब तक यह वैसे स्वीकार किया जा सकता था कि छत्रपति शिवाजी का हिन्दवी स्वराज्य अथवा हिन्दू पद-पादशाही की

स्थापना का पावन संकल्प पूर्ण हो गया है।

मराठों ने पंढरपुर से मुसलमानों के हलाली परचम (ध्वज) को उखाड़ फेंका था, नासिक को भी अब धर्मान्ध मुसलमानों द्वारा अपमानित किये जाने का दुर्दिन नहीं देखना पड़ता था, किन्तु काशी, कुरुक्षेत्र, हरिद्वार, रामेश्वर और गंगासागर की क्या दशा थी ? क्या थे तीर्थस्थल भी मराठों के लिए उतने ही पावन नहीं थे जितने कि पंढरपुर और नासिक ? मराठों के पूर्वजों की अस्थियाँ केवल गोदावरी में ही तो प्रवाहित नहीं हुई थी अपितु गंगा की पावन लहरों ने भी तो उन्हें अपनी गोदी में समेटा था। हिमालय से लेकर रामेश्वरम् तक और द्वारिका से जगन्नाथपुरी पर्यन्त उनके पावन देवालय और मन्दिर यत्र-तत्र सर्वत्र फैले हुए थे।

अतः समर्थ स्वामी रामदास के शब्दों में गंगा और यमुना का जल अभी भी अपवित्र और पूजन के सर्वथा अयोग्य था, क्योंकि उस समय भी विदेशी मुस्लिम विजेताओं की फहराती हुई पताकाओं की छाया उनके जल में पड़ रही थी। इसी दृश्य को देखकर तो समर्थ स्वामी रामदास ने क्षुब्ध होकर यह कहा था कि 'अस्तुत यवनाचें बंड। हिन्दू उरला नाहीं चंड'' अर्थात् अभी भी मुसलमान शक्ति सम्पन्न हैं और हिन्दू दुर्बल हैं। उन्होंने इसीलिए मराठों को यह सन्देश दिया था कि :—

धर्मासांठी मरावे। मरोनि अवघ्यांसि मारावें ॥
मारितां मारितां घ्यावें। राज्य आपुलें ॥१॥

[धर्म के लिए प्राण समर्पित करें, मरते-मरते भर भी अपना राज्य ले लें और महाराष्ट्र साम्राज्य की प्रस्थापना करें]

किन्तु क्या मुसलमानों का अत्याचारी शासन सम्पूर्ण भारतवर्ष से समाप्त हो गया ? क्या अभी भी हिन्दुस्थान की राजनैतिक और धार्मिक दासता की बेड़ियाँ कट सकी थीं ? नहीं, जब तक मुसलमानों का प्रभुत्व और शक्ति केवल महाराष्ट्र ही नहीं अपितु सम्पूर्ण हिन्दुस्थान से समाप्त

नहीं हो जाती तब तक न तो हिन्दू धर्म का गौरव स्थापित हो सकता था और न ही हिन्दवी स्वराज्य श्री सम्पन्न हो सकता था। जब तक हिन्दू भूमि के एक इंच के क्षेत्र पर भी मुसलमानों का आधिपत्य जमा हुआ था तब तक शिवाजी और रामदास का उद्देश्य तथा उन अगणित हुतात्माओं का लक्ष्य अधूरा और अपूर्ण ही था जिन्होंने विगत ५० वर्षों में स्वाधीनता संग्राम की बलिवेदी पर हँसते-हँसते अपने शीश समर्पित किये थे।

मराठों के विचारवान और कर्मयोगी नेता, योद्धा, ऋषि और पथ-प्रदर्शक उन्हें यही सन्देश दे रहे थे कि—"तुमने जब यह असिधारा व्रत धारण किया है और महान संकल्प लिया है कि जब तक हिन्दुओं की दासता की शृंखला को टूक-टूक नहीं कर देते, तब तक हम अपनी तलवारों को वापिस म्यान में न रखेंगे तो जब तक समग्र हिन्दू जाति निष्कंटक होकर पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करते हुए अपने सम्पूर्ण धार्मिक अनुष्ठान सानन्द सम्पन्न कर पाने में समर्थ नहीं हो जाती, जब तक एक विशाल एवं सुदृढ़ तथा शक्तिशाली हिन्दू साम्राज्य की स्थापना नहीं हो जाती, तुम युद्ध को स्थगित कर शान्तिपूर्वक राजसुख का उपभोग किस भाँति कर सकते हो ? जब तक मुसलमान अश्वारोहियों के तुरंग अबाध गति से पावन सिन्धु सरिता के जल को अपनी टापों से गदला कर रहे हैं, भगवान विश्वनाथ के पावन देव मन्दिर के स्थान पर मस्जिद खड़ी हुई दृष्टिगोचर हो रही है और उनके जलयानों की पालें हिन्दू महासागर की उत्ताल तरंगों पर फहरा रही हैं तब तक क्या तुम कभी भी धर्मयुद्ध से विमुख होने की इच्छा प्रदर्शित कर सकते हो ? इस धर्मयुद्ध की समाप्ति किसी व्यक्ति विशेष अथवा किसी प्रांत विशेष की सुखशांति और समृद्धि मात्र पर अवलम्बित नहीं है, अपितु इसका समारोप सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में एक महान वैभवशाली हिन्दू साम्राज्य एवं हिन्दू पद-पादशाही के सुख स्वप्न के साकार रूप ग्रहण कर लेने के उप-

रान्त ही सम्भव है। अतः हे मराठों ! इस महान उद्देश्य की प्राप्ति हेतु सहस्रों ही नहीं अपितु लाखों की संख्या में निकल पड़ो और अपनी स्वर्ण गैरिक (भगवी) ध्वजा को नर्मदा को लांघकर चम्बल, गंगा, यमुना और सिन्धु एवं ब्रह्मपुत्र सरिताओं को पार करने के उपरान्त महासागरों की उत्ताल तरंगों तक फहरा दो। समर्थ गुरु रामदास के इस पावन उपदेश को दृष्टिगत रखते हुए इसको पूर्ति हेतु सक्रिय रूप से प्रयत्नशील रहो और अपने पग आगे ही आगे रखते हुए बढ़ते जाओ—

देव मस्तकीं धरावा। अवघा हलकल्लोल करावा॥
मुलुख बडवा बुडवावा। धर्म संस्थापनासाठी ॥१॥

अर्थात्—देवताओं को वन्दनीय मानकर उनको अपने मस्तक पर धारण करो, चतुर्दिशाओं में धर्म का पावन जयघोष गुँजा दो। धर्म की संस्थापनार्थ अपना सर्वस्व बलिदान चढ़ा देने की सिद्धता अर्जित करो।

बाजीराव, चीमाजी अप्पा, ब्रह्मेन्द्र स्वामी, दीक्षित, मथुराबाई आंग्रे आदि महाराष्ट्रीय नेता एव सरदार इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरणा लेकर मराठा गतिविधियों के प्रसार और विस्तार पर बल दे रहे थे। इस समय उन लोगों के समक्ष यह प्रश्न नहीं था कि क्या होना चाहिए अपितु उनके समक्ष एक ही समस्या थी कि क्या किया जाना चाहिए ? महाराष्ट्र यदि इच्छुक भी होता तब भी वह राजनैतिक दृष्टि से शेष भारत से पृथक नहीं रह सकता था। क्योंकि महाराष्ट्र के हिन्दुओं का भाग्य भी निश्चित रूपेण ही उत्तर में सिन्धु नदी के तट पर रहने वाले देशवासियों से लेकर दक्षिण में महासागर तट पर्यन्त निवास करने वाले अपने हिन्दू बन्धुओं के साथ ही ग्रंथित था।

महाराष्ट्र के राजनीतिज्ञों की दृष्टि से यह तथ्य ओझल नहीं हो पाया था कि अतीत में प्रान्तीयता और संकीर्णता की क्षुद्र भावनाओं के परिणामस्वरूप प्रथमतः हिन्दू जाति को राजनैतिक पराधीनता की बेड़ियों में आबद्ध होना पड़ा और तदुपरान्त हिन्दू राष्ट्र और धर्म नष्ट

भ्रष्ट हुआ था। इसीलिए अब वे इस दिशा में सक्रिय हो उठे थे कि समग्र हिन्दू जाति को संगठन सूत्र में आबद्ध किया जाए। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखकर बाजीराव ने उस समय सभी हिन्दू नरेशों को एक पत्र लिखा था जब नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण कर दिया। इस पत्र में उन्होंने लिखा था कि मैं केवल भावनात्मक अथवा धार्मिक आवश्यकताओं के कारण ही नादिरशाह से लोहा लेने के लिए आपके सहयोग की याचना नहीं कर रहा हूँ, अपितु मेरा यह सुस्पष्ट विचार है कि जब तक आप लोग इस महान् हिन्दू जाति के एक शक्ति सम्पन्न स्वतन्त्र हिन्दू साम्राज्य की स्थापना नहीं कर पाएंगे तब तक आपके भौतिक और व्यक्तिगत हित भी सम्पन्न नहीं हो सकते। एक विशाल और शक्ति सम्पन्न हिन्दू साम्राज्य की स्थापना से ही समग्र हिन्दू राष्ट्र एकता के सूत्र में ग्रंथित हो सकता है। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि जब तक भारत पर विदेशियों की विजय पताकाएँ फहराती रहेंगीं एक भी हिन्दू शान्तिपूर्वक जीवनयापन नहीं कर सकता और न ही किसी हिन्दू को अपने वास्तविक गौरव की अनुभूति हो पानी सम्भव है। ऐसी स्थिति में वह अपनी जाति की उन्नति में योगदान देने में भी असमर्थ ही रहेगा और उस समय संत्रस्त रहते हुए विदेशियों की दासता की शृंखला में जकड़ा रहना भी पड़ेगा। इन्हीं सब कारणों से महाराष्ट्र के नेता ही नहीं अपितु जनसाधारण भी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे कि जब तक दिल्ली पर उनकी विजय पताका नहीं फहराएगी तब तक सतारा पर भी उनका निष्कंटक राज्य संस्थापित रहना असम्भव ही है।

जब महाराष्ट्र मण्डल के नेता छत्रपति शाहूजी के सभापतित्व में मराठों के भविष्य के राजनैतिक कार्यक्रम की रूपरेखा पर विचार करने हेतु एकत्रित हुए तो उस ऐतिहासिक अवसर पर बाजीराव पेशवा अपने विचार व्यक्त करने के लिए खड़े हुए। उन्होंने जन साधारण की आकांक्षाओं और उत्साह एवं अपनी शक्ति के महत्व को दृष्टिगत रखते हुए

कहा—"अब हम दिल्ली की ओर हाँ, दिल्ली की ओर प्रस्थान करेंगे और मुस्लिम साम्राज्य के उद्भव का ही समूलोच्छेद कर देंगे। हे वीरो तुम यहाँ खड़े-खड़े संकोच और दुविधाओं की भावनाओं से भ्रमित क्यों हो रहे हो ? हिन्दू वीरो अग्रगामी बनो, आगे बढ़ो। हिन्दू पद-पादशाही की स्थापना की स्वर्णिम घड़ी आ गई है। क्या ऐसा होना असम्भव है ? नहीं, कदापि नहीं। मैंने अपनी तलवार शत्रुओं की तलवार से भली-भाँति नाप ली है। मैं उनकी शक्ति को भली-भाँति समझ गया हूँ।"

तदुपरान्त वे छत्रपति शाहूजी को सम्बोधित करते हुए बोले "हे महाराज, छत्रपति शाहूजी ! मैं आप से अधिक कुछ नहीं चाहता, न ही जन अथवा धन। मुझे केवल आप अपनी अनुमति और आशीर्वाद दीजिए। उसके प्राप्त होते ही मैं दिल्ली की ओर प्रस्थान कर दूँगा और वहाँ पहुँच कर उस विषमय वृक्ष की जड़ों पर कुठाराघात कर उसकी एक-एक शाखा को काटकर नष्ट-भ्रष्ट कर दूँगा।"

प्रचण्ड योद्धा बाजीराव के इन ओजपूर्ण और हृदय से निकले हुए वाक्यों को सुनकर छत्रपति शाहूजी का शरीर भी रोमांचित हो गया। उन्हें ऐसी अनुभूति हुई कि, उनकी नसों में भी छत्रपति शिवाजी का पावन रक्त हिलोरें मारने लगा है और उन्होंने भी ओजपूर्ण वाणी में उत्तर—दिया "हे मेरी प्रजा के शूरवीर नेताओं ! जाओ, जिस दिशा में चाहो, मेरी सेनाओं को विजय पर विजय प्राप्त करते हुए ले जाओ और दिल्ली ही क्या, इस परम पवित्र भगवे ध्वज को हिमालय की उत्तुंग शैलमालाओं ही नहीं अपितु यदि संभव हो सके तो विजय प्राप्त करते हुए उससे भी परे किन्नर खण्ड तक पर फहरा दो।"

ये भगवी पताका स्वर्ण और रजत के काम से अलंकृत नहीं थी अपितु उन वीतराग संन्यासियों के गेरुए रंग में रंगी हुई थी, जो सांसारिक माया के परित्याग, ईश्वर-भक्ति तथा लोकमात्र के कल्याण की पावन भावनाओं से मानव हृदय को परिपूरित कर देता है। मराठा सेनाएँ परम पवित्र

भगवाध्वज हाथ में थामे हुए आगे बढ़ीं। यह पावन प्रतीक निरन्तर उन्हें उनके इस लक्ष्य का स्मरण कराता रहता था कि उनका आदर्श कितना महान् है। वह उन्हें सचेत करता रहता था कि वे पराधीनता के पाश से हिन्दू जाति को स्वतन्त्रता दिलाने वाले मुक्तिदाता हैं और हिन्दू धर्म के रक्षक भी। भवानी उनकी कृपाण थी और भगवा था उनका प्रतीक। समर्थ रामदास ने इसको फहराया, शिवाजी ने इसी की छत्रछाया में प्रचण्ड युद्ध कर शत्रु दलों से संघर्ष किया। उन्होंने ही इस भगवी पताका को सह्याद्रि पर्वतमाला के शिखरों पर शान सहित लहराया और अब शाहू और उनकी सन्तति ने इसी ध्वजा को सुदूर हिमगिरि शैल-मालाओं को भी लांघकर किन्नर खण्ड पर फहराने का सुसंकल्प कर लिया था।

सभा विसर्जित हो गई और महाराष्ट्र मण्डल का इतिहास ही समग्र हिन्दुस्थान के इतिहास के रूप में परिवर्तित हो गया।

८

दिल्ली की ओर प्रयाण

अरे बघता काय ! चला जोरानें चाल करून !
हिन्दूपदपादशाहीस आतां उशीर काय !

—बाजीराव

(अरे प्रतीक्षा क्या कर रहे हो, शक्ति सम्पन्न और बलशाली बनो। हिन्दू पद-पादशाही की स्थापना अब सन्निकट ही है।)

बाजीराव और उनके सहयोगियों को छत्रपति महाराज शिवाजी की पावन परम्परा में किस प्रकार से पूर्ण रूपेण शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हुई और उन्होंने अपने महान् नेता की राजनीतिक नीतियों, आदर्शों तथा युद्धकला का कितनी सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया था, इसका परिचय शाहूजी की उपस्थिति में मराठा सरदारों के समक्ष बाजीराव द्वारा दिये गये भाषण से भली भाँति मिल जाता है। उन्होंने अपने भाषण में कहा :—

"जिन दिनों छत्रपति शिवाजी महाराज दक्षिण में हिन्दू जाति के स्वातन्त्र्य संग्राम में सक्रिय थे, वह स्थिति आज की अपेक्षा अत्यन्त ही भयंकर और आपत्तियों से परिपूर्ण थी। किन्तु उस समय की अपेक्षा आज की परिस्थितियाँ हमारे अधिक अनुकूल हैं। ऐसा स्वर्णिम अवसर उपलब्ध होने पर भी हम लोग जो उनके वंशज होने का गौरव सहित उल्लेख करते हैं उत्तरी भारत में युद्ध आरम्भ करने का सत्संकल्प ग्रहण करने के स्थान पर भाँति-भाँति की शंका और कुशंकाओं से ग्रस्त हैं। वस्तुतः यही ऐसा अवसर है जब हम निज़ाम, बंगेश तथा मुगल वाहिनियों पर नितान्त सरलता सहित आक्रमण कर सफलता अर्जित कर सकते हैं। हमें सर्वप्रथम निज़ाम के विरोध और शक्ति का समूलोच्छेद करना होगा क्योंकि इन दिनों मुसलमानों में वही सर्वाधिक सुयोग्य एवं सक्षम सेनापति

सिद्ध हो रहा है।

बाजीराव ने अपनी ओजमयी वाणी और धारा-प्रवाह वक्तृत्व की कला से महाराष्ट्र मण्डल के समक्ष अपने मनोरथ को बड़ी सफलता सहित अभिव्यक्त किया, उसी भाँति उन्होंने कर्मक्षेत्र में अवतरित होकर अपने क्रियाकलापों से भी स्वयं को शिवाजी का एक सुयोग्य अनुयायी ही सिद्ध कर दिखाया।

१७२७ ई० में ७ अगस्त को जब आकाश में उमड़े हुए सघन घन वर्षा के प्रचण्ड थपेड़ों से धराधाम को उद्वेलित कर रहे थे, बाजीराव भी अपनी सुदक्ष सेना सहित रणभूमि में उतर पड़े और उन्होंने औरंगाबाद में मुस्लिम सेना को पराभूत कर वहां पर पावन हिन्दू ध्वज फहरा दिया तदुपरान्त उन्होंने निज़ाम राज्य के ही अधीन जालना और उसके आस-पास के क्षेत्रों में युद्ध पर हुए व्यय का शुल्क प्राप्त करने का क्रम प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने अपने प्रचण्ड और अतुलनीय बाहु बल और शौर्य का इस भाँति प्रकटीकरण किया कि निजाम भी थर्रा उठा। उसने इवाजखाँ के नेतृत्व में एक सैन्य दल बाजीराव का सामना करने हेतु भेज दिया। अपनी अद्भुत-युद्ध कला का प्रदर्शन करते हुए कुछ समय तक तो बाजीराव निज़ाम की सेना को उलझाये रहे और साथ ही अपने-आपको उन्होंने हतोत्साहित भी प्रदर्शित किया। किन्तु फिर अचानक ही शत्रु सैन्य का सामना करना छोड़कर उन्होंने माहुर की ओर धावा बोल दिया। तदुपरान्त वे पुन. औरंगाबाद की ओर बढ़े और साथ ही उन्होंने यह बात भी ज़ोरों से फैला दी कि अब उस नगर से भी शुल्क प्राप्त किया जायगा। जब यह समाचार निजाम को विदित हुआ तो वह अपने इस धनी प्रदेश की रक्षार्थ इवाज़खाँ की सेना को सहयोग देने हेतु स्वयं भी नितान्त शीघ्रता सहित औरंगाबाद की ओर ही बढ़ चला। अब बाजीराव इस सम्बन्ध में पूर्णतः आश्वस्त हो गये कि उनकी चाल पूर्णतः सफल हो गई है और निजाम उनकी युद्धकला के जाल में

फँस गया है। उन्होंने तत्काल ही खानदेश को छोड़कर गुजरात की ओर प्रस्थान कर दिया। गुजरात प्रदेश में प्रवेश कर उन्होंने वहाँ के मुगल प्रशासक को उन्मुक्त हँसी हँसते-हँसते सूचित किया कि मैंने निजाम की आज्ञा से ही गुजरात पर आक्रमण किया है।

इधर जब निजाम शीघ्रता सहित औरंगजेब को ओर बढ़ता जा रहा था उसे जब मार्ग में ही यह समाचार प्राप्त हुआ कि जिस शत्रु के हाथों में पड़ने से औरंगाबाद को बचाने के लिए वह जा रहा है वह तो गुजरात में प्रवेश कर चुका है तो उसे भारी निराशा हुई। पहले से ही क्रोधाग्नि में तपते हुए निजाम ने बाजीराव के समान ही चालाकी की नीति का अनुसरण करने का निश्चय किया। उसने भी यही निर्णय किया कि बाजीराव पर चालाकी से आक्रमण करके विजय प्राप्त की जाय। अतः उसने पूना पर आक्रमण कर बाजीराव के क्षेत्र को लूट लेने का निश्चय कर लिया। किन्तु चतुराई की इस युद्धकला में भी बाजीराव ने ही निज़ाम को धूल चटा दी। उन्होंने पूना पर निज़ाम द्वारा आक्रमण किये जाने की सम्भावना का समाचार मिलते ही गुजरात को छोड़कर बड़ी शीघ्रता सहित निज़ाम राज्य में पुनः अपनी सेनाएँ प्रविष्ट कर दीं।

जिस समय निज़ाम बड़ी तत्परता सहित पूना को लूट लेने की दुर-भिसन्धि को अपने हृदय में सँजोए उस ओर बढ़ रहा था और यह समझ रहा था कि वह एक आश्चर्यजनक सैनिक विजय सम्पन्न करने जा रहा है, उसी समय उसे यह सुनकर नितान्त दुःख हुआ कि बाजीराव के पूना को तो वह अभी लूट लेने का दिवा स्वप्न मात्र ही ले रहा है किन्तु उसके राज्य को बाजीराव द्वारा पहले ही लूटा जा चुका है। इसलिए पूना पर चढ़ाई करने के विचार का परित्याग कर उसे गोदावरी तट पर बाजीराव से लोहा लेने के लिए तत्काल ही लौट पड़ने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही दिखाई न दिया। इस समय तक निज़ाम की सेनाएँ थककर चकनाचूर हो चुकी थीं और उनका साहस उनसे कोसों दूर भाग चुका

था। इसलिए निज़ाम भी बाजीराव से लोहा लेने में कतरा रहा था, उसका साहस भी उसका साथ छोड़ बैठा था किन्तु महाबली बाजीराव ने उसे युद्ध करने पर विवश ही कर दिया। बाजीराव ने पूर्ववत् पलायन करने तथा सामना न करने की नीति का अनुकरण करने की अपेक्षा ऐसी बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन किया कि निज़ाम की सेना को हठात् बाजीराव की इच्छानुसार ही पालखंड में मोर्चा लगाना पड़ा। पराक्रमी सेनापति बाजीराव सहसा ही निजाम की सेना पर टूट पड़े, यद्यपि इससे पूर्व वे निजाम की सेना से प्रत्यक्ष रूप में संघर्ष करने से अलग रहने का ही प्रयास करते रहे थे। निज़ाम की सेना के पास भारी मात्रा में बन्दूकें ही नहीं अपितु एक विशाल तोपखाना भी था किन्तु वीरवर बाजीराव की युद्ध कला के समक्ष निज़ाम की सेना बुरी तरह घिर गई। अब निजाम को दृढ़ विश्वास हो गया कि मराठों से छुटकारा पाना कोई सरल कार्य नहीं है। अतः विषाद के सागर में डूबे हुए निज़ाम ने विचारा और समझा कि अब दो ही विकल्प उसके समक्ष रह गये हैं कि या तो वह अपनी सम्पूर्ण सेना को मराठों की तलवारों का आहार बनने दे अथवा बाजीराव की इच्छानुसार उनके साथ सन्धि कर ले। पर्याप्त चिन्तन मनन के उपरान्त निज़ाम ने दूसरा विकल्प ही चुना अर्थात् वह मराठा सेनापति बाजीराव के साथ सन्धि करने पर सहमत हो गया। उसने वीरवर बाजीराव के साथ सन्धि की और छत्रपति शाहूजी को महाराष्ट्र प्रदेश के स्वतन्त्र महाराजा के रूप में मान्यता प्रदान कर दी। इतना ही नहीं उसने सरदेशमुखी और चौथाई की पाई-पाई भी चुकाने का आश्वासन दिया। इसके साथ-ही-साथ उसने बाजीराव की इस शर्त को भी स्वीकार किया कि उसके राज्य में कर वसूल करने हेतु पुनः मराठे ही नियुक्त किये जाएंगे। इस भांति वीरवर बाजीराव ने निज़ाम के सम्मान को धूल-धूसरित कर दिखाया और दोनों के बीच सन्धि सम्पन्न हो गई।

उपरोक्त युद्ध का सविस्तार वर्णन इसी दृष्टि से किया गया है कि इससे मराठा युद्ध कला का एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत होता है। इसके साथ ही उपरोक्त वृत्तान्त से यह तथ्य भी भली-भाँति प्रमाणित हो जाता है कि छत्रपति शिवाजी ने अपनी जाति को युद्ध सम्बन्धी जो भी अनुपम शिक्षाएँ दी थीं उन्हें उनके वंशजों द्वारा विस्मृत नहीं किया गया। इसके स्थान पर उन्होंने युद्ध कला का और अधिक विकास किया और उसे समुन्नत भी बनाया। शिवाजी के वंशजों, ने काल और परिस्थिति के अनुरूप प्रचण्ड संघर्षों में उन गुणों और शिक्षाओं का अनुकरण तथा अनुसरण करते हुए ही नितान्त सफलता सहित युद्धभूमि में शत्रुओं को परास्त कर विजयश्री का वरण भी किया।

मालवा का मुगल प्रशासक भी दक्षिण के मुगल प्रशासक से किसी भाँति श्रेष्ठ सिद्ध नहीं हो सका। सर्व प्रथम १६९८ ई० में मालवा प्रदेश पर उदाजी पवार के नेतृत्व में मराठा सेना ने आक्रमण कर माण्डवा में अपने खेमे गाडे थे। तब से ही मराठे निरन्तर चारों ओर से मुगलों की सेना पर धावा बोलते रहने में संलग्न रहे और उन्होंने मुगल सेनाओं को कभी भी शांति और सुख की श्वांस लेने का अवसर नहीं दिया। उस प्रान्त की हिन्दू जनता भी मुस्लिम अत्याचारों से क्लान्त हो उठी थी। उसको भी अपने पावन धर्म की रक्षार्थ प्रत्येक प्रकार के दमन और उत्पीड़न का प्रहार सहना पड़ रहा था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि मालवा की हिन्दू जनता में भी हिन्दू पद-पादशाही के पावन उद्देश्यों के प्रति सहानुभूति की भावनाएँ बल पकड़ने लगीं। उन्हें इस तथ्य की भली-भाँति अनुभूति हो गई कि महाराष्ट्र मण्डल का आन्दोलन कोई संकीर्ण अथवा प्रादेशिक आन्दोलन नहीं है अपितु हिन्दू साम्राज्य की स्थापना का ही सत् संकल्प है। वहाँ के हिन्दुओं ने भी भूमिपतियों, ठाकुरों और पुरोहितों के नेतृत्व में, जो कि उनके स्वाभाविक नेता थे इस आन्दोलन की सहायता देने को अपना मुख्य कर्तव्य

समझ लिया। वे भी यह समझने लग गये कि मराठों द्वारा प्रारम्भ किया गया हिन्दू स्वातन्त्र्य का संघर्ष ही उन्हें विदेशियों की दासता के अपावन पंजों से मुक्ति दिलाने में समर्थ सिद्ध हो सकता है।

सौभाग्यवश उन दिनों मालवा के हिन्दुओं को भी एक अत्यन्त प्रभावशाली और प्रसिद्ध राजकुमार मिला था, उसका शुभ नाम था सवाई जयसिंह। वह भी हिन्दू स्वातन्त्र्य का प्रबल पुरस्कर्ता था। उसकी राजधानी थी जयपुर। उन्हीं दिनों महाराज छत्रसाल ने भी यह अनुभव किया कि हम अपने छोटे से राज्य को विदेशियों के आक्रमणों से सुरक्षित रख पाने में पूर्णतः असमर्थ हैं। उन्होंने देशभक्ति की पावन भावना से प्रेरित होकर प्रान्तीय भेदभाव को तिलांजलि दे हिन्दू स्वातन्त्र्य समर से सहानुभूति व्यक्त करना ही श्रेयस्कर समझा और इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं कि इस पावन आन्दोलन का पुरस्कर्ता कौन है। उन्होंने अखिल हिन्दू-आन्दोलन के साथ अपना पग मिलाना ही उचित समझा फिर चाहे उसका नेतृत्व मराठों के हाथों में रहे अथवा सिख या राजपूत अथवा अन्य कोई हिन्दू सम्प्रदाय उस आन्दोलन की बागडोर सँभाले। स्वाभिमानी हिन्दू छत्रसाल ने विदेशी मुसलमान सिंहासन के समक्ष नत-मस्तक न होकर हिन्दू साम्राज्य स्थापना के आन्दोलन में सहयोगी बनना ही अपना कर्तव्य निर्धारित किया। महाराज छत्रसाल तो अपने इस विचार पर दृढ़ रहे ही साथ ही मालवा के राजकुमार सवाई जयसिंह ने भी इस दिशा में उन्हीं से प्रेरणा ग्रहण की।

जयसिंह ने नितान्त निर्भयता सहित मालवा के उन पीड़ित हिन्दुओं का पक्ष संवर्धन किया। राजकुमार जयसिंह उन हिन्दू कृषकों और भूमि-पतियों के लिए उठे जो विदेशी शासकों द्वारा लगाए गये अत्यधिक कर-भार से ग्रस्त थे। वे उन ठाकुरों और पुरोहितों के अगुआ बने जो अब अधिक दिनों तक अपने पावन धर्म का अपमान और दमन सहन करने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने समझ लिया था कि मुस्लिम सत्ता के

बने रहते उनके धर्म और जाति की सुरक्षा हो पाना सर्वथा असम्भव हो गया है। ऐसे सभी पीड़ित, त्रस्त और संत्रस्त हिन्दुओं को राजकुमार जयसिंह ने एकत्रित किया। उन्होंने हिन्दू जनता को परामर्श दिया कि मालवा वासी सभी हिन्दू बन्धु मिलकर मराठों को अपनी स्वतन्त्रता के लिए आमन्त्रित करें ताकि हिन्दू राज्य स्थापित हो सके, क्योंकि उनके अतिरिक्त आज की परिस्थिति में हिन्दुओं की रक्षा का महान् कार्य अन्य किसी के भी द्वारा सम्पन्न हो पाना सम्भव प्रतीत नहीं होता। इस विचारशील राजपूत ने इस तथ्य को भली-भाँति समझ लिया था कि इस समय भारत भूमि में जितने भी हिन्दू शासक हैं उनमें केवल महाराष्ट्र मण्डल ही इतना सक्षम और शक्ति-सम्पन्न है जो मुगलों को कुचलकर हिन्दू जाति को संगठित कर पाने की क्षमता रखता है। इस देशभक्त राजकुमार ने विचार किया कि यदि मैं स्वयं हिन्दू जाति को मुगलों की अपावन दासता से मुक्त करा पाने में समर्थ नहीं हो सकता तो मेरे लिए द्वितीय सर्वश्रेष्ठ मार्ग यही है कि अपनी सम्पूर्ण व्यक्तिगत इच्छाओं, आशाओं और तृष्णा का परित्याग कर प्रादेशिक द्वेष भावना और संकीर्णता को अपने हृदय से सर्वथा निकाल फेंकूं और उन वीर सेनानियों को अपना सहयोग दूँ जो हिन्दुओं की स्वतन्त्रता के इस महान् कार्य को सम्पन्न कर पाने में समर्थ हैं।

राजकुमार जयसिंह को उनकी इस योजना में मालवा के प्रभावशाली नेता ठाकुर नन्दलाल मांडवी का भी पूर्ण सहयोग तथा अनुमोदन प्राप्त हुआ। तब उन्होंने मालवा के हिन्दुओं की ओर से मराठों से वार्ता आरंभ कर दी और उन्हें आमन्त्रित किया कि वे मलेच्छों को मार भगा दें तथा मालवा के हिन्दुओं के पावन धर्म और मान-सम्मान की रक्षा करें। मालवा के अपने धर्म बान्धवों के इस आमन्त्रण को मराठों ने तत्काल ही स्वीकार कर वीरवर बाजीराव के भ्राता चीमाजी अप्पा के नेतृत्व में मालवा पर सब ओर से अपनी विजयी सेनाएँ चढ़ादीं। सम्पूर्ण मालवा प्रान्त को

मराठा सेनाओं ने घेर लिया। आक्रमण का समाचार प्राप्त होते ही मालवा के मुगल प्रशासक ने भी चारों ओर से सेनाएँ एकत्रित करनी आरम्भ कर दीं किन्तु मराठे इस बात से तनिक भी विचलित न हुए और उचित अवसर उपस्थित होते ही वे सहसा मुगल सेनाओं पर टूट पड़े। इतना ही नहीं देवास के युद्धस्थल में उन्होंने मुगल प्रशासक को भी काल के कराल गाल में झोंक दिया।

किन्तु सम्राट् इतनी सरलता सहित मालवा सरीखे धनवान प्रान्त को अपने हाथों से खोने के लिए कदापि तैयार नहीं था। उसने मालवा में मराठा सेनाओं से मोर्चा लेने के लिए एक नवीन प्रशासक को भेजा। इधर मालवा के वे सभी हिन्दू सरदार भी मराठों की सेना में सम्मिलत हो गये जो उनके पावन उद्देश्य से सहमत थे तथा सहानुभूति रखते थे। नवीन मुगल प्रशासक ने मराठों को मांडवा घाट के बीहड़ों और अन्य स्थानों पर अपनी प्रचण्ड सेना के बल पर घेर कर उनको समाप्त करने की एक भयंकर योजना बनाई। किन्तु वीर मराठों ने अपने सुयोग्य नेताओं चीमाजी अप्पा तथा पीलाजी के नेतृत्व में तथा मालवावासी हिन्दुओं के सहयोग के बल पर मुगल सेना को तिराल नामक स्थान पर पराजित कर देने का शौर्य प्रदर्शित किया तथा उस नये मुगल प्रशासक को भी युद्धस्थल में रणदेवी की भेंट चढ़ा दिया। इस भाँति मालवा में मुसलमानों का पूर्णतः दमन कर देने में हिन्दू साम्राज्य संस्थापक मराठे पूर्णतः सफल हो गये।

इस द्वितीय विजय के सुखद समाचार के सुनते ही सम्पूर्ण मालवा की हिन्दू जनता हर्ष विभोर हो उठी। उसके उल्लास और उत्साह की कोई सीमा ही न रही। क्योंकि आज उसके लिए एक महान् गौरव का पावन दिवस था जब सैकड़ों वर्षों की पराजय के उपरान्त एक बार पुनः हिन्दुत्व की पावन पताका स्वतन्त्रता सहित फहरा उठी थी। हिन्दू ध्वज को सगौ-रव फहराते हुए देखकर उनके हृदयों में भी देशभक्ति का ज्वार उमड़ने

लगा और जातीय प्रेम एवं धर्म भावना की पुनीत मंदाकिनी उनके हृदय अंचलों में प्रवाहित होने लगी।

देशभक्त जयसिंह ने भी अपनी ओर से मराठों का आभार मानते हुए एक पत्र लिखा। जिसमें उन्होंने एक पावन उद्देश्य की प्राप्ति हेतु संघर्ष करने वाले उन शूरवीरों की मानवन्दना की जिन्होंने सफलतापूर्वक संग्राम करते हुए विजयश्री का वरण किया था। उन्होंने इस अद्भुत सफलता पर मराठों को बधाई देते हुए उनका सहस्रों बार धन्यवाद किया और लिखा कि आपकी विजय एक गरिमापूर्ण विजय है। आपने मालवा को विदेशियों के अपावन पंजों से मुक्ति दिलाकर सम्पूर्ण हिन्दू जाति के प्रति महान् उपकार किया है। आपने हिन्दू जाति एवं धर्म को पुनः सम्मान और गौरव-गरिमा प्रदान करने में सफलता अर्जित की है अतः आप लोगों की मानवन्दना करने में मैं स्वयं को भी गौरवशाली समझता हूँ।

मराठों ने भी बड़ी शीघ्रता एवं कुशाग्रता सहित सम्पूर्ण मालवा प्रान्त में शान्ति की स्थापना की तथा वहाँ से मुगल प्रतिनिधियों को पूर्णतः निष्कासित कर उसे महाराष्ट्र शासन का ही एक प्रान्त बना लिया।

किन्तु पराजय के उपरान्त पराजय मिलने पर भी दिल्ली सम्राट् अभी पूर्णतः निराशा नहीं हो पाया था और वह नैराश्य के इस अंधकार में भी आशा की किरण खोजने में संलग्न था। अतः उसने इस बार एक वीर रुहेला पठान मुहम्मदखाँ बंगश को मालवा का प्रशासक नियुक्त कर मराठों से युद्ध करने के लिए भेजा। बंगश की मुसलमानों में अपनी वीरता के कारण भारी ख्याति थी और उसके शौर्य के कारण ही उसे रणसिंह की उपाधि द्वारा भी मुगलसत्ता द्वारा पुरस्कृत किया गया था। दिल्ली दरबार से उसे यह आदेश दिया गया कि पहले बुन्देला सरदार छत्रसाल का दमन करो तदुपरान्त मराठों को मालवा में पराजित कर निष्कासित कर दो।

मुहम्मद खाँ बंगश ने सर्वप्रथम बुन्देलों पर आक्रमण किया जो अपने नेता छत्रसाल के नेतृत्व में मुस्लिम शासन को चुनौती दे रहे थे। जिन्होंने मुगलों की पराधीनता की बेड़ियों को अपने कठोर परिश्रम और वीरता के बल पर टूक-टूक कर देने में सफलता प्राप्त कर ली थी। महाराज छत्रसाल शिवाजी के भी परम प्रशंसक थे और उन्हीं के पावन विचारों तथा आदर्श से प्रेरणा ग्रहण करते थे। उन्होंने अपनी युवा अवस्था में में ही छत्रपति शिवाजी को अपना गुरु तथा पथ-प्रदर्शक स्वीकार कर लिया था। उन्हीं के आदर्शों से प्रेरित होकर महाराज छत्रसाल ने भी बुन्देलखण्ड में हिन्दू स्वातन्त्र्य संग्राम का पुनीत कार्य प्रारम्भ किया था। अन्ततः उसे अपने प्रदेश और पावन हिन्दू धर्म को विदेशियों के मर्मान्तक प्रहारों से सुरक्षित कर पाने में भी सफलता प्राप्त हो गई थी। इसीलिए महाराज छत्रसाल को उनके प्रदेशवासी भी "हिन्दू धर्म की ढाल" की उपाधि से सम्बोधित करने लगे थे।

अब अपनी इस वृद्धावस्था में जब महाराज छत्रसाल ने देखा कि रुहेला पठानों की विशाल और विपुल खूंख्वार वाहिनी उनके छोटे से हिन्दू राज्य को धूल-धूसरित करने के लिए चढ़ दौड़ी है तो उनका चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। किन्तु छत्रपति शिवाजी, समर्थ स्वामी रामदास तथा प्राणनाथ प्रभु जैसे महान् पुरुषों की अखिल हिन्दू भावना से प्रेरित छत्रसाल की दृष्टि स्वाभाविक रूप से ही महाराष्ट्र मण्डल के नेता श्री बाजीराव की ओर पड़ी। बाजीराव छत्रपति शिवाजी के प्रचंड शौर्य और शक्ति के ही प्रतिनिधि मात्र नहीं थे अपितु उनमें शिवाजी के पावन उद्देश्य को पूर्ण करने की उत्कट लगन भी विद्यमान थी। अतः छत्रसाल ने बाजीराव को करुणापूर्ण भावनाओं से ओतप्रोत एक पत्र लिखा— जिसमें उन्होंने महान् हिन्दू पूर्वजों के पावन कर्तव्यों और उच्च ध्येयवाद का दिग्दर्शन कराते हुए बाजीराव को उनके पावन कर्तव्य का भी स्मरण कराया। छत्रसाल ने इस संकट की घड़ी में बाजीराव से सहायता देने

की प्रार्थना की। उन्होंने जिस हृदयस्पर्शी भाषा में यह पत्र लिखा उसको पढ़कर प्रत्येक हिन्दू हृदय में बन्धुत्व भावना और अखिल हिन्दू एकता की ज्योति विस्फारित होनी अनिवार्य थी।

छत्रसाल ने बाजीराव को सम्बोधित करते हुए लिखा था कि—"जिस भाँति भगवान विष्णु ने गजेन्द्र को ग्राह के उत्पीड़न से त्राण दिलाया था, उसी भाँति आप मुझे भी विधर्मियों के दुष्ट पाश से मुक्ति दिलाइये।"

शिवाजी के इस पुराने मित्र तथा पंथानुयायी ने जब मुसलमानों के आक्रमणों से घिर जाने की स्थिति में मराठों से एक हिन्दू के नाते सहायता देने की याचना की तो मराठों के लिए यह कैसे सम्भव था कि वे मौन दर्शक बन कर देखते रहते। उनके हृदय देश प्रेम की पवित्र भावनाओं से आन्दोलित हो उठे। बाजीराव मल्हारराव तथा पीलाजी जाधव तथा अन्य ३२ मराठा सेनापतियों के नेतृत्व में ७०,००० सिपाहियों की विशाल सेना को साथ लेकर इस वृद्ध हिन्दू रणधीर की सहायतार्थ शीघ्रातिशीघ्र बढ़ चले। मराठा सेना और महाराज छत्रसाल का धमौरा नामक स्थान पर मिलन हुआ। वीरवर छत्रसाल ने भी अपनी अवशिष्ट बुन्देला सेना का संग्रह किया और मराठों के साथ ही साथ बढ़ चले। यद्यपि उन दिनों प्रचण्ड वर्षा की झड़ियाँ लगी हुई थीं किन्तु मराठा सेना निरन्तर आगे बढ़ती रही।

मुहम्मद खाँ ने जितनी सुगमता सहित छत्रसाल के छोटे से हिन्दू राज्य पर अपनी विजय पताका फहरा दी थी तथा वह छत्रसाल को उनकी राजधानी से निष्कासित कर देने में सफल हो गया था, उससे उसने विजय के दर्प में चूर होकर वर्षा ऋतु में विश्राम करने का निश्चय कर लिया था। इस प्रकार वह मूर्खों के स्वर्ग में विचरण करने में मग्न था। किन्तु घनघोर वर्षा को भी चुनौती देती हुई हिन्दू सेना घने जंगलों को पार करती और उच्चतम पर्वत मालाओं को लांघती आगे बढ़ती रही और सहसा ही १७२९ ई० में जयपुर के निकट मुहम्मद खाँ बंगश पर

टट पड़ी। जयपुर की रणस्थली में बंगश केवल पराजित ही नहीं हुआ अपितु मुसलमानों का यह "रणसिंह" अपने प्राणों की रक्षार्थ रणभूमि को छोड़कर ही पीठ दिखाता हुआ पलायन कर गया। इस प्रकार पुनः सम्पूर्ण मालवा और बुन्देलखण्ड की धरती पर विजयी हिन्दुओं की पावन पताका फहरा उठी। वृद्ध बुन्देला सरदार छत्रसाल ने पुनः नितान्त धूमधाम से अपनी राजधानी में प्रवेश किया और उसी प्रजा ने भी अपने जनप्रिय नेता के श्री चरणों में पलक पाँवड़े बिछा दिये। सम्पूर्ण नगर आनन्द सागर की तरंगों में तरंगित हो उठा तथा मराठों की तोपों की जय गर्जना से सम्पूर्ण राजधानी गुंजित हो उठी।

वृद्ध सेनानी भी मराठों के इतने अधिक कृतज्ञ हो गये कि उन्होंने तो बाजीराव को अपने तृतीय पुत्र के रूप में ही स्वीकार कर लिया। जब महाराज छत्रसाल का निधन हुआ तो उनकी अन्तिम इच्छा के अनुरूप उनके राज्य का तृतीयांश भी बाजीराव को प्रदान कर दिया गया।

यह एक ही हृदयस्पर्शी घटना इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त है कि मराठों के सिद्धान्त और आदर्श कितने पुनीत थे जिनसे प्रेरित होकर वे कर्मभूमि में उतरे थे। इसी कारण बाजीराव के वंशजों में भी व्यक्तिगत तथा प्रान्तीय भेदभाव समूल नष्ट हो गया और वे अपने आपको एक जाति, एक रक्त और एक ही पावन धर्म के सुदृढ़ सूत्र में बँधा हुआ अनुभव करने लगे। इन उच्च आदर्शों ने ही उन्हें इतना प्रभावित किया कि उनके हृदय हिन्दू स्वातन्त्र्य की पावन भावनाओं से आप्लावित हो उठे और वे एक शक्तिशाली हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना के महान् ध्येय को साकार स्वरूप प्रदान करने हेतु और भी अधिक सक्रिय हो गये।

मालवा और बुन्देलखण्ड से तृतीय मुसलमान शासक के पलायन के फलस्वरूप इस सम्पूर्ण प्रदेश का स्वामित्व मराठों के अधिकार में आ

गया। इसकी उपलब्धि से उन्हें एक ऐसा स्थान प्राप्त हो गया जहाँ से वे हिन्दू स्वातन्त्र्य के इस पावन संग्राम को मुगल साम्राज्य के ठीक हृदय स्थल में ही आरम्भ करने हेतु कृत संकल्प हो उठे।

मालवा और बुन्देलखण्ड में जब यह संघर्ष चल रहे थे उन्हीं दिनों मराठा सेनाओं और नेताओं ने गुजरात राज्य में भी शानदार सफलताएँ अर्जित की थीं। पीलाजी गायकवाड़, कन्थाजी बाण्डे और अंत में स्वयं चीमाजी अप्पा ने मुसलमानी सेनाओं के गौरव को इस सीमा तक धूल-धूसरित कर देने में सफलता प्राप्त कर ली थी कि वहाँ का मुगल शासक मराठों को "चौथ" और "सरदेशमुखी' चुकाने की शर्त पर सन्धि करने के लिए मजबूर हो गया। किन्तु मुगल सम्राट् मराठों की इस विजय और अपने सरदारों की इस अपमानजनक पराजय से नितान्त क्षुब्ध हो गया था और अब उसने गुजरात से मराठों को निष्कासित करने हेतु सेनापति अभयसिंह को नियुक्त कर दिया। अभयसिंह जयसिंह से सर्वथा प्रतिकूल स्वभाव का व्यक्ति था और उसे आत्मप्रतिष्ठा और स्वार्थ भावना ने इतना अंधा कर दिया था कि उसने हिन्दुओं की स्वतन्त्रता हेतु प्राण विसर्जित करने वाले हिन्दुओं का नेतृत्व करने के स्थान पर मुगलों की दासता को ही श्रेयस्कर समझा। वस्तुतः महाराष्ट्र मण्डल ही एकमात्र संगठित शक्ति थी जिसके नेतृत्व में हिन्दू जनता अपना स्वातन्त्र्य संग्राम सम्पूर्ण कर पाने में सफल हो सकती थी। व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं से अंधा होकर अभयसिंह मुगल सम्राट् का निर्देश पा गुजरात पर चढ़ आया। उसे स्वार्थ भावना ने इतना अंधा बना दिया था कि उसने सन्धि के बहाने से मराठा सरदार पीलाजी गायकवाड़ को डाकोर नामक पवित्र हिन्दू तीर्थ स्थल में वार्ता करने हेतु निमन्त्रित किया। एक राजपूत के वचनों और उस स्थल की पवित्रता पर विश्वास कर पीलाजी गायकवाड़ डाकोर पहुँच गये। किन्तु वहाँ पहुँचते ही धर्मद्रोही और कुलघाती अभयसिंह ने धोखा देकर पीलाजी की हत्या कर दी।

परन्तु शीघ्र हीं अभयसिंह को इस तथ्य की अनुभूति भी हो गई कि पीलाजी की हत्या करके उसने केवल एक जघन्य अपराध मात्र ही नहीं किया है अपितु उसके द्वारा एक महान् भूल भी कर दी गई है।

किसी एक नेता के कहीं पर बलिदान हो जाने मात्र से मराठों में निराशा उत्पन्न होने का तो कारण ही उपस्थित नहीं होता था। क्योंकि युद्ध और मृत्यु का आलिंगन तो उनके लिए बालकों का खेल मात्र था। उनका तो पालन-पोषण ही शस्त्रों की झंकारों में हुआ था और तलवारों की छाया में ही उन्होंने यौवन के दर्शन किये थे।

यह बात भी उल्लेखनीय है कि मालवा एवं बुन्देलखण्ड के समान ही गुजरात के हिन्दुओं ने भी मराठों को अपनी सहायतार्थ पुकारा वे उनसे सहानुभूति मात्र ही नहीं रखते थे, अपितु उन्होंने भी महाराष्ट्र मण्डल की पावन भगवी पताका तले सक्रिय रूप से रणभूमी में संघर्ष किये थे। पीलाजी की धोखे से हत्या कर दिये जाने के क्षोभजनक समाचार ने गुजरात की कोली, भील तथा वाघीर आदि सैनिक हिन्दू जातियों के हृदय दग्ध कर दिये और वे पीलाजी की हत्या का बदला लेने के लिए कृत-संकल्प हो गये। क्योंकि पीलाजी उनके भी प्राणप्रिय नेता थे। मुगलों से प्रतिकार लेने की ज्वाला प्रत्येक स्वाभिमानी हिन्दू हृदय में धधक उठी। मराठे भी चारों ओर से गुजरात पर चढ़ दौड़े और उन्होंने १७३२ ई० में बड़ौदा पर अपनी विजय पताका फहरा दी। बड़ौदा आज तक भी गुजरात में मराठों की राजधानी बना रहा है। अभयसिंह के लिए अपने पाँव जमाना भी असंभव हो गया। इधर दादाजी गायकवाड़ ने अभयसिंह की पैतृक राजधानी जोधपुर पर अपनी विजयी सेनाएँ चढ़ा दीं। जोधपुर पर चढ़ाई होने का समाचार प्राप्त होते ही अभयसिंह की निर्भयता और वीरता कूँच कर गई और गुजरात से मराठों को निष्कासित करने के स्थान पर उसे स्वयं ही अपनी राजधानी की रक्षार्थ वापस लौट जाना पड़ा। वहाँ से दादाजी गायकवाड़ सहसा ही मुड़े और उन्होंने

अपनी कुशाग्र बुद्धि से काम लेकर अहमदाबाद पर परम पवित्र भगवा-ध्वज फहरा दिया। अब मराठों को गुजरात से निकाल देने की कल्पना को पूर्ण करना तो बहुत बड़ी बात थी स्वयं अभयसिंह के लिए भी गुजरात से पुनः वापस लौटना सँभव नहीं हो पाया। इस प्रकार १७३५ ई० तक गुजरात के लगभग सम्पूर्ण क्षेत्र से मुगल साम्राज्य की अन्त्येष्टि हो गई और मुगल सम्राट् की आशाओं पर भी प्रचण्ड तुषारापात ही हो गया।

६

हिन्दू महासागर की स्वतंत्रता हेतु...

"आरमार एक स्वतन्त्र राज्यांगच आहे, ज्याचे जवल आरमार त्याचा समुद्र......जलदुर्गसहित होते त्यास नूतनच जलदुर्ग करुन पराभविले।"

—रामचन्द्र पन्त अमात्य—राजनीति

[सामुद्रिक बेड़ा एक स्वतन्त्र राज्य का आवश्यक अंग है। जिसके पास शक्तिशाली जलयान समूह है वही समुद्र पर स्वामित्व स्थापित कर सकता है।...जिन शत्रुओं के पास जलदुर्ग हैं उनको पराजित करने हेतु नवीनतम जलदुर्गों का निर्माण आवश्यक होता है।]

हिन्दू भूमि की स्वतन्त्रता हेतु जब मराठे मुगल साम्राज्य के वक्ष-स्थल को बींध रहे थे उसी समय वे हिन्दू सागरों की स्वतन्त्रता की दिशा में भी पूर्णतः सक्रिय थे और इस सम्बन्ध में कठोर परिश्रम में संलग्न थे। क्योंकि हिन्दू सागरों पर विदेशी आधिपत्य के कारण उन्हें पश्चिम की ओर से संकट उपस्थित था। वे इस तथ्य से भली-भाँति अवगत थे कि जिस भाँति मुगल स्थल पर आधिपत्य जमाकर हिन्दू साम्राज्य के लिए संकट बने हुए थे उसी भाँति उन्हें यूरोप के उन व्यापारियों की ओर से भी संकट का सामना करना पड़ेगा जो उस समय व्यापार के नाम पर हिन्दू सागरों में अपने जलयान लेकर आ रहे थे। शिवाजी तथा उनके वंशज यूरोपीय व्यापारियों की आकांक्षाओं तथा लोभ को धूल-धूसरित करने के सम्बन्ध में कितने अधिक सतर्क तथा सचेत थे इसकी अभिव्यक्ति सुप्रसिद्ध मराठा नेता तथा राजनीतिज्ञ रामचन्द्र पन्त द्वारा राजनीति के संबंध में लिखित ग्रंथ से भली भाँति हो जाती है। यह ग्रंथ मराठों के सामान्य ज्ञान के वर्धन हेतु मराठा मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रकाशित कराया गया था। शिवाजी अपने समय की परि-

स्थितियों में समुद्र तट की विदेशियों से रक्षार्थ जितना अधिक शक्ति जुटा सकते थे वह जुटाकर समुद्र तट की रक्षा करने में दत्तचित्त रहे। उन्होंने एक शक्तिशाली मराठा नौसेना की स्थापना की। उन्होंने इस सेना को सहायतार्थ एक नवीन सुसज्जित जलदुर्गों की शृंखला भी निर्मित की। जिनके कारण हिन्दू महासागर लगभग १०० वर्ष तक स्वतंत्र एवं सुरक्षित बना रहा।

औरंगजेब ने जब राजाराम के समय में सम्पूर्ण दक्षिण को रौंद डाला तब मराठों में इतनी शक्ति नहीं रह गई थी कि वे संगठित रूप में मुगलों का सामना करते, किन्तु जब और जहाँ अवसर प्राप्त हुआ उनमें से प्रत्येक ने समान शत्रु के विरुद्ध संघर्ष को सतत चलाए रखा। मुगलों को सागर तटों से भगाने का उत्तरदायित्व कान्होजी आंग्रे तथा गूजरों आदि मराठा नौसैनिकों ने सँभाला। उन्होने अपने दायित्व का इतनी योग्यता सहित निर्वाह किया कि अंग्रेज, पुर्तगाली, डच अथवा सिद्दी या मुगल अलग-अलग अथवा संगठित होकर भी मराठों की बढ़ती हुई नौ-सैनिक शक्तियों को न तो समाप्त ही कर सके और न ही उसकी गति को अवरुद्ध करने में उन्हें सफलता मिल सकी। अंग्रेजों को पर्याप्त हानि उठानी पड़ी क्योंकि बम्बई से केवल १६ मील की दूरी पर ही खण्डेरी द्वीप पर मराठा नौसैनिक सेनापति कान्होजी आंग्रे आधिपत्य जमाये हुए थे। वे इस तथ्य से सुपरिचित थे कि यदि मराठा नौसेना नायक जंजीरा के सिद्दी मुसलमानों से पूर्णतः स्वतन्त्र रहा तो यह अवश्यम्भावी है कि वह हमारी शक्ति का सर्वनाश करने में सफल हो जाएगा और साथ ही मराठों के उदय से भी पूर्व जिस पुर्तगाली सता ने पश्चिमी सागर तट पर अपने विजयकेतु फहराए हैं वह भी मराठों के आगे न ठहर सकेगी।

इन सब शत्रुओं के विरुद्ध अपने अधिकार को सुस्थिर रखने के लिए कान्होजी आंग्रे के लिए एक विपुल सेना रखनी अनिवार्य ही थी। इस विशाल वाहिनी को वेतन चुकाने हेतु आंग्रे को उन जलयानोंसेचौथ

वसूल करनी होती थी जो अरब सागर में आते थे। मराठों का अपने आपको हिन्दू सागरों का स्वामी समझना उचित ही था और उनके लिए यह भी स्वाभाविक ही था कि वे हिन्दू सागरों में अपने जलयान लेकर आने वाले विदेशियों से चौथ वसूल करें जो उनकी अनुमति से अथवा अनुमति के बिना आते थे। किन्तु मराठों के इस दावे का ब्रिटिश तथा अन्य यूरोपियनो ने विरोध किया। उनके इस विरोध के फलस्वरूप मराठा नौ सेना नायक कान्होजी आंग्रे के लिए उनके जलयानों को सम्पूर्ण सामग्री और उन पर सवार यात्रियों सहित रोक लेना चौथ अदा करने के लिए उन्हें मजबूर बनाना ही एकमात्र विकल्प रह गया था। सन् १७१५ ई० में चार्ल्स बून को अंग्रेज राज्य सत्ता ने बम्बई प्रदेश में अपना गवर्नर के रूप में नियुक्त किया। आंग्रे के सुदृढ़ दुर्ग को तोड़ना ही उसने अपना लक्ष्य बनाया।

चार्ल्स बून को अपनी वीरता पर नितान्त गर्व था और वह आत्मप्रसिद्धि को भी एक महान् कला समझता था। उसने बम्बई पहुँचते ही एक सशक्त नौसेना का गठन कर मराठों के विजय दुर्ग बन्दरगाह पर आक्रमण कर दिया। अंग्रेज क्रोध से दग्ध हो रहे थे। मराठों के इस दुर्ग को धूल-धूसरित करने के लिए उनमें कितना अधिक क्रोध व्याप्त था इसकी साक्षी उन जलयानों के नाम मात्र से ही मिल जाती है; जिनका इस चढ़ाई में अंग्रेजों ने उपयोग किया था। ये जलयान (जहाज) थे "हण्टर" (शिकारी) हॉक (बाज) तथा रिवेन्ज (प्रतिशोध) और विक्ट्री (विजय)। इन जलयानों पर सवार सैनिकों के अतिरिक्त मराठा दुर्ग पर आक्रमण करने हेतु अंग्रेजी सेना के बहुत से सैनिक पैदल भी आये थे। इस पैदल दल में चुने हुए अंग्रेज सम्मिलित थे। इस दल का गठन ही मराठों के सामुद्रिक दुर्ग को भस्मीभूत करने की आकांक्षा से अंग्रेज गवर्नर द्वारा भेजी गई सेना की सहायतार्थ किया गया था। चार्ल्स बून इस प्रचण्ड और शक्तिशाली वाहिनी के द्वारा मराठों के जल दुर्ग को

अपने अधिकार में लेकर अपने राष्ट्र की कीर्ति पताका फहराने का दिवा स्वप्न पूर्ण करने का अभिलाषी था।

अतः एक ओर से जलयानों में सवार अंग्रेज सेना ने मराठा दुर्ग पर आक्रमण किया तो दूसरी ओर से विशेष रूप से चढ़ाई के लिए ही गठित किया गया पैदल दल दुर्ग पर चढ़ दौड़ा। १७ अप्रैल १७१७ ई० को क्रुद्ध अंग्रेज सेनाओं ने मराठा दुर्ग पर अपनी तोपों के गोलों की बौछार आरम्भ कर दी। परन्तु अंग्रेजों की आशा और दिवास्वप्न शीघ्र धूल-धूसरित होने लगा। उन्हें कुछ क्षणों में ही इस तथ्य की अनुभूति हो गई कि मराठों का यह दुर्ग मोम द्वारा निर्मित नहीं है जिसे अंग्रेजों की तोपों की गर्मी पिघला देने में सफल हो जायगी, अपितु यह विशाल दुर्ग सर्व-विधि सुरक्षित रूप में निर्मित किया गया है, जिसके चारों ओर प्रचण्ड अग्निवर्षण करने में समर्थ तोपखाना लगा हुआ है। अंग्रेज सैनिकों ने दुर्ग की दीवार को पार करने का घोर प्रयास किया किन्तु उनका प्रत्येक बार किया गया प्रयास उनके उत्साह के घोड़ों को दुम दबाकर भाग जाने के लिए ही प्रेरित करता रहा। मराठा दुर्ग की प्राचीरों पर लगी हुई तोपों ने प्रचण्ड अग्निवर्षा कर उनके सारे सपने धूल में मिला दिये।

इस प्रकार अपनी पराजय को सन्निकट जानकर अंग्रेज सैनिक क्षुब्ध हो उठे। उनके लाल मुख क्रोध के फलस्वरूप और अधिक लाल हो उठे, वे जी जान से आक्रमण में जुट गये। किन्तु मराठों ने शीघ्र ही उनकी आकांक्षाओं को धूल-धूसरित कर उन्हें पीछे हटने पर मजबूर बना दिया। जब अंग्रेज सैनिकों के पैर रणभूमि से उखड़ गये तब मराठों का प्रचण्ड तोपखाना और उनके रणशूर सिपाहियों की गोलियाँ विदेशी आक्रांताओं के मस्तक छेदने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी सेना जितनी अधिक तीव्रता सहित मराठा दुर्ग पर चढ़ आई थी उससे भी अधिक शीघ्रता सहित अपने प्राणों की रक्षार्थ पलायन करने लगी।

अगले वर्ष बून ने खाण्डेरी द्वीप पर आक्रमण किया, किन्तु वहाँ भी

उसके पल्ले पड़ी कोरी पराजय और पराजित होकर पलायन करना। इस प्रकार अंग्रेजी शक्ति के विरुद्ध भारत में मराठों का प्रचण्ड शौर्य दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। उनकी इस प्रचण्ड शक्ति-वृद्धि से ब्रिटिश गवर्नर थर्रा उठा और उसने ब्रिटिश सम्राट् पर इस बात के लिए जोर दिया कि वह एक प्रचण्ड जहाजी बेड़ा उसकी सहायता हेतु भेजे। ब्रिटिश सम्राट् ने उसकी सहायतार्थ सुप्रसिद्ध अंग्रेज सेनापति मैथ्यू के नेतृत्व में एक विशाल युद्ध बेड़ा, जिसके साथ ही चार अन्य युद्ध पोत भी थे भारत की ओर भेज दिया। इतना ही नहीं मराठों की शक्ति को कुचल देने की आकांक्षा की पूर्ति हेतु अंग्रेजों ने पुर्तगालियों को भी मराठों के विरुद्ध युद्ध करने हेतु निमन्त्रित किया। पुर्तगालियों ने भी अंग्रेजों के इस निमंत्रण को सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अंग्रेज और पुर्तगाली दोनों ने ही स्वातन्त्र्य प्रेमी मराठों के दमन की दुरभिसन्धि कर भारत की ओर प्रस्थान कर दिया।

यूरोप के दो महान् शक्तिशाली राष्ट्रों ने १७२१ ई० में मराठों पर संयुक्त रूप से आक्रमण कर दिया। किन्तु वीर मराठे इतनी बुद्धिमत्ता तथा प्रचण्ड वीरता सहित लड़े कि यूरोप के इन लड़ाकों के अरमान मराठों के दुर्ग की प्राचीरों से टकराकर ही ढेर हो गये। मराठों ने इन विदेशियों की सेनाओं का जल और स्थल दोनों मार्गों पर ही सफल प्रतिरोध किया। मराठों के प्रचण्ड रण-कौशल ने अंग्रेज सेनापति मैथ्यू के क्रोध में घृत डाल दिया और वह विजय का अन्तिम प्रयास करने के लिए अपनी सेनाओं को उत्साहित करता हुआ स्वयं ही दुर्ग की ओर बढ़ा। जिस समय वह आगे बढ़ रहा था उसी समय एक वीर मराठा सैनिक ने अपनी संगीन मैथ्यू की जांघ में घुसा दी। किन्तु मैथ्यू एक संगीन के आघात मात्र से साहस खो बैठने वाला नहीं था, अतः उसने भी आक्रमणकारी मराठा सिपाही का पीछा किया। उसने मराठा सैनिक पर अपनी पिस्तौल से दो फायर किये किन्तु वे दोनों ही निरर्थक हो

गये क्योंकि वह शीघ्रता और क्रोध के वशीभूत होश-हवाश खो-बैठने के कारण पिस्तौल भरना ही भूल गया था। यूरोप के इन मित्र राष्ट्रों की सेना की भी वही दशा हुई जो उनके सेनापति की हुई थी। जब विदेशी सिपाही अपने प्राणों की बाजी लगाकर दुर्ग पर विजय प्राप्ति की कल्पना से दुर्ग की प्राचीर के समीप घोर युद्ध करने लगे तो मराठों ने भी नितान्त बुद्धिमत्ता और उत्साह सहित उनका प्रतिरोध किया और वह प्रतिरोध भी इतना भयंकर कि शत्रु दल चीखता-पुकारता रण-भूमि से पलायन करने लगा। ठीक उसी समय मराठों की सुरक्षित सेना भी सहसा ही पीछे से आकर पुर्तगालियों की उस सेना पर चढ़ दौड़ी जो बाहरी मोर्चे पर तैनात थी। मराठों के प्रचण्ड आक्रमण का प्रतिरोध कर पाने में अपने को सर्वथा असफल पाकर पुर्तगाली सैनिक पलायन करने लगे और यथाशीघ्र अंग्रेज सैनिकों ने भी अपने इन मित्रों का ही अनुसरण किया। इस प्रकार अंग्रेज और पुर्तगाली सैनिकों में मानो पलायन करते हुए एक दूसरे से आगे निकल जाने के लिए होड़-सी लग गई। वे भागे तो सही किन्तु भागने के साथ अपनी बन्दूकें ही नहीं अपितु अन्य युद्ध-सामग्री भी वीर मराठों के चरण कमलों में ही समर्पित कर गये। किन्तु अभी भी शायद विदेशी सेनाओं में लड़ने का थोड़ा-बहुत उत्साह अवशिष्ट था। अतः वह उन्होंने आपस में ही वाद-विवाद कर एक दूसरे पर दोषारोपण करते हुए पूर्ण कर लिया। इस प्रकार इस युद्ध की पूर्णाहुति भी पड़ गई। और एक दूसरे को पराजय का उत्तरदायी बताती हुई पुर्तगाली सेनाएँ चौल की ओर ब्रिटिश सेना बम्बई में अपना मुख छिपाने के लिए चली गई। बहुत दिनों तक अंग्रेजी कम्पनी के व्यापारिक जलयानों को एक युद्धपोत के साथ ही लाया जाता रहा क्योंकि उन्हें आशंका बनी रहती थी कि कहीं मराठों की नौसेना के सेनापतियों के हाथों बन्दी बनकर उन्हें "चौथ" का अभिशाप न सहन करना पड़े। किन्तु कुछ दिनों के उपरान्त ही अंग्रेजों का विक्ट्री (विजय) जलपोत

भी उसी प्रकार हताश हो गया जिस भाँति अंग्रेज सेनापति पिस्तौल में गोलियाँ भरना भूल गया था और "रिवेन्ज" (प्रतिकार) जलपोत बदला लेना तो दूर रहा स्वयं मराठों के हाथों बन्दी बना लिया गया। इस भाँति अंग्रेजों के "विक्ट्री" और "रिवेन्ज" दोनों को ही मराठों ने अपनी हिरासत में लेकर रोकने में सफलता प्राप्त कर ली। १७२४ ई० में डचों को भी अंग्रेजों के समान ही दुर्भाग्य के दिन देखने पड़े। उन्होंने सात युद्धपोत, दो बम वर्षक जलयान एवं सेना सहित मराठों के विजय दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। किन्तु वे भी मराठों के दुर्गों से सिर मारकर अपने सिर ही तुड़वा बैठे और उनको भी मिली केवल पराजय और पराजय। अब मराठा नौसेना के सेनापति हिन्दू महासागरों की उत्ताल जल तरंगों पर अपनी पताका स्वतन्त्रता सहित फ़हराते हुए घूमने लगे और उनको चुनौती देने का साहस भी कोई न कर सका। मराठा नौसेना के सेनापति ने यह सफलता कोंकण में सिद्दी से, दक्षिण में निजाम से और गुजरात, मालवा तथा बुन्देलखण्ड में मुगलों से संघर्ष करते हुए भी प्राप्त की।

१७२९ ई० में मराठा नौसेना के सेनापति कान्होजी आँग्रे का देहान्त हो गया। किन्तु उसी समय एक अन्य महापुरुष का राजनैतिक रंगमंच पर अवतरण हुआ। इस महापुरुष ने शीघ्र ही अपनी वीरता और रण-कौशल का प्रभाव महाराष्ट्र मण्डल के नेताओं के मस्तिष्क पर डालना आरम्भ कर दिया। निसन्देह ही इस महापुरुष ने मराठा जाति को अपने महान ध्येय पथ से विचलित नहीं होने दिया और इसका प्रचण्ड शौर्य उन्हें प्रेरणा प्रदान करने लगा। यह महापुरुष थे श्री ब्रह्मेन्द्र स्वामी। वे शाहू, बाजीराव, चीमाजी तथा आँग्रे एवं अन्य सहस्रों मराठा देशभक्तों के गुरु और पूज्य थे। निस्सन्देह ही उनका जीवन भी देशभक्ति की श्रेष्ठतम भावनाओं और सिद्धान्तों से परिपूरित था। उन्होंने अपनी जाति को आध्यात्मिक और नैतिक प्रेरणा तो दी ही साथ ही उसे स्वधर्म और

स्वराज्य की स्थापना के पावन पथ से भी कदापि न भटकने दिया। वे सदैव ही इन महान् सिद्धान्तों को वीर मराठों के सम्मुख रखकर उन्हें प्रेरणा प्रदान करते रहे। ब्रह्मेन्द्र स्वामी ने अपनी युवावस्था में ही घोर तपस्या एवं योग साधना की थी। वे प्रतिवर्ष एक मास के लिए भूगर्भ में समाधि लगाया करते थे। उन्होंने समर्थ स्वामी रामदास के समान ही सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया था और वे लगभग प्रत्येक हिन्दू तीर्थ की यात्रा कर आये थे। इस भाँति अपने इस भ्रमण के द्वारा उन्होंने समग्र हिन्दुस्थान में हिन्दू जाति की पराधीनता और राजनीतिक दासता की पीड़ा का भली-भाँति अनुभव किया था। यद्यपि उनके हृदय में देश-भक्ति की प्रचण्ड अग्नि विद्यमान थी किन्तु उसके भड़कने के लिए उस पर घृत की आवश्यकता थी। अग्नि में घृत डालकर उसे प्रज्वलित करने की यह प्रक्रिया भी उस दिन पूर्ण हो गई जिस दिन जंजीरा के मुस्लिम शासकों ने ब्रह्मेन्द्र स्वामी की आराधनास्थली भगवान परशुराम के पावन मन्दिर को गिरा दिया। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि सिद्दी शासक महाराष्ट्र मण्डल के कट्टर शत्रु थे। वे इस तथ्य से भली-भाँति अवगत थे कि यदि मराठों की शक्ति इसी भाँति दिन-प्रतिदिन वृद्धि पाती गई तो एक-न-एक दिन कोंकण से मुस्लिम शासन का अन्त अवश्यमेव हो जायगा। इसीलिए वे सदैव ही मराठों के विरुद्ध अंग्रेजों, डचों तथा पुर्तगालियों को सहायता देते रहते थे। इतना ही नहीं अपितु स्वयं भी मराठों के प्रदेश पर यदा-कदा आक्रमण कर दिया करते थे। आक्रमण मात्र से ही उन्हें सन्तोष नहीं अपितु वे भी धर्मान्ध मुसलमानों के समान ही सैकड़ों हिन्दू बालक और बालिकाओं का अपहरण करते थे और घृणिततम अत्याचारों के साथ-ही-साथ हिन्दू मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट करना भी वे अपने धार्मिक जोश की ही अभिव्यक्ति मानते थे।

धर्मान्धता के जीवित जाग्रत पुतले इन सिद्दी शासकों ने ब्रह्मेन्द्र स्वामी की आराध्य-स्थली भगवान परशुराम के मन्दिर को भी खण्ड-

खण्डित कर दिया। मुसलमानों ने हिन्दुओं पर अवर्णनीय अत्याचार किये। इस देवालय की मुस्लिम आक्रमणकारियों ने ईंट-से-ईंट बजा दी, मन्दिर का सम्पूर्ण कोष लूट लिया गया। ब्राह्मणों को भी यथा सामर्थ्य सताया गया। अत्याचारों की इस प्रचण्ड आँधी ने ब्रह्मेन्द्र स्वामी के हृदय की सुप्त अग्नि को प्रज्वलित कर दिया और वह अग्नि इस भाँति प्रज्वलित हुई कि उसमें हिन्दु साधुओं का अच्छे-बुरे सभी के प्रति समान भाव रखने की अति का दोष भी जलकर क्षार-क्षार हो गया। क्योंकि इससे पूर्व ब्रह्मेन्द्र स्वामी भी इसी दोष से ग्रस्त थे। अब उन्होंने भी अपना सम्पूर्ण जीवन हिन्दुओं की मुक्ति तथा स्वतन्त्रता की पुर्नस्थापना के पुनीत कार्य में ही पूर्णतः लगा देने का महान् संकल्प ग्रहण कर लिया। ब्रह्मेन्द्र स्वामी का जन-साधारण में इतना व्यापक प्रभाव था कि सिद्दी शासक भी उन्हें खुले रूप में अपना शत्रु बनाने का साहस न कर सका। उसने स्वामीजी से गिड़गिड़ाते हुए अनुरोध किया कि आप स्वतन्त्रता पूर्वक परशुराम देवालय में ही रहें और उसने उन्हें यह वचन भी दिया कि भविष्य में उन्हें किसी प्रकार की हानि पहुँचाने का कुकृत्य कदापि नहीं किया जायगा। किन्तु ब्रह्मेन्द्र स्वामी ने सिद्दी शासक को प्रत्युत्तर देते हुए कहा कि "तुमने देवताओं और ब्राह्मणों को अपने अत्याचारों की आँधी में रौंदा है। अब वे भी उसी प्रकार से प्रतिकार करते हुए तुम्हारा सर्वनाश कर सकते हैं।" सरदार आँग्रे ने भी उन्हें सांन्त्वना देते हुए उनसे कोंकण में ही निवास करने का आग्रह किया। किन्तु उसके इस अनुरोध के उत्तर में ब्रह्मेन्द्र स्वामी की गम्भीर वाणी गूँज उठी और उन्होंने कहा कि "मैं उस भूमि का एक जल कण तक भी ग्रहण नहीं करूँगा जिस पर अत्याचारी तथा धर्मद्रोही विदेशियों ने अधिकार जमाया हुआ है। मैं कोंकण में पुनः प्रवेश तो अवश्यमेव करूँगा किन्तु उसी स्थिति में जब मेरे साथ होगी हिन्दुओं का प्रतिकार लेने में समर्थ और सक्षम सेना।"

उसको उपरोक्त उत्तर देकर ब्रह्मेन्द्र स्वामी ने सतारा की ओर प्रस्थान कर दिया। तदुपरान्त वे निरन्तर हिन्दुओं के विधर्मी शत्रुओं के विरुद्ध और विशेष रूप से जंजीरा के सिद्दियों और गोवा के पुर्तगालियों के विरुद्ध जनता में धर्मयुद्ध आरम्भ करने के प्रचार में ही लगे रहे। उनका यह पत्र-व्यवहार भी आज पाठकों के पढ़ने हेतु उपलब्ध है जिसपर दृष्टिपात करते ही यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने हिन्दुस्थान को स्वतन्त्र करने एवं हिन्दुत्व को बन्धन मुक्त करने के मराठे को सत्-संकल्प की पावन अग्नि को किस-भाँति जन-जन के अन्तःकरण में कश्मीर की सुरम्य घाटियों से लेकर कन्या कुमारी तक के उस पावन भूखण्ड तक प्रज्वलित किया था जहाँ हिन्दू महासागर की उत्ताल तरंगें इस पुण्य भूमि के अहर्निश चरण पखारती रहती हैं।

ब्रह्मेन्द्र स्वामी के शिष्य शाहू और बाजीराव ने शीघ्र ही अत्याचारी सिद्दी शासकों से प्रतिशोध लेने का संकल्प ग्रहण कर मराठा सरदारों के साथ मिलकर योजना बनानी आरम्भ कर दी। सम्पूर्ण कोंकण में ही उन्होंने सिद्दी शासकों तथा पुर्तगालियों के विरुद्ध एक प्रचण्ड अभियान की आधारशिला रख दी। वे सिद्दी शासक और पुर्तगालियों से समर भूमि में दो-दो हाथ करने का उचित अवसर खोजने लगे। दिल्ली से आकर उन्हें एक साथ ही कई शत्रु शक्तियों को समरांगण में चुनौती देकर लोहा लेना पड़ रहा था इसीलिए वे उचित घड़ी की प्रतिक्षा में लगे रहे। ठीक उन्हीं दिनों सिद्दी शासकों में राज्य सिंहासन की प्राप्ति हेतु आन्तरिक संघर्ष के नगाड़े बज उठे। राज्य सिंहासन के एक दावेदार ने मराठों से सहायता के लिए याचना की।

मराठा सेनापति ने भी इस निमन्त्रण को एक वरदान मानकर उसे सहायता का आश्वासन देकर शाहू को सूचित किया कि मराठा कूटनीति सफल सिद्ध हो गई है। महाराज शाहू इस सूचना को प्राप्त करते ही इतने अधिक उत्साहित हो गये कि उन्होंने बाजीराव को यह आदेश दे

दिया था कि "इस पत्र को मत पढ़ो, पहले अपने घोड़े पर सवार हो जाओ तदुपरान्त यह पत्र पढ़ना। १७७३ ई० में युद्ध प्रारम्भ हो गया और मराठा सेना ने सह्याद्रि पर्वत मालाओं से नीचे उतरकर तला-घोसला के दुर्ग पर अपनी विजय वैजन्ती फहरा दी। इतना ही नहीं अपितु सिद्दियों की पराधीनता से त्रस्त प्रदेश पर भी वे अधिकार करने लग गये। मुस्लिम सेनाओं को एक के बाद दूसरे रणक्षेत्र में पराजित करते हुए महाबली बाजीराव ने रायगढ़ दुर्ग पर भी पुनः पावन भगवा ध्वज फहरा दिया। यह दुर्ग ही वह सुप्रसिद्ध स्थली है जहाँ छत्रपति शिवाजी महाराज का राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ था, जो स्वातन्त्र्य संग्राम होने के बाद से अभी तक मुसलमानों के ही अधिकार में चला आ रहा था। अपने महान् महाराज की राजधानी को पुनः प्राप्त कर लेने के उत्साहपूर्ण समाचार ने समग्र महाराष्ट्र में प्रसन्नता की पुनीत गंगा प्रवाहित कर दी। इधर मराठों का सागर पर विजय अभियान भी पूर्ण वेग सहित चल रहा था। मानाजी आँग्रे ने सिद्दी शासक के युद्धपोत को पूर्णतः पराजित करने में भी सफलता प्राप्त कर ली थी। मराठा सेनापति के हाथों सिद्दी की पराजय के समाचार से अंग्रेज भी काँप उठे। उन्होंने सिद्दी शासक को शस्त्रास्त्रों के रूप में सहायता देनी ही आरम्भ नहीं की अपितु कप्तान हाल्डेन के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना भी उसकी सहायतार्थ भेज दी। जिससे कि मराठों का प्रतिशोध किया जा सके। किन्तु खाण्डोजी नरहर, खार्डे, मोरे, मोहिते जैसे वीर सेनानियों ही नहीं अपितु मथुराबाई आँग्रे जैसी वीर महिलाओं ने भी हिन्दुओं के इस स्वातन्त्र संग्राम को निरन्तर जारी रखा। वीर महिला मथुराबाई के हृदय में देशभक्ति की भावनाएँ किस भाँति हिलोरें ले रही थीं, वे हिन्दू भूमि को विदेशियों से मुक्त कराने और पावन हिन्दू पताका को भारत के ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में सम्मान सहित फहराते हुए देखने के लिए कितनी उत्कंठित थी इसका परिचय ब्रह्मेन्द्र स्वामी के साथ हुए उनके पत्र-व्यवहार से प्राप्त हो

सकता है। यह संग्राम अबाध गति से चलता रहा और अन्ततः १७३६ ई० में चीमाजी अप्पा का रंगमंच पर उदय हुआ और उन्होंने रेवास के निकट अबीसीनियाई सेना पर उल्लेखनीय विजय प्राप्त की। अबीसीनियाई सेना के उस अरब नेता का भी सिर उतार लिया गया जिसके हिन्दू-द्रोह की अग्नि में ब्रह्मेन्द्र स्वामी की तपस्या स्थली भगवान परशुराम का पावन मन्दिर एक दिन खण्ड-खण्ड होकर रह गया था। इस भाँति उसे उसके अत्याचार का समुचित दण्ड दे गया। इसी युद्ध में उन्देरी का मुस्लिम सेनापति तथा मुसलमानी सेना के ११ हजार सैनिकों को भी सदा के लिए सुख की नींद सुला दिया गया।

हिन्दू धर्म के शत्रुओं को पराजित कर उनकी शक्ति को धूल में मिला देने का प्रचण्ड शौर्य प्रदर्शित करने वाले महान् सेनापति चीमाजी अप्पा को सम्पूर्ण कोंकण ही नहीं अपितु समग्र महाराष्ट्र वासियों ने भी अपना आशीर्वाद प्रदान किया। अप्पा की इस विजय पर महाराज भी हर्ष विभोर हो उठे और उन्होंने अप्पाजी को बधाई देते हुए एक पत्र भेजा। जिसमें लिखा था कि :

'सिद्दिसात केवल रावणसारखा दैत्य, तो मारून हबशांचामूल कंदच उपटू न काढ़िला। चहूँकड़े लौकिक विशेषात्कारे जोडिला।'

(—मराठा रियासत मध्य विभाग पृ० २६४)

(सात् सिद्दी रावण के समान ही एक भयंकर राक्षस था। उसका वध करने में सफलता प्राप्त कर तुमने सिदियों का मूलोच्छेद ही कर दिया है। इस सफलता ने तुम्हारी ख्याति चारों दिशाओं में फैला दी है।)

छत्रपति शाहू ने इस युवक सेनापति को राजदरबार में आमन्त्रित कर बहुमूल्य उपहार और वस्त्रादि देकर उसकी मानवन्दना की। जबकि ब्रह्मेन्द्र स्वामी, जो इस युद्ध के वास्तविक प्रेरणा स्रोत थे और जिन्होंने मराठों में यदा-कदा उभर आने वाले कलह और स्पर्धा के

कारणों का उन्मूलन कर उन्हें सदैव ही हिन्दू स्वातन्त्र्य युद्ध को जारी रखने के लिए प्रोत्साहित और प्रेरित किया था, जिन्होंने मराठों को देश और धर्म के प्रति पावन कर्त्तव्यों के पूर्ण करने की दिशा में सदैव ही सक्रिय बनाये रखा था, जो इस धर्म युद्ध की नैतिक और आध्यात्मिक महत्ता से उन्हें अवगत कराते रहते थे, इस विजय पर हर्ष विभोर हो उठे। उन्हें तो ऐसे शब्द ही ढूँढने दुर्लभ हो गये जिनमें वे अपने इस महान् शिष्य को साधुवाद दे पाते। उन्होंने परम पिता परमात्मा को इस विजय के लिए उनके शिष्य को शक्ति प्रदान करने हेतु धन्यवाद दिया और यही कहा कि अन्ततः भगवान परशुराम की पवित्र भूमि स्वतन्त्र हो गई है और हिन्दू धर्म की रक्षा का पुनीत कार्य भी सम्पन्न हो गया है।

'शामलांची क्षिति केलि कोंकणात धर्म राखिला।'

इस प्रकार सिद्दी पूर्णतः परास्त हो गये और यह मुस्लिम रियासत भी हिन्दू साम्राज्य के अन्तर्गत ही आ गई और इसका महत्त्व पूर्णतः समाप्त हो गया। किन्तु अब मराठों से पुर्तगालियों को अकेले रहकर ही संघर्ष करना पड़ा। जबसे मराठा शक्ति का उदय आरम्भ हुआ था तभी से पुर्तगालियों द्वारा भारत में प्राप्त की गई सहज सफलताओं और खम्भात से लेकर श्री लंका तक सम्पूर्ण पश्चिमी सागर तट पर उनके द्वारा प्राप्त विजय की गरिमा में घुन लगाना आरम्भ हो गया था। इन पुर्तगालियों ने भी धर्मान्धता के वशीभूत भारत में मुसलमानों से कम अत्याचार नहीं किये थे। इनके अत्याचारों की तुलना भी यूरोप में स्पेन द्वारा किये गए अत्याचारों से ही की जा सकती है। जब धार्मिक उत्पीड़न की इस चक्की में एक शताब्दी तक पिसने वाले हिन्दुओं ने यह देखा कि उन्हीं के उन धर्म बन्धुओं ने जो सिद्दी शासकों की पराधीनता में जकड़े हुए थे, विदेशी सत्ता के जुए को उतार कर फेंक दिया है तथा कोंकण में अपनी स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना करने में सफलता प्राप्त कर ली है

तो उन्हें भी एक नवीन प्रेरणा और उत्साह प्राप्त हुआ। उनके हृदय में भी स्वाभाविक रूप से ही यह आकांक्षा बलवती हुई कि मराठा सेना आकर उनको भी स्वतन्त्रता प्रदान कराए। पुर्तगालियों द्वारा अधिकृत कोंकण के हिन्दुओं के समक्ष भी निराशा के अन्धकार में एक ज्योतित दीप मुस्कुरा उठा। उनमें भी देशभक्ति का सागर लहराने लगा। उन्होंने भी विधर्मी पुर्तगालियों द्वारा गोवा से हिन्दुओं को समाप्त कर देने के पागलपन का सामना छाती तानकर करने का सुसंकल्प ग्रहण कर लिया। बाजीराव की सफलता तथा मराठा सेनाओं के सीमा पर पहुँच जाने के कारण पुर्तगाली भयवश पागल से हो उठे। पुर्तगालियों ने हिन्दुओं के हृदय में उद्दीप्त नवीन आकांक्षाओं और हिन्दू आन्दोलन को कुचल देने की दुरभिसन्धि में लीन होकर हिन्दुओं का क्रूर दमन आरम्भ कर दिया। पुराने दस्तावेजों से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि पुर्तगालियों ने हिन्दू भूमिपतियों की अधिकांश सम्पत्ति राजहृत कर ली। उन्होंने हथियारों के बल पर एक-एक ग्राम को घेर-घेरकर सम्पूर्ण ग्रामवासियों को ही धर्मान्तरित करना आरम्भ कर दिया। पुर्तगाली हिन्दू बालकों को उठाकर ले जाने लगे और जिन हिन्दुओं ने अपने महान धर्म का परित्याग करना स्वीकार नहीं किया उन्हें या तो मृत्यु के घाट उतारा जाने लगा अथवा उन्हें दास बनाया जाना आरम्भ कर दिया। ब्राह्मणों के विरुद्ध तो उनकी क्रोधाग्नि विशेष रूप से भड़की। उन्हें उनके घरों में ही बन्दी बना दिया गया। हिन्दु उत्सवों का सार्वजनिक रूप में परिपालन किया जाना प्रतिबन्धित कर दिया गया। यदि कोई हिन्दू अपने घर में भी कोई धार्मिक अनुष्ठान करता था तो उसके घर को पुर्तगालियों द्वारा घेरकर परिवार के सब सदस्यों को बन्दी बना लिया जाता था। बन्दी बनाए जाने के उपरान्त उन्हें धार्मिक न्यायालयों में उपस्थित किया जाता था। वहाँ या तो उन्होंने ईसाई धर्म ग्रहण करने पर मजबूर किया जाता था या उनकी हत्या कर दी जाती थी। किन्तु इन अत्याचारों की आंधी में भी हिन्दू

नेताओं ने अपना स्वाभिमानी मस्तक नहीं झुकाया अपितु पुर्तगाली राज्य-सत्ता के इन अन्यायपूर्ण आदेशों का उल्लंघन करते रहे। पुर्तगालियों की क्रोधाग्नि में सहस्रों वीर हिन्दुओं ने आत्माहुति दे दी। अन्ततः हिन्दू जनता के नेताओं के रूप में बसाई (बेसीन) के देशमुखों तथा देसाइयों ने बाजीराव तथा छत्रपति शाहूजी के साथ गुप्त-मन्त्रणाएँ आरम्भ कर दी और उन पर इस बात के लिए बल दिया कि वे हिन्दू स्वातन्त्र्य, देश तथा धर्म के सम्मान और गौरव की वृद्धि हेतु पुर्तगालियों पर आक्रमण कर उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान कराएँ। हिन्दुओं में अग्रगण्य तथा वीर शिरोमणि मलाड के सरदेसाई अन्ताजी रघुनाथ ने तो खुले रूप में ही पुर्तगालियों के आदेशों का उल्लंघन करने का महान साहस प्रदर्शित कर दिखाया। उन्होंने धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करने के पुर्तगालियों के आदेशों का स्वयं तो निषेध किया ही, साथ ही अपनी जागीर की हिन्दू जनता को भी इस आदेश का उल्लंघन करने की प्रेरणा प्रदान की। इसका परिणाम यह हुआ है कि पुर्तगालियों की क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी और उन्होंने सरदेसाई श्री अन्ताजी रघुनाथ को भी बन्दी बना लिया। उनकी सम्पूर्ण जागीर पुर्तगालियों ने राजहृत कर ली। उन्हें गोवा के धार्मिक न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत कर दिया गया। किन्तु सभी हिन्दुओं के लिए यह परम सौभाग्य की बात थी कि यह वीर हिन्दु पुर्तगालियों के कारागार से भागकर निकल जाने में सफल हो गया। अन्ताजी रघुनाथ पुर्तगालियों के कारागार से निकल कर सकुशल पूना पहुँच गये। उन्होंने वहाँ एक गुप्त योजना तैयार की। गोवा के इस वीर सेनानी ने बाजीराव को यह विश्वास दिलाया था कि जब मराठा सेना पुर्तगाली प्रदेश में प्रवेश करेगी तो वे उसे सब प्रकार की सहायता प्रदान करेंगे तथा उसका पथ-प्रदर्शन भी करेंगे। साथ ही उन्होंने बाजीराव के समक्ष यह तथ्य व्यक्त किया कि पुर्तगाली कोंकण में निवास करने वाली सम्पूर्ण हिन्दू जाति उन्हें एक ऐसे अवतार के रूप में देखती है जिसे

हिन्दुत्व के विधर्मी शत्रुओं को दण्ड देने के लिए ही धराधाम पर भेजा गया है। उन्होंने बाजीराव को बताया कि पुर्तगाली प्रदेश की हिन्दू जनता एक मुक्तिदाता देवदूत के रूप में आपके आगमन की प्रतीक्षा में पलक पांवड़े बिछाकर खड़ी हुई है।

यद्यपि मराठे उत्तर-भारत में दुर्धष संघर्ष कर रहे थे और सम्पूर्ण भारत में ही उनके द्वारा चलाये जा रहे हिन्दू स्वातन्त्र्य समर के कारण मराठों को भारी मात्रा में खर्च करना पड़ रहा था किन्तु बाजीराव के लिए यह सम्भव नहीं कि वे कोंकण के ही अपने धर्म-बन्धुओं की हृदय-द्रावक अवस्था देखते हुए भी उनके अनुरोध को ठुकरा दें। बाजीराव ने बड़ी तत्परता तथा गोपनीयता सहित पूना में देवी पार्वती की पूजा के असाधारण उत्सव के बहाने एक विशाल सेना एकत्रित की और प्रत्येक व्यक्ति को काम देकर भावी युद्ध की रूपरेखा निर्धारित कर दी। चीमाजी अप्पा को इस विशाल सेना का प्रधान सेनापति बनाया गया तथा रामचन्द्र जोशी, अप्पाजी, रामचन्द्र रघुनाथ एवं अन्य रणकुशल योद्धाओं को युद्ध के विभिन्न मोर्चों का उत्तरदायित्व दे दिया गया। १७३७ ई० में मराठा सेना ने थाना के दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। पुर्तगाली इस दुर्ग की रक्षार्थ अन्त तक संग्राम करते रहे किन्तु उन्हें पराजय स्वीकार कर आत्म-समर्पण ही करना पड़ा। इस विजय से प्रेरणा ग्रहण कर मराठों ने सालसट्टी पर धावा बोल दिया तथा शंकराजी केशव ने अरनाला दुर्ग और जोशी ने धारवी तथा पारसिक दुर्गों पर विजय प्राप्त कर ली। इन पराजयों के कारण गोवा के पुर्तगाली शासक की नींद हराम हो गई और उसने एक प्रख्यात पुर्तगाली सेनापति एन्टोनियो को युद्ध जारी रखने के लिए भेज दिया। इतना ही नहीं पुर्तगाली सैनिकों की नवीन सेना भी यूरोप से बुलाई गई। इस प्रकार सैन्य बल में वृद्धि होने के उपरान्त एन्टोनियो ने थाना दुर्ग पर पुनः अधिकार जमाने के उद्देश्य से भयंकर आक्रमण कर दिया।

युद्ध में ख्याति प्राप्त पैड्रो मेल्लो के नेतृत्व में ४।। हजार पुर्तगाली सैनिकों ने थाना पर पुनः अधिकार करने की कल्पना को साकार रूप देने की दृष्टि से दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। किन्तु मराठों की ओर से भी इस दुर्ग के रक्षक के रूप में शौर्य और वीरता के धनी मल्हाराव होलकर तैनात थे। इस प्रकार इस दुर्ग पर आक्रमण करने वाला तथा इनकी रक्षा में तैनात दोनों ही व्यक्ति रणभूमि के कुशल खिलाड़ी थे। परन्तु मराठों के तोपखाने की तोपों ने अपने मुख से अग्नि के प्रचण्ड गोले उगलकर पुर्तगालियों की शक्ति को क्षीण करना आरम्भ कर दिया। अपनी सेनाओं के द्रुतगति से होते हुए इस पराभव को देखकर वीर सेनापति पैड्रोमेल्लो ने भी अपनी सेनाओं का पुनर्गठन करना आरम्भ कर दिया किन्तु मराठों के तोपखाने की अग्नि उगलने वाली तोपों में से एक सधे हुए गोले ने उसे धराधाम से चिर-विदाई ले लेने पर मजबूर कर दिया। सेनापति की मृत्यु का समाचार ज्योंही पुर्तगाली सेना में फैला वह मोर्चा छोड़कर अपने जलयानों में बैठकर भाग निकली। इस विजय के उपरान्त मराठों ने महिम पर भी अपनी विजय पताका फहरा दी। इधर व्यंकटराव घोरपड़े बढ़ते-बढ़ते गोवा के समीप ही स्थित राखोल नामक स्थान तक पहुँच गये। अब ऐसा प्रतीत होने लगा था कि पुर्तगाली सत्ता सदा के लिए भारत से समाप्त होने ही वाली है।

उसी समय नादिरशाह द्वारा चढ़ाई कर दिये जाने का समाचार प्राप्त हुआ। उसका आक्रमण भी भारत के लिए एक भयंकर संकट था। उस समय मराठों के नेतृत्व में गठित हिन्दू शक्ति में ही इतनी सामर्थ्य थी कि वह इस महान् विपत्ति से हिन्दुस्थान की रक्षा कर पाने में सफल सिद्ध हो सके। मराठों पर ही उससे लोहा लेने का भी उत्तरदायित्व आ गया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि पुर्तगालियों को एक नवीन जीवन-सा प्राप्त हो गया। बाजीराव ने सम्पूर्ण परिस्थिति का भली-भाँति अध्ययन करने के उपरान्त आदेश दे दिया कि "पुर्तगालियों

से युद्ध करना तो शून्य के समान ही है। भारत में अब हमारा एक ही शत्रु है, इसलिए सम्पूर्ण हिन्दुस्थान का संगठित हो जाना ही नितान्त आवश्यक है। मैं अपनी मराठा सेना को नर्मदा से लेकर चम्बल सरिता तक के क्षेत्र में फैला दूंगा। फिर देखता हूँ कि नादिरशाह किस भाँति दक्षिण की ओर बढ़ने का साहस दिखाता है।" अतः उन्होंने दिल्ली, जयपुर तथा उत्तर-भारत के अन्य राज-दरबारों में स्थिति समस्त मराठा प्रतिनिधियों को निर्देश दे दिये। इन प्रतिनिधियों को आज्ञा दी गई कि वे केवल महाराष्ट्र मण्डल ही नहीं अपितु राजपूत, बुन्देले, मराठा तथा अन्य सभी हिन्दुओं का एक महान् शक्तिशाली संघ खड़ा करे। इस महान् हिन्दू राजनीतिज्ञ का यह पत्र आज मुद्रित रूप में भी मिलता है। इस पत्र को पढ़ने मात्र से ही यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि किस भाँति मुगल सम्राट् को सिंहासनच्युत करके उसके स्थान पर उदयपुर के महाराणा को दिल्ली के सिंहासन पर आरुढ़ कर देने की सम्पूर्ण योजना बना ली गई थी।

मराठा नेता बाजीराव के मस्तिष्क में हिन्दुओं की महान् विजय की ऐसी विस्तृत योजनाएँ उदित हो रही थीं। किन्तु उनके मस्तिष्क में आने वाले ये विचार केवल कल्पना मात्र ही नहीं थे; अपितु इनकी पूर्ति के लिए उनके पास प्रचण्ड समरजयी रणवाहिनी भी थी। इसीलिए जहाँ वे मराठा सेना को नादिरशाह के आक्रमण की प्रचण्ड आँधी के अवरोध हेतु भेज सकते थे वहाँ उनके पास बसीन को घेरने तथा पुर्तगालियों से युद्ध जारी रखने के लिए भी पर्याप्त सेना थी। अतः पुर्तगालियों को भी शीघ्र ही यह अनुभूति हो गई कि नादिरशाह का भारत पर चढ़ाई करना भी उनके लिए किसी दृष्टि से लाभदायक सिद्ध नहीं हो सका है और इससे मराठा सेनाओं द्वारा की गई उनकी घेराबन्दी में किसी प्रकार की दुर्बलता नहीं आ पाई है। अपितु मराठों का सुदृढ़ पंजा अभी भी उनकी गर्दन मरोड़ने में किसी भी दृष्टि से ढीला नहीं पड़ा है। गोवा के

प्रशासक को निरन्तर यह समाचार प्राप्त हो रहे थे कि पुर्तगाली एक के उपरान्त दूसरे मोर्चे पर पराजित होते जा रहे हैं और रणदेवी मराठों को ही विजयमालाएँ अर्पित करती जा रही है। श्री गाँव, तारापुर, दहानु आदि के दुर्गों पर मराठों ने देखते-देखते ही अपनी विजय पताकाएँ फहरा दी थीं और पुर्तगाली सेना को वे निरन्तर यमलोक भेजते चले जा रहे थे। अन्ततः मराठा सेनाओं ने बेसिन पर घेरा डाल दिया। इस घेराबंदी में आक्रमणकारियों और दुर्गरक्षकों द्वारा जिस प्रचण्ड शौर्य और वीरता का प्रदर्शन किया गया था वह एक इतिहास-प्रसिद्ध गाथा है। इस संक्षिप्त पुस्तक में उस युद्ध का वर्णन किये जाने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इस युद्ध में मराठों ने जो प्रचण्ड शौर्य प्रदर्शित किया उसकी साक्षी एक प्रत्यक्षदर्शी के इस वृत्तान्त से उपलब्ध हो जाती है। उसने लिखा है कि "उच्च-अधिकारियों ने भी वहीं रण करना आरम्भ कर दिया जहाँ कि वे खड़े थे अपने प्रिय नेता बाजीराव द्वारा की जाने वाली भर्त्सना को सहन करने में अपने को असमर्थ पाकर वे अपने प्राण हथेली पर रख कर समरांगण में कूद पड़े। उधर पुर्तगालियों का भी एक के उपरान्त दूसरा सेनापति रणभूमि में आकर हाथ में तलवार ग्रहण कर युद्ध की ज्वालाओं में आकर खड़ा होता रहा। मराठों ने आक्रमण कर दिया किन्तु उन्हें भयंकर हानि उठाकर पीछे हटना पड़ा। उन्होंने बार-बार आक्रमण किया किन्तु उन्हें पीछे धकेल दिया गया। इस भीषण संग्राम में दोनों ही पक्षों को भारी क्षति उठानी पड़ रही थी। कई बार तो मराठों की सुरंगों में स्वयं ही विस्फोट हो गये जिनके फलस्वरूप सैकड़ों वीर सैनिक सदा के लिए महाप्रयाण कर गये। किन्तु इतने पर भी प्रतिकार लेने हेतु कृत-संकल्प मराठा सेना का साहस मन्द नहीं हो पाया। उसने १८ बार पुर्तगालियों पर धावा बोला किन्तु वे भी उसे १८ बार ही पीछे धकेल देने में सफल होते रहे। किन्तु इससे पुर्तगालियों की शक्ति शनैः शनैः क्षीण भी होती रही। फिर भी यह घेरा जारी ही

रहा। नादिरशाह आया भी और वापस भी लौट गया किन्तु इस अवधि में भी बेसिन का घेरा नहीं उठाया गया। किन्तु बेसिन पर फिर भी अधिकार किया जाना सम्भव न हो सका। अन्ततः चीमाजी अप्पा निराश हो गये और क्रोध की भावनाओं से दग्ध होकर उन्होंने गर्जना की और अपने सैनिकों को सम्बोधित करते हुए बोले—"मैं बेसिन दुर्ग में प्रवेश पाने के लिए कृत-संकल्प हूँ। यदि आप लोग आज मुझे जीवित अवस्था में दुर्ग में नहीं ले जा सकते तो कल मेरे सिर को अपनी तोपों के गोलों के द्वारा दुर्ग के भीतर फेंक देना। जिससे कि मैं कम-से-कम मृत्यु के उपरान्त तो दुर्ग में प्रवेश पाकर अपनी आकांक्षा पूर्ण कर सकूँ।"

अदम्य वीरता से परिपूर्ण इन शब्दों को सुनकर मराठा योद्धाओं के हृदय में भी उत्साह की लहरें आन्दोलित होने लगीं। उनमें एक प्रचण्ड उत्साह की भावना का संचार हो गया। उन्होंने अपने शीश हथेली पर धर कर रणभूमि में प्रचण्ड साहस और शौर्य की गाथा अपने रक्त की स्याही से लिखनी आरम्भ कर दी। वीर मानाजी आंग्रे, मल्हारराव होल्कर तथा रणोजी शिन्दे आदि में एक-दूसरे से पहले दुर्ग की प्राचीर तक पहुँचने की होड़-सी लग गई। उसी समय सहसा ही एक भयंकर विस्फोट हुआ और मराठों की एक सुरंग फट गई। जिससे पुर्तगालियों के दुर्ग का एक महत्वपूर्ण भाग धराशायी हो गया। मराठा सैनिक प्रचण्ड शौर्य का परिचय देते हुए आगे बढ़े और दुर्ग के खण्डहरों पर जाकर डट गये। पुर्तगालियों की प्रचण्ड वीरता और साहस भी उन्हें मोर्चों से हटा पाने में सर्वथा असफल हो गया। पुर्तगाली अब अधिक देर तक मराठा सैनिकों के सामने खड़ा रहने का साहस न कर सके और अन्ततः उन्हें आत्म-समर्पण कर देने पर मजबूर होना पड़ा। मराठों की स्वर्ण गैरिक पताका हिन्दू जाति और धर्म के उत्पीड़कों के ऊपर भी लहराने लगी। इस पावन पताका को बेसीन के दुर्ग पर फहरा दिया गया और महाराष्ट्र का दिग-दिगन्त हिन्दू जाति और धर्म के जय-जयकार से

गुंजायमान हो उठा।

अब प्रायः सम्पूर्ण कोंकण ही स्वतन्त्र हो गया। इसके बाद पुर्तगाली सत्ता पुनः कभी इस आघात का प्रतिकार करने में सफल नहीं हो सकी। किन्तु गोवा में उनका अस्तित्व बना रहा और वहाँ वे थोड़ा-बहुत उपद्रव अवश्य करते रहे। इसका कारण यही था कि मराठों के समक्ष इस ओर ध्यान देने की अपेक्षा कतिपय अन्य महत्वपूर्ण कार्य उपस्थित थे जिनका सम्पन्न किया जाना नितान्त आवश्यक था। पुर्तगालियों की जिस शक्ति की विजय पताका कभी एशिया के सम्पूर्ण महासागरों पर गुड होप अन्तरीप से लेकर पीतसागर तक निष्कंटक फहराया करती थी उसे मराठों ने जल और स्थलमार्ग से आक्रमण करके नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और फिर उसमें कभी यह साहस न हो सका कि वह हिन्दुओं के विरुद्ध हथियार उठा सकें।

कोई भी सरलता सहित यह अनुमान लगा सकता है कि उन हिन्दुओं को कितने सन्तोष और हर्ष की अनुभूति हुई होगी जो शताब्दियों से विदेशियों की दासता के पंजों में पड़े छटपटा रहे थे। जिनका यह विश्वास ही हो गया था कि वे सदा के लिए विदेशियों के दास बनकर जीवन व्यतीत करने और विदेशी उन पर शासन करने के लिए ही पैदा हुए हैं। जबकि उन्होंने यह देखा कि महाराष्ट्र के नर-पुंगवों ने अपने प्रचण्ड रण-कौशल से विदेशी शत्रुओं को पराजित कर उनकी शक्ति को सदैव के लिए धूल-धूसरित कर दिया है तो अपने राष्ट्र के गौरव की इस पुर्नस्थापना पर उनके मस्तक भी स्वभिमान से उन्नत हो गये और हिन्दुओं की विजय के इस अध्याय ने उनमें नवीन साहस और विश्वास का सृजन कर दिया। कोंकण के पुर्तगालियों द्वारा अधिकृत प्रदेश में तो कई शताब्दियों तक एक भी हिन्दू पताका फहराती हुई दिखाई नहीं दे पाती थी। किन्तु अब हिन्दुओं ने उन हिन्दू तलवारों को भी देखा जो हिन्दुत्व की रक्षार्थ उठी ही नहीं अपितु उन्होंने विदेशियों के अत्याचारी शासन का लोह

आवरण काटकर खण्ड-खण्डित कर दिया और अत्याचारियों की खोपड़ियाँ काट-काटकर अम्बार लगा दिये। इस प्रकार इन वीरों ने अपनी जाति और राष्ट्र पर लिये गये अत्याचारों का जी भर कर प्रतिशोध ले लिया।"

ब्रह्मेन्द्र स्वामी को सन्देश पहुँचाने वाले एक व्यक्ति ने इस महान् विजय का समाचार इन शब्दों में लिखकर भेजा :

'यह वीरता, क्षमता तथा विजय—ये सारे कार्य ही अतीत के उस युग के तुल्य प्रतीत होते हैं जब देवता इस भूमि पर जन्म ग्रहण किया करते थे। वे लोग वस्तुतः धन्य हैं जो इन विजय के दिनों को देखने के लिए जीवित बचे रहे हैं और उनसे भी दुगने सौभाग्यशाली वे हैं जिन्होंने अपने प्राणों की आहुतियाँ देकर इस महान् विजय की कल्पना को साकार रूप प्रदान किया है।"

१०

नादिरशाह एवं बाजीराव

'वधूं नादिरशाहा कसा पुढें येतो तो।'
(देखें नादिरशाह किस भाँति आगे बढ़ पाता है।)

—बाजीराव

जिस भाँति मराठा सेना ने कोंकण के सम्पूर्ण अंचल में अपनी विजय पताका फहरा दी थी, उसी भाँति अन्य स्थानों पर उसने उल्लेखनीय सफलताएँ अर्जित करने का गौरव प्राप्त किया था। बाजीराव ने गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड के अंचल पर विजय प्राप्त कर वहाँ हिन्दुत्व की पावन पताका फहरा कर चम्बल तक तो हिन्दू साम्राज्य का विस्तार कर ही दिया था, किन्तु इस सफलता मात्र से ही उनका लक्ष्य पूर्ण नहीं हो गया था। वे इस सफलता के दर्प में ही चूर होकर अपने महान् आदर्श और लक्ष्य को विस्मृत नहीं कर बैठे थे। उनका ध्येय तो था एक ऐसे सुसंगठित हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करना जिसकी छत्र-छाया में सम्पूर्ण हिन्दुस्थान सुख और शांति का अनुभव कर सके। उनकी महान् आकांक्षा तो यही थी कि हिन्दुओं के सभी पवित्र तीर्थ स्थान विदेशियों के अपावन पंजों से मुक्त हो सके और कोई भी उन्हें पुनः अपवित्र करने का दुस्साहस न कर सके। इन देव स्थलों की ओर दृष्टि गड़ाने का भी विचार हिन्दू धर्म के शत्रुओं के स्वप्न मात्र में न आ सके।

अतः कोंकण के पावन परशुराम मन्दिर की मुक्ति मात्र से ही बाजीराव के कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो गई थी, क्योंकि काशी, गया और मथुरा के पुनीत हिन्दू तीर्थ तो अभी भी मुस्लिम अत्याचारियों के शासन के अन्तर्गत दमन चक्र में पिसते हुए अपने मुक्तिदाता की ओर

आशापूर्ण दृष्टि से निहार रहे थे इसीलिए हम देखते हैं कि बाजीराव एवं उनके सहयोगी मराठा सेनापतियों ने इन पुनीत नगरियों की मुक्ति हेतु भी उसी भाँति अथंक प्रयास किया जिस प्रकार वे पंढरपुर और नासिक की मुक्ति के लिए निरन्तर संघर्षरत रहे थे। कोंकण में हुए जल और स्थल के युद्धों में उपस्थित होने वाली महानतम् कठिनाइयाँ मराठा सेना को क्षण भर के लिए भी अपने पथ से विचलित नहीं कर सकी थीं। अब बाजीराव ने मुगल सम्राट् को सुस्पष्ट शब्दों में यह चुनौती दे दी कि यदि उसने काशी, गया, मथुरा तथा अन्य धार्मिक स्थान तत्काल उन्हें न दे दिये तो रणोन्मत्त मराठा सेना उसकी राजधानी दिल्ली पर भी अपने विजयी अश्वारोहियों को चढ़ा देने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करेगी। दिल्ली के मुस्लिम नेता भय से थरथरा उठे और उन्होंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति का संग्रह किया तथा २२ सेनापतियों के नेतृत्व में मुगल सेना को इन हिन्दू क्रान्तिकारियों का दमन करने हेतु भेजा गया। किन्तु जब उनके सम्पूर्ण प्रयास असफल हो गये तो इन सेनापतियों ने अपने मानसिक सन्तोष के लिए एक सर्वथा मिथ्या समाचार अपने सम्राट् को लिख भेजा। उन्होंने मुगल सम्राट् को सूचित किया कि एक भयंकर युद्ध में बाजीराव की सेना को पूर्णतः पराजित कर दिया गया है और उनको इतनी बुरी पराजय मिली है कि अब वे कभी भी उत्तर भारत में दिखाई न दे सकेंगे। मुगल सम्राट् भी इस समाचार को सुनकर प्रसन्नता से गद्गद्ज होकर उन्मादी-सा बन गया और उसने मराठा राजदूत को अपमानित कर बहिष्कृत कर दिया तथा अपनी राजधानी में इस महान् विजय पर रास-रंग की महफिल का भी आयोजन कर डाला।

जब दिल्ली के इस आयोजन का समाचार बाजीराव को प्राप्त हुआ तो वे विकट अट्टहास कर उठे और उन्होंने मन-ही-मन कहा, "अच्छा, अब मैं अपनी मराठा सेनाओं को दिल्ली के दुर्ग की दीवारों तक ही ले

जाकर मुगल सम्राट् को उसकी राजधानी में उठती हुई प्रचण्ड अग्नि शिखाओं के प्रकाश में ही उसे उत्तर भारत में अपने अस्तित्व का भान करा दूँगा।'' उन्होंने अपना यह प्रण पूर्ण भी कर दिखाया। उन्होंने शीघ्र ही सन्ताजी जाधव, तुकोजी होल्कर एवं शिवाजी तथा यशवन्तराव पवार को साथ लेकर अपनी सेनाओं सहित दिल्ली दुर्ग के प्रवेश द्वार पर दस्तक दे दी। किंकर्तव्यविमूढ़ मुगल सम्राट् एक-एक करके अपने सेनापतियों के नेतृत्व में सेना को मराठों से युद्ध करने के लिए दुर्ग के बाहर भेजता रहा किन्तु वीर मराठों की रणकुशलता और शौर्य के समक्ष उन्हें पराजित ही होना पड़ा। मराठों के प्रबल आघातों से मुगल सम्राट् के प्राण ही संकट में पड़ गये और अब उसे अपनी भूलों के स्वर्ग में विचरण करने के तुल्य इस सुखद कल्पना का पूर्ण प्रतिफल प्राप्त हो गया कि मराठा शक्ति सदैव के लिए धूल-धूसरित होकर रह गई है। यह प्रथम अवसर था जब मराठों की विपुल शक्ति ने दिल्ली के द्वार को हिला देने में सफलता प्राप्त कर ली थी। मराठों ने अब मुगल सम्राट् को खुले मैदान में खुलकर चुनौती दे दी थी। उत्तर भारत में मराठों की यह महान् प्रगति और सफलता निजाम के लिए असह्य हो उठी और उसने ३४,००० सैनिकों तथा उस समय में भारत के तथाकथित सर्व श्रेष्ठ तोपखाने सहित सिरोंज पर चढ़ाई कर दी। राजपूतों ने भी इस समय मराठों के विरुद्ध उसी को सहयोग देना श्रेयस्कर समझा। किन्तु उसी समय वीरवर बाजीराव उनको रौंदते हुए वहाँ जा धमके। मराठा सेनापति के प्रचण्ड रणकौशल और महान् शौर्य ने एक बार निजाम को पुनः इस तथ्य की अनुभूति करा दी कि वह फिर मराठों का आहार बन गया है। मराठों की निरन्तर आगे बढ़ती हुई विजयी सेना से अपने प्राणों की रक्षार्थ उसे भोपाल के दुर्ग में अपने को छिपा लेना पड़ा और वहीं से वह अपनी अवशिष्ट सेना को एकत्रित कर पुनः आक्रमण करने की योजना बनाने लगा किन्तु मराठा सेना ने उसे तथा उसकी सेनाओं और

मुसलमानों तथा राजपूतों को कुचल मात्र ही नहीं दिया अपितु वह सुप्रसिद्ध मुसलमान सेनापति मराठों से ऐसा घिरा के उसकी सेना भूखों मरने पर ही मजबूर हो गई । अब निजाम के समक्ष इस बात के अतिरिक्त और विकल्प नही रह गया कि वह विजयी मराठा सेनापति के समक्ष नत-मस्तक होकर सन्धि कर ले अन्ततः निजाम को बाजीराव द्वारा लिखाई गई शर्तों के आधार पर ही सन्धि कर लेनी पड़ी ।

किन्तु ठीक उसी समय मुसलमानों का एक अन्य षड्यन्त्र सफल हो गया और नादिरशाह ने सिन्धु सरिता को पार कर लिया । मुसलमानों में अपने दम तोड़ते हुए सम्राट् को नवजीवन दे देने में सफलता प्राप्त कर लेने की नवीन आशा किरण उदित होने लगी । नादिरशाह के आक्रमण का समाचार पाकर निजाम तथा अन्य कई ऐसे मुसलमान सेनापतियों की बाछें खिल उठीं जो औरंगजेब की ही परम्परा में पले और प्रशिक्षित हुए थे । उनके मन में यह कपोल-कल्पना जाग्रत हो उठी कि जो कार्य कायर मुगलों द्वारा सम्पन्न नहीं किया जा सका वह नादिरशाह द्वारा पूर्ण हो जाएगा और वह मराठा-मण्डल के रूप में उदित हुई हिन्दू शक्ति को समाप्त कर मुसलमानी साम्राज्य के गत गौरव की पुनः स्थापना कर पाने में सफल हो जाएगा । वह इस सपने को साकार रूप देने में अवश्य ही सफल हो जाता किन्तु बाजीराव के नेतृत्व में हिन्दुओं द्वारा किये गए अथंक युद्ध और प्रतिरोध ने मुसलमानों की इस संगठित शक्ति को भी धूल चटा दी और इस खूँख्वार विदेशी शत्रु का भी मुँह तोड़ दिया ।

बाजीराव उसके आक्रमण से भयभीत अथवा निराश नहीं हुए अपितु इस राष्ट्रीय संकट की घड़ी में इस महान् नेता ने और भी ऊँची उड़ानें लेनी आरम्भ कर दीं । नादिरशाह के आगमन में उन्हें हिन्दु जाति के शौर्य और पराक्रम का एक शताब्दी में पूर्ण हो सकने वाला इतिहास वर्षों में ही पूर्ण होता हुआ प्रतीत होने लगा । उन्होंने नादिरशाह के

आक्रमण को ही एक अनुपम तथा अलभ्य अवसर समझा। उत्तर भारत के विभिन्न राज दरबारों में उनके जो सुयोग्य राजदूत नियुक्त थे, वे भी उतनी ही कुशाग्रता तथा बुद्धिमत्ता सहित अपने कार्य में संलग्न थे। जितनी कुशलता और उत्साह सहित मराठा सेनापति रणभूमि में शत्रुओं को धूल चटाकर अपनी ख्याति की कीर्ति पताकाएँ पुण्य भूमि हिन्दुस्थान के विभिन्न अंचलों में फहरा रहे थे। व्यंकोजीराव, विश्वासराव, दादाजी गोविन्द नारायण, सदाशिव बालाजी, बाबू रंग मल्हार, महादेव भट्ट हिंगने आदि राजनीति के इन कुशल पण्डितों ने भी जो सफलताएँ अर्जित की थीं वे रणभूमि में पवारों, शिन्दों, गूजरों और आँग्रों तथा अन्य मराठा सेनापतियों द्वारा उपलब्ध विजयों से किसी भाँति भी कम महत्त्व की नहीं थी।

वस्तुतः इन मराठा राजनीति धुरन्धरों ने ही हिन्दू आन्दोलन के महान् आदर्शों और राजनीति की परम्परा कों अखण्ड मात्र ही नहीं रखा था अपितु अपने घोर परिश्रम द्वारा मराठा सेनापतियों के सफल विजय अभियानों की पृष्ठभूमि भी निर्मित की थी। इन महान राजनीतिज्ञों और राजदूतों का पत्र-व्यवहार तथा राजकीय दस्तावेजों का आज मुद्रित रूप में भी उपलब्ध है जिनको पढ़कर कोई भी व्यक्ति इन मराठा राजनीतिज्ञों, राजदूतों, सैनिकों और मल्लाहों की उन महान् योजनाओं, आशाओं, आकांक्षाओं और महान् प्रयासों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, जो उन्होंने एक सुसंगठित हिन्दू साम्राज्य की स्थापना के एक मात्र महान् ध्येय की पूर्ति हेतु किया था जो साम्राज्य हिन्दू जाति की राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा के पुनीत कार्य को सम्पन्न कर सके। हिन्दुओं की इसी योजना को पराभूत और पराजित करने की दृष्टि से नादिरशाह को उन मुसलमान नेताओं ने आमन्त्रित किया था जो हिन्दुओं की इस उभरती हुई शक्ति को सहन नहीं कर पा रहे थे। ये मुसलमान नेता औरंगजेब की ही परम्परा में प्रशिक्षित हुए थे। इन्होंने नादिरशाह को

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों ही प्रकार से सहायता भी दी थी ।

किन्तु नादिरशाह को शीघ्र ही इस महान् सत्य की अनुभूति हो गई कि उसे १७३९ ई० में जिस महान् शक्ति से लोहा लेना है वह उस शक्ति से सर्वथा भिन्न है जो ११२० ई० से ११२४ ई० तक मुहम्मद गजनवी से टकराई थी । कूटनीति, राजनीति और देश-भक्ति अथवा सैनिकशक्ति और संगठन कुशलता में ही यह शक्ति अपूर्व नहीं थी अपितु आत्म बलिदान की पुनीत भावना से भी हिन्दू पद-पादशाही की स्थापनार्थ कटिबद्ध ये रणशूर ओत-प्रोत थे । किन्तु आत्म बलिदान का पुनीत पथ वे केवल उसी स्थिति में अपनाते थे कि जब उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास हो जाता था कि ऐसे बलिदान से उनकी अपेक्षा शत्रुओं को ही अधिक हानि सहन करनी होगी । जब से महाराष्ट्र के हिन्दू अपनी पावन वसुन्धरा और धर्म के नाम पर संगठित हुए थे तब से वे मुसलमानों से प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ ही सिद्ध हुए थे । उनका यह सुदृढ़ विश्वास था कि वे इस संघर्ष को चलाकर भगवान् राम और योगेश्वर कृष्ण के ही कार्य को पूर्ण कर रहे हैं । उन्हें नादिरशाह से तनिक भी भय नहीं था । मराठा राजदूतों और कूटनीतिज्ञों ने अपने महान् नेता बाजीराव को स्पष्ट शब्दों में सूचित किया था कि "नादिरशाह परमात्मा नहीं है । वह सम्पूर्ण सृष्टि का विनाश नहीं कर सकता । जब उसे किसी के अपने से अधिक शक्तिशाली होने का ज्ञान हो जाएगा तो अवश्य ही उससे सन्धि कर लेगा । शक्ति परीक्षण के उपरान्त ही किसी से मैत्री वार्ता आरम्भ हो सकती है । युद्ध के उपरान्त ही शान्ति की स्थापना सम्भव है अतः मराठा सेनाओं को आगे बढ़ने दीजिए । यदि आपके (बाजीराव) नेतृत्व में राजपूत तथा अन्य हिन्दू एक शक्तिशाली मोर्चे के रूप में उससे साहस पूर्वक लोहा लें तो महान् कार्य सम्पन्न हो सकते हैं । किन्तु निजाम से सहायता प्राप्त होने पर नादिरशाह वापस लौट जाने वाला नहीं है अपितु वह सीधे ही अन्य हिन्दू राजधानियों पर आक्रमण

कर देगा। अतः ये सब हिन्दू राजा महाराजा तथा सवाई जयसिंह नितान्त उत्कण्ठा सहित आपके (बाजीराव) आगमन की प्रतीक्षा में पलक पांवड़े बिछाए हुए तैयार खड़े हैं। यदि आप हमारे मराठों का नेतृत्व करते हुए आगे बढ़ें तो हिन्दू सीधे ही दिल्ली पर आक्रमण कर मुसमलमान सम्राट् को सिंहासन से च्युत कर देंगे तथा दिल्ली के राज सिंहासन पर उदयपुर के महाराणा को बैठा देने का संकल्प पूर्ण हो जाएगा।

अभी बसीन की चढ़ाई चल ही रही थी। मराठा सेनाएँ कर्णाटक से कटक तक तथा इलाहाबाद तक अपना विजय अभियान चला रहीं थीं किन्तु बाजीराव ने एक क्षण का भी विलम्ब नहीं किया। उनके राजदूतों ने उत्तर भारत के हिन्दुओं के हृदय में जिस महान् आशा की किरण प्रस्फुटित की थी तथा जो महान् उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया था, उसको दृष्टिगत रखते हुए उन्हें तनिक भी हतोत्साहित नहीं होने दिया। जब उनके कुछ सहयोगियों ने पृथक्-पृथक् मत व्यक्त करना आरम्भ किया तो बाजीराव ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा "हे वीर पुरुषों! तुम्हारे हृदय में शंका आशंकाएँ क्यों उत्पन्न हो रही हैं? संगठित होकर आगे कदम बढ़ाओ हिन्दू पद-पादशाही की स्थापना का दिवस सन्निकट है। मैं अपने वीर मराठों को नर्वदा से चम्बल तक सर्वत्र फैला दूंगा, फिर देखता हूँ कि नादिरशाह दक्षिण की ओर बढ़ने का साहस किस भाँति कर पाता है?"

वस्तुतः मराठों की इस "प्रतिकार लेने की हठपूर्ण प्रवृत्ति ने ही इस फारसी विजेता की हिन्दू विरोधी आकांक्षाओं को रोका ही नहीं अपितु उसे नष्ट-भ्रष्ट भी कर दिया। नादिरशाह के साहस ने उससे विदाई ले ली और उसने स्वयं को "मुस्लिम धर्म का एक एक महान् अनुयायी" कहते हुए बाजीराव को एक उपहासास्पद पत्र लिखा। इस पत्र में उसने बाजीराव को 'आदेश' दिया था कि वह दिल्ली के मुगल सम्राट् की आज्ञा

माने अन्यथा उसे वैसा ही दण्ड मिलेगा जैसा विद्रोहियों को दिया जाता था। वस्तुतः यह पत्र उसने अपने चतुराई से वापस लौट जाने के लिए ही लिखा था। यह कागज का टुकड़ा (पत्र) जो नादिरशाह ने मराठों को लिखकर भेजा था रद्दी की टोकरी में फेंक दिये जाने से अधिक उपयोगी नहीं था। इसलिए मराठों के महाराज शाहू जी ने १४ जून, १७३६ ई० को राजदरबार में स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि "मराठों के भय से ही नादिरशाह देश छोड़कर भाग निकला है।"

नादिरशाह के इस प्रकार कायरता सहित पलायन से निजाम के भाग्य गगन पर आपत्तियों के सघन घन घहरा उठे। नादिरशाह को हिन्दू विरोधी निजाम द्वारा सहयोग दिये जाने तथा भोपाल में जिस सन्धि-पत्र पर उसने हस्ताक्षर किये थे उनकी शर्तों का पालन करने में आना-कानी करने का कठोर दण्ड देने के लिए मराठा सेनाओं ने दिल्ली की ओर प्रस्थान कर दिया। किन्तु ठीक उसी समय उनके महान् सेनानायक बाजीराव ने २२ अप्रैल १७४० को सदैव के लिए आँखें मूँद लीं। मराठों के इस महान् नेता का स्वर्गवास हो गया।

हिन्दू स्वातन्त्र्य के पावन संग्राम को जितनी निष्ठा और सफलता सहित बाजीराव ने चलाया, उतनी सत्यता सहित अन्य कोई न चला पाया। अपनी बाल्यावस्था में ही उन्होंने अपनी चिरसंगिनी तलवार को अपनी जाति और धर्म के शत्रुओं के विरुद्ध म्यान से निकाला था और वह जीवन की अन्तिम घड़ी तक उनके मस्तक भंजन ही करती रही। हिन्दुओं के शत्रु के विरुद्ध अपनी सेनाओं का मार्ग दर्शन करते हुए ही सैनिक शिविर में उनका देहावसान हुआ। सिद्दी हों अथवा रुहेले, मुगल हों अथवा पुर्तगाली, सभी के विरुद्ध उन्होंने आजीवन घोर संग्राम जारी रखा और पराजय का कलंक अपनी जाति के गर्वोन्नत भाल पर कदापि न लगने दिया। वस्तुतः हिन्दू पद-पादशाही के महान् आदर्श की

शीघ्रातिशीघ्र प्राप्ति की महान् आकांक्षा से प्रेरित होकर ही उन्होंने जो अविश्रान्त और मानवेतर परिश्रम किया था वही उनके असामयिक निधन का भी कारण बना। नादिरशाह के आक्रमणों से भी हिन्दू आन्दोलन को उतना गहरा आघात नहीं लग सकता था, जितना बाजीराव के अनायास ही स्वर्गवास से लगा।

नाना साहब और भाऊ

"दशरथ देउनि राज्यश्रीस रामलक्ष्मणाच्याकरी
प्रभात तारा देउनि जाई कांति आपुली सूर्यकरीं
तशीच बाजीरावें हिन्दु स्वातंत्र्याची ध्वजा दिली
या नरवीर नानांच्या या भाऊंच्या दुर्दान्त करी"

'महाराष्ट्र भाट'

(जिस भाँति दशरथ ने राम और लक्षमण के हाथों में राज्यलक्ष्मी सौंप दी थी, जिस प्रकार भोर का तारा अपनी ज्योति सूर्यदेव को प्रदान कर स्वयं विलुप्त हो जाता है, उसी भाँति बाजीराव ने भी हिन्दू स्वातन्त्र्य की पावन पताका नरवीर नाना साहब तथा भाऊ के बलिष्ठ हाथों में थमा दी थी)

बाजीराव तो इस संसार से विदाई ले गये किन्तु उन्होंने अपनी जाति के हृदय में जो महान् भावना उत्पन्न कर दी थी वह उनकी मृत्यु के उपरान्त भी समाप्त न हो सकी। इस भावना ने ही मराठों के हृदय में अपने उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु वह प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित की थी कि वे अपने नए नेताओं के नेतृत्व में और भी अधिक निष्ठा तथा प्रचण्ड शौर्य सहित संघर्षरत हो गये। उनके नए नेता बाजीराव के ही सुपुत्र बालाजी उपाख्य नाना साहब तथा बसीन के चीमा जी अप्पा के पुत्र-रत्न भाऊ जी। यद्यपि बाला जी की आयु उस समय केवल १९ वर्ष ही थी किन्तु वह अपने महान् पिता के नेतृत्व में अपनी इस बाल्यावस्था में ही रणक्षेत्र को भली भाँति देख चुका था। उसने अपने महान् क्रिया-कलापों से यह सिद्ध कर दिया था कि नेता होने के सभी गुण उसमें विद्यमान हैं। गुण पारखी तथा उनका सम्मान करने वाले महाराज शाहू

ने भी इस प्रभावशाली युवक बालाजी को उसके पिता के स्थान पर मराठा साम्राज्य का प्रधानमन्त्री नियुक्त करने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं किया। बालाजी की प्रधानमन्त्री के रूप में नियुक्ति का समारोह नितान्त धूमधाम सहित सम्पन्न हुआ। इस समारोह की समाप्ति पर महाराज शाहू ने एक शाही निदेश पत्र अपने युवक प्रधानमन्त्री को अर्पित किया। जिसमें कुछ प्रेरणादायक वाक्यों में ही मराठों के उस महान् आदर्श का मूल उद्देश्य स्पष्ट किया गया जिसके लिए वे अपने प्राणों की भेंट भी हँसते-हँसते चढ़ाते चले आ रहे थे। शाह जी ने इस पत्र में बाला जी को लिखा था कि "तुम्हारे पिता बाजीराव ने नितान्त निष्ठा सहित अपने कर्तव्य को पूर्ण किया है और उन्हें अपने कार्यों में महान् सफलता भी प्राप्त हुई थी। वे हिन्दू राज्य की हिन्दुस्थान के एक छोर-से दूसरे छोर तक स्थापना करने के लिए ही आजीवन प्रयत्नशील रहे। तुम भी उसी महान् पुरुष के सुपुत्र हो। अपने पिता की उस महान् आकांक्षा का स्मरण रखो तथा उसे पूर्ण करो और अपने अश्वारोहियों को अटक के उस पार ले जाने का महान् कार्य सम्पन्न करो!"

राजाज्ञा के प्रति निष्ठावान् नरवीर नाना साहब तथा महावीर भाऊ अपने प्राणों को संकट में डालकर भी छत्रपति शिवाजी महाराज के पुनीत कार्य को साफल्य मंडित करने में आजीवन प्रयत्नशील रहे। उन्हें इस कार्य के करने हेतु सन्नद्ध करने के लिए किसी का उपदेश अपेक्षित नहीं था। हिन्दू पद-पादशाही की कल्पना बाल्यावस्था से ही उनके समक्ष विद्यमान थी और इसकी स्थापना ही थी उनके यौवन की महान् आकांक्षा इसके लिए संघर्ष करते हुए प्रयत्नशील रहने तथा अपने प्राण विसर्जित कर देने की भी उनमें सिद्धता थी। शाहूजी ने भी अपने जीवन में कुछ दिन मुगलों की नज़रबन्दी में विताये थे। स्थान बद्धता की इस अवधि में यदा-कदा शाही परिवार के कुछ लोगों की कृपा दृष्टि उन पर पड़ी थी। इसलिए शाहू के मन में भी कभी-कभी मुगलों के प्रति राजभक्ति

की भावना उमड़ पड़ती थी। शाहू की इन बातों के प्रति भी उनके मन में घृणा की भावना ही विद्यमान थी।

प्रधानमन्त्री पद दिये जाने के इस समारोह के समाप्त होते ही शाहू ने बालाजी को पूना जाने का आदेश दिया और राघोजी भौंसले को दक्षिण के विजय अभियान का।

शाहू की वापसी पर मराठों में आरम्भ हुए गृह-युद्ध का लाभ उठाते हुए मुसलमानों ने अपने सुयोग्य सेनापति सादतउल्ला के नेतृत्व में प्रायद्वीप के सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी अंचल पर अपना अधिकार जमा लिया था और उसे मुस्लिम साम्राज्य में मिला लिया था। तन्जौर के मराठा राज्य को भी मुसलमान हड़पने का प्रयास करने लगे। इस स्थिति में तन्जौर नरेश प्रतापसिंह ने स्वाभाविक रूप से ही शाहू से सहायता प्रदान करने का अनुरोध किया। सादतउल्ला का १७३२ ई० में देहान्त हो गया था और उसके स्थान पर उसका भतीजा दोस्तअली शासन सँभाल कर अर्काट का नवाब बन बैठा था। वह एक शक्तिशाली सेनापति तो था ही साथ ही मराठा शक्ति का जानी दुश्मन भी था। १९ मई, १७४० ई० को भगवान भुवन भास्कर के प्राची दिशा में उदित होने के पूर्व ही मराठों ने संकरे पर्वतीय मार्गों को पार कर दोस्तअली की सेना पर दक्षिण की ओर बढ़ कर, आगे-पीछे तथा बगल से धावा बोल दिया। कुछ घण्टों के युद्ध में ही मुस्लिम सेना पूर्णतः नष्ट हो गई और दोस्तअली भी युद्ध भूमि में ही मारा गया। अपने सहधर्मियों की इस विजय पर मुसलमानों के अत्याचारों की चक्की में पिसने वाले हिंदुओं के हृदय हर्षातिरेक से परि-पूरित हो उठे और उन्होंने भी मराठों के अभियान को अपना अभियान और उनके आदर्श को अपना आदर्श स्वीकार कर लिया। राघोजी भी नगरों और ग्रामों से युद्ध का चन्दा एकत्रित करते हुए अर्काट की ओर बढ़ चले। दोस्तअली का पुत्र सफदरअली वेल्लोर में तथा उसका दामाद चांदासाहब त्रिचिनापल्ली में अपने नेतृत्व में संगठित सेनाओं को लेकर डटे हुए थे।

रणकुशल राघोजी ने नीति कुशल होने का परिचय दिया। उन्होने यह बात फैला दी कि इस अभियान में उन्हें अत्यधिक व्यय वहन करना पड़ा है अतः वह उसे समाप्त कर देने के इच्छुक हैं। इतना ही नहीं वह वस्तुतः त्रिचिनापल्ली से ८० मील दूर भी हट गये। चांदा साहब के समान चतुर व्यक्ति भी राघोजी की इस चाल में इतना फँस गया कि उसने अपनी सेना के १० हजार सैनिक हिन्दुओं के पवित्र तथा सम्पन्न तीर्थस्थल मदुरा पर आक्रमण करने हेतु भेज दिये। किन्तु जब इस महान् चतुर हिन्दू नेता ने देख लिया कि मुसलमान उनकी चाल में बुरी तरह फँस गये हैं तो उसने अपनी सेनाओं का रुख वापस मोड़ दिया और उसकी सेनाएँ त्रिचिनापल्ली के सामने तत्काल ही जा कर डट गयी। बड़ा साहब ने जो मदुरा के पावन हिन्दू तीर्थ-स्थल पर आक्रमण करने और वहाँ के हिन्दुओं को अपनी क्रोधाग्नि में दग्ध करने के लिए गया था तत्परता से त्रिचिनापल्ली पहुँच कर अपने भाई को सहायता देने का प्रयास किया। किन्तु रणनीति कुशल राघोजी ने अपनी सेना की एक टुकड़ी उसे रोकने लिए भेज दी। घोर-संग्राम हुआ और उसमें बड़ा साहब को मार डाला गया उसकी मृत देह हाथी के नीचे लुढ़क कर मराठा शूरवीरों के चरणों में गिर पड़ी। मुसलमान सेना पूर्णतः पराजित हो गई और उनके सेनापति का शव मराठा सैनिकों द्वारा राघोजी के शिविर में ले आया गया। मराठा सेनापति ने बड़ा साहब का शव मूल्यवान वस्त्रों में लपेट कर उसके भाई चांदासाहब के पास भेज दिया। त्रिचिनापल्ली का घेरा चार मास तक जारी रहा। किन्तु वीरतापूर्ण संघर्ष करते रहने पर भी मुसलमान नेता को अन्ततः उन्हीं हिन्दुओं के समक्ष आत्म-समर्पण कर देना पड़ा जिनको वह घृणा की दृष्टि से देखता आया था। राघोजी ने चांदा साहब को बन्दी बनाकर सतारा भेज दिया और त्रिचिनापल्ली के शासक के रूप में १४००० सैनिक तथा तोपखाने सहित मुरारराव घोरपड़े को नियुक्त कर दिया। सफदरअली भी मराठों के सम्मुख आत्म-

समर्पण कर चुका था और मराठों ने इस शर्त पर उसे अर्काट का नवाब बनाना स्वीकार कर लिया था कि वह मराठों को एक करोड़ रुपया चुकाये तथा उन समस्त हिन्दू नरेशों को पुनः उनके राज्य वापस लौटा दे जिन्हें १७३६ ई० से उसके पिता ने सिंहासन-च्युत किया था।

किन्तु जब राघोजी दक्षिण-भारत में इतनी शानदार विजय प्राप्त कर रहा था, उनकी सरकार का बंगाल, बिहार और उड़ीसा के मुस्लिम शासक अलीवर्दीखाँ के प्रतिद्वंदी पक्ष के नेता मीरहबीब ने मराठों से अपनी सहायता करने की याचना की थी। राघोजी का दीवान भास्कर पन्त कोहल्टकर बंगाल की मुस्लिम शक्ति का मान मर्दन कर हिन्दू राज्य का विस्तार हिन्दुस्थान की पूर्वी सीमा तक यथाशीघ्र करने के लिए उत्कंठित था और किसी उपयुक्त अवसर की बाट जोह रहा था। उसने तत्काल ही मराठों को मिले इस आमन्त्रण को स्वीकार कर लिया। १० हजार वीर मराठा अश्वारोही बिहार को पार कर मुसलमानी सत्ता को अपने पैरों तले रौंदते हुए बंगाल पर चढ़ दौड़े। अलीवर्दी भी किसी दृष्टि से निकृष्ट नेता नहीं था। उसने भी तत्काल ही मराठों पर आक्रमण कर दिया, किन्तु मराठों ने उसे उलझन में डाल दिया। उन्होंने उसकी रसद पहुँचने से रोक दी। उसकी सेना विजयी मराठों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दी गई और उसे निराश होकर वापस कटवा लौट जाना पड़ा। मीरहबीब ने भास्कर पन्त पर इस बात के लिए जोर दिया कि वह अपना विचार बदलले तथा बर्षा की ऋतु में बंगाल में ही रहे तथा शत्रु के क्षेत्र से युद्ध में हुई क्षति पूर्ति वसूल करे। तदुपरान्त मराठों ने मुर्शिदाबाद पर आक्रमण किया तथा मेदिनीपुर, हुगली और राजमहल ही नहीं अपितु मुर्शिदाबाद को छोड़कर पावन गंगा सरिता के पश्चिम में स्थित बंगाल के सभी जिलों पर हिन्दुओं की परम पावन स्वर्ण गैरिक (भगवी) पताका पुनः फहरा दी। बंगाल में अहिन्दू शत्रुओं की पराजय तथा हिन्दुओं की इस महान् सफलता का समारोह मराठों ने काली माता

का पावन पूजन और अनुष्ठान करने के रूप में मनाने का निश्चय किया। ठीक उसी समय अलीवर्दीखाँ हुगली नदी को पार कर मराठों पर टूट पड़ा। वह बंगाल की सीमा तक मराठा सैनिकों का पीछा करता रहा किन्तु यह सब थोड़े ही समय की बात थी, क्योंकि राघोजी शीघ्र ही वापस आ गया। एक अन्य मराठावाहिनी सहित बालाजी भी बिहार में प्रविष्ट हो गया। कहने को तो वह एक शाही सेनापति के रूप में वहाँ आया था किन्तु उसके वहाँ आने का वास्तविक उद्देश अपने लिए कर प्राप्त करना तथा राघोजी भौंसले के साथ अपना हिसाब चुकाना था। दोनों मराठा सेनापतियों में ज्योंही समझौता सम्पन्न हुआ बालाजी वापस लौट गया तथा भास्कर पन्त ने युद्ध की क्षति-पूर्ति के रूप में भारी धन-राशि तथा मराठों की अनिवार्य चौथ की माँग कर दी। युद्ध स्थल में भास्कर पन्त का सामना करने में अपने को पूर्णतः अयोग्य समझकर अलीवर्दी खाँ ने कुटिल चाल का सहारा लिया। उसने भास्कर पन्त को क्षति पूर्ति के सम्बन्ध में वार्ता करने के लिए अपने शिविर में एक अतिथि के रूप में आने हेतु निमन्त्रित किया। किन्तु साथ ही अपने खेमे में ऐसे हत्यारों को भी छुपा दिया जिन्हें यह बता दिया गया था कि जो 'काफिरों को मारो' का घोष होते ही भास्कर पन्त की हत्या कर दें। उस अभागे दिवस अलीवर्दीखाँ की चाल में फँस जाने के कारण ४० मराठा सरदारों को अपना बलिदान देना पड़ा। केवल राघोजी गायकवाड़ही बच पाया था। मराठों की घबराई हुई और स्तम्भित सेना को लेकर वह इस शत्रु देश को छोड़कर वापस लौट चला किन्तु मराठा सैनिकों के टुकड़े टुकड़े कर डालने के लिए उत्सुक शत्रुओं की सेना उनका निरन्तर पीछा करती रही तथा उन पर आक्रमण करती रही।

भला औरंगजेब की शाही सेना और विपुल साधन भी जिस मराठा आन्दोलन का दमन करने में सफलता प्राप्त न कर सके उसे यत्र-तत्र किसी सेना अधिकारी की हत्या अथवा सहसा ही आक्रमण करने मात्र

से कैसे कुचला जा सकता था ? इससे मराठा आन्दोलन का चक्र विपरीत गति में घुमा पाने की कल्पना करना ही सर्वथा निराधार था। किन्तु इस पर भी अलीवर्दीखाँ ने राघोजी को एक हास्यास्पद और मूर्खतापूर्ण पत्र लिख भेजा। उसने लिखा था "परमात्मा का आभार मानो। धर्म के प्रतिनिष्ठावान् लोगों के थोड़े अधर्मियों से भिड़ने से किंचित मात्र भी नहीं डरते। जब इस्लाम के सिंह मूर्तिपूजक राक्षसों से भिड़ते हैं तो राक्षस उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाते। अतः हमसे क्षमायाचना करो और जब तुम ऐसा करोगे तभी शान्ति सम्भव हो सकती है।" राघोजी ने इस पत्र का उत्तर देते हुए लिखा कि जब मैं इस्लाम के इस सिंह अलीवर्दीखाँ से भिड़ने के लिए एक हजार मील की यात्रा करके पहुँचा तो यह इतना भी साहस न कर सका कि मुझसे भिड़ने के लिए १०० गज भी बढ़ सके।" उसने इस मूर्खतापूर्ण शब्द-युद्ध को लम्बा करने के स्थान पर मराठा सैनिकों को बर्दवान तथा उड़ीसा पर चढ़ाई करने और कर वसूल करने का आदेश दे दिया। मराठा सैनिक वर्षों तक अलीवर्दीखाँ की नींद हराम करते रहे और उन्होंने जहाँ से सम्भव हो सका कर वसूल किया। जहाँ से वे मालगुजारी वसूल कर सकते थे वहाँ से उन्होंने भारी मात्रा में युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में भी धन प्राप्त किया। वे सभी जिलों में चारों ओर बिखर गये। जहाँ सम्भव हुआ वहाँ उन्होंने युद्ध किया और जहाँ उचित समझा वहाँ पीछे हटने में भी कोई संकोच नहीं किया। उनका यह अभियान तब तक अबाध गति से चलता रहा जब तक कि मुसलमान शासक के लिए बंगाल, बिहार और उड़ीसा में शासन चला पाना उन्होंने दूभर न बना दिया। न तो उनको पराजय ही हटा सकी और न ही विनाश उनके साहस को मिटा सका। क्योंकि उनके सामने एक उद्देश था चौथ की प्राप्ति।

अन्ततः १७५० ई० में 'इस्लाम के शेर' अलीवर्दी खाँ का इन मूर्ति-पूजकों से पूरा वास्ता पड़ा और उनसे उसकी ऐसी भीषण मुठभेड़ हुई

कि उसे इन मूर्ति भंजकों से क्षमा याचना करनी पड़ी और भास्कर पन्त की क्रूर हत्या अथवा 'मुण्डकटाई' के बदले में उसे सम्पूर्ण उड़ीसा ही उन्हें दे देना पड़ा। इतना ही नहीं उसे बंगाल और बिहार पर चौथ के रूप में १० लाख रुपया वार्षिक उन्हें चुकाने का वचन भी देना पड़ा। इस प्रकार अन्ततः इन "धर्म निष्ठों" को ही "मूर्तिपूजक राक्षसों" के समक्ष नतमस्तक होना पड़ा। इस संबंध में कोई भी आश्चर्य सहित यही पूछ सकता है कि क्या उन्होंने उस दिन भी इस सब परिस्थिति के उत्पन्न होने के लिए "अल्लाह को धन्यवाद" दिया होगा ?

इस प्रकार जब राघोजी भौंसले बंगाल में मुसलमानी शासन के विषवृक्ष की जड़ों को सफलता सहित उखाड़ कर फेंकने में संलग्न थे, उसी समय उत्तर भारत में भी मराठा सेनापतियों द्वारा मुसलमानी सत्ता के सुदृढ़ केन्द्रों को तहस-नहस कर देने का प्रचण्ड शौर्य प्रदर्शित किया जा रहा था और एक-एक करके विदेशी सत्ता के दुर्गों की दीवारें मराठों के चरणों में नतमस्तक होती जा रही थीं। इधर जिद्दी रुहेले और पठानों ने अभी भी यमुना तट से लेकर नेपाल की सीमाओं तक के भूखण्ड पर अपना अधिकार जमाया हुआ था। उन्होंने मुगलों के विरुद्ध अपना इतना सुदृढ़ संगठन स्थापित कर लिया था कि दिल्ली के मुगल बादशाह के वजीर को भी यह आशंका उपस्थित हो गयी थी कि एक-न-एक दिन वे दिल्ली से मुगल शासन के ध्वंसावशेषों पर पुनः पठानों की सत्ता स्थापित कर लेने में सफल हो जाएँगे। मुगल वजीर ने पठानों की इस आकांक्षा को असफल बनाने के लिए अन्ततः मराठों के समक्ष ही सहायता के लिए अपनी झोली फैलाई। यद्यपि मराठों ने स्वयं भी मुगल सत्ता को धूल धूसरित कर देने की योजना बनाई थी किन्तु वे इस बात को कदापि सहन नहीं कर सकते थे कि उनके द्वारा प्राप्त की गई सफलताओं द्वारा मुगल साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर कोई मुस्लिम अथवा अहिन्दू सत्ता सिंहासनारूढ़ हो जाए। इसलिए मराठों ने मुगल वजीर

द्वारा दिया गया निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार कर लिया। उनके नेता मल्हार राव होलकर तथा जवाजीराव शिन्दे यमुना नदी की धाराओं को लाँघकर अपनी सेना सहित पठानों के उस मोर्चे की ओर बढ़ चले जो उन्होंने कादरगंज में बनाया हुआ था। पठान सेनाओं ने भी बड़ी वीरता सहित संग्राम किया किन्तु अन्ततः उसे मराठी सेना के सम्मुख पराजय स्वीकार करनी पड़ी। पठान सेना नष्ट हो गई। इतना ही नहीं अपितु उन्होंने तत्काल ही पठानों के शक्तिशाली नेता अहमद खाँ को भी घर दबाया जो बड़ी शीघ्रता सहित कादरगंज की ओर अपने साथियों को सहायता पहुँचाने हेतु बढ़ रहा था। अहमदखाँ ने फर्रुखाबाद में प्रविष्ट हो गया किन्तु मराठे भी उसका पीछा करते-करते वहाँ पहुँच गए। कई सप्ताह तक वीभत्स संग्राम चलता रहा किन्तु पठान पराजित न हो सके। क्योंकि उन्हें गंगा के दूसरे ओर खड़ी शक्तिशाली रुहेला सेना से निरन्तर सहायता प्राप्त हो रही थी। इस अनिर्णीत संघर्ष की इतिश्री करने हेतु मराठों ने गंगा पर नौकाओं का एक पुल निर्माण किया और उससे अपनी अधिकांश सेना गंगा के उस पार खड़ी ३०,००० सैनिकों पर आधारित रुहेलों और पठानों की विशाल वाहिनी पर आक्रमण करने के लिए भेज दी। सेना का एक भाग फर्रुखाबाद में ही मोर्चा जमाए रहा दुर्धर्ष संग्राम आरम्भ हुआ और उसके उपरान्त इतिहास ने लिख दी पठानों और रुहेला की पराजय तथा वीर मराठों के गले में रण देवी ने विजय माल समर्पित कर दी। इधर फर्रुखाबाद में अहमदखाँ ने वहाँ मोर्चा संभालनेवाली मराठा सेना को पराजित कर भाग निकलने का जी तोड़ प्रयास किया जिससे वह अपने प्राण बचाकर भाग निकलने में सफल हो जाए। परन्तु अहमदखाँ को भी हाथ लगी केवल असफलता ही। मराठों ने भी उसका पीछा किया। उन्होंने मुस्लिम सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और उसके शिविर को भी लूट लिया। मराठे मुस्लिम सेना के बहुत से हाथी-घोड़े और ऊँट आदि भ

लूट के माल के रूप में अपने साथ लेते गए । इस आक्रमण में प्राप्त हुई विजय मराठों के लिए जितनी शानदार थी उतनी ही सफल और फलदायक भी।

पठानों ने अपने संघर्ष को धार्मिकता का रंग देकर मराठों के विरुद्ध अभियान आरम्भ किया था, उन्होंने अपने धार्मिक उन्माद की लहर में ही काशी पर आक्रमण कर वहाँ के हिन्दू मन्दिरों को तो अपवित्र किया ही था साथ ही पुरोहितों पर भी अमानवीय अत्याचारों की झड़ी लगा दी थी। वे इस दमन अत्याचार के बल-बूते पर यह घोषणा भी करने लगे थे कि किसी काफिर में पठानों का प्रतिरोध करने की शक्ति ही नहीं है, क्योंकि अल्लाह उनके साथ है। वस्तुत: उनका यह कथन एक प्रकार से सही ही था क्योंकि मराठों को कभी उनका सामना करने का सुअवसर ही प्राप्त न हो पाता था। कारण यह था कि जब कभी भी आमने-सामने खड़े होकर युद्ध करने का अवसर आता पठान पीठ दिखाकर पलायन कर जाते थे। किन्तु इस मुठभेड़ में मुसलमानों की शेखी का भाण्डा चौराहे पर फूट गया। मुसलमान आगे-आगे मुँह छिपाये भाग रहे थे और मराठे उनका पीछा करते जाते थे। पठानों की इस पराजय से हिन्दू जनता ने सन्तोष की एक श्वाँस ली और उन्हें यह देखकर हार्दिक सन्तोष की अनुभूति हुई कि उनके मन्दिरों का जो अपमान हुआ था, उनके हृदय में पराजय के जो शूल कसक रहे थे उनको निकालकर सम्मान की सरगम हिन्दू जाति के कंठों से गूँजने लगी थी। उस समय के पत्रों से भी विजय के यही स्वर फूटते हुए सुनाई पड़ते हैं :

"पठानों ने काशी और प्रयागराज को अपमानित किया था। किन्तु अन्ततः विजय की देवी ने हरि भक्तों के मस्तक पर ही विजय का राज-मुकुट रख दिया है। शत्रुओं ने काशी में वायु का बीजारोपण किया था किन्तु परमात्मा की कृपा से आँधी के रूप में फर्रुखाबाद में उसे काट दिया गया।" इस विजय के राजनीतिक परिणाम भी कम उल्लेखनीय

और महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं हुए । क्योंकि मुस्लिम सम्राट् भी मराठों की इस महान शक्ति को देखकर थर्रा उठा । वह अपने राज्य में भी मराठों को चौथ वसूल करने का अधिकार देने पर मजबूर हो गया । इस भाँति मराठे उस अंचल से भी चौथ प्राप्त करने लगे जो अभी तक उनके प्रभाव से मुक्त था । अब मराठों की विजय पताका भारतीय साम्राज्य के अवशिष्ट अंचलों में गौरव सहित फहरा उठी । मुलतान (सिन्ध), पंजाब, राजस्थान और रुहेलखण्ड भी मराठों के प्रभाव के अन्तर्गत आ गये । हरिभक्तों को सच्चे अर्थों में ही यह घोषणा करने का पुनीत अवसर प्राप्त हो गया कि मराठों का तीक्ष्ण भाला मुगल साम्राज्य के वक्षस्थल में भौंक दिया गया है । इन महान विजयों की प्राप्ति का शुभ समाचार जब महाराष्ट्र मण्डल के नेता बालाजी को मिला तो उन्होंने मराठा सेना को एक पत्र लिख भेजा । जिसमें उन्होने कहा था :

'शाबास तुमच्या हिमती ची व दिलेर रूस्तुमीची ! व शाबास लोकांची । आमच्या दक्षिणच्या फौज़ानि यमुना गंगा पार होऊन रोहिलेपठाणाशीं युद्ध करुन आपण पावाबें हें कर्म लहान् सामान्य न जाले ! तुम्ही एकनिष्ठ कृतकर्मे सेवक; या दौलती चे स्तबं आहां ! ···इराण तुराण-पावेतों लौकिक जाला की, वजीर मोडला पलाला असतां, फिरोन फतेच्या मसनदीवर वसविला, याजहून यश कोंपतें अधिक आहे ?

—पत्ररूप इतिहास पृ० १७५

(तुम्हारा साहस अनुपम है, तुम्हारी वीरता प्रशंसनीय है । दक्षिण की सेनाओं ने, नर्मदा, यमुना और गंगा को पार कर रूहेला और पठानों जैसे शक्तिशाली शत्रुओं को चुनौती देकर उन्हें युद्ध में पराजित मात्र ही नहीं किया अपितु उनकी सेनाओं को भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है । तुमने जो विजय प्राप्त की है वह वस्तुतः असाधारण है । तुम्हीं हिन्दू साम्राज्य के स्तम्भ हो । तुम्हारे नाम की कीर्ति पताका अब ईरान और और तूरान से भी आगे तक सम्राट् निर्माताओं के रूप में फहरा

उठी है।)

महाराष्ट्र मण्डल के नेताओं ने एक बार पुनः अवध के नवाब और दिल्ली के वजीर से पुण्य धाम काशी और तीर्थराज प्रयाग को प्राप्त करने का प्रयास किया। वे हिन्दू स्वातन्त्र्य के महान आन्दोलन के प्रतिनिधि थे। अतः हिन्दुओं के पुनीत धामों पर मुस्लिम प्रभुत्व की पताकाएँ अभी भी फहराती हुई देखकर उनके हृदय मे शूल-सा कसमसाता रहता था। मराठों ने इन धर्मस्थानों की मुक्ति का सतत प्रयास किया, इसकी साक्षी उस समय के पत्र-व्यवहार से पूर्णतः प्राप्त हो जाती है। जब कूटनीतिक माध्ममों से यह लक्ष्य पूर्ण होता दिखाई न दिया तो मल्हार राव अधीर हो उठे। उन्होंने निश्चय कर लिया कि काशी पर सीधे ही धावा बोलकर, ज्ञानवापी के पवित्र देवस्थान पर खड़ी मस्जिद को भूलुंठित कर हिन्दू धर्म के अपमान के इस स्मारक को सदैव के लिए समाप्त कर दिया जाय क्योंकि हिन्दुओं के पवित्रतम मन्दिर ध्वंसावशेषों पर खड़ी हुई यह मस्जिद उन दुर्भाग्य के दिनों का स्मरण दिलाती रहती थी जब मुस्लिम पताका हिन्दू जाति के श्रद्धा के केन्द्रों पर फहराई गई थी। किन्तु काशी के ब्राह्मणों के हृदयों में यवनों द्वारा प्रतिशोध लिए जाने का भय विद्यमान था। क्योंकि काशी नगरी के चारों ओर अभी भी यवनों का प्रभुत्व यथापूर्व स्थापित था। ब्राह्मणों को भय था कि उनकी क्रोधाग्नि से वे ही नहीं सम्पूर्ण नगरी दग्ध हो उठेगी। अतः उन्होंने मल्हार राव से अनुरोध किया जब तक कोई शुभ घड़ी उपस्थित न हो जाय तब तक के लिए वे अपनी इस योजना को क्रियात्मक रूप न दें। इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उन्होंने अपने इसी पत्र में अपनी इस पावन उद्विग्नता को भी व्यक्त किया हो कि हम लोग ही, अपने प्राणों तथा नगर की रक्षा के लिए आपको काशी पर आक्रमण करने से रोककर राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध लेने से रोककर पाप के भागी बन रहे हैं।

(१८ जून, १७५१)

शाहू जी का १७४६ ई० में देहान्त हो गया था। उसी समय से बालाजी, जिन्हें शाहू ने सर्वोच्च सत्ता प्रदान कर दी थी, महाराष्ट्र मण्डल के नेता हो गए थे। वे ही अब उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं तथा आदर्शों की आत्मा बन गए थे। घरेलू वाद-विवाद और राजमहल में यदा-कदा होने वाले उन षड्यन्त्रों के बावजूद जो गम्भीर रूप भी धारण कर लेते थे, इस सुयोग्य नेता ने मुगल साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर मराठों के नेतृत्व में एक महान् तथा स्वतन्त्र साम्राज्य की स्थापना का पावन लक्ष्य अपने नेत्रों से कभी ओझल न होने दिया। इस महान् आदर्श को साकार रूप देने हेतु उन्होंने अपने कई पूर्वजों की अपेक्षा भी कठोर श्रम तथा साधना की। उन्होंने अपने इस महत् कार्य को सम्पन्न करने हेतु सभी विदेशी शक्तियों से लोहा लिया फिर चाहे वह शक्ति मुसलमानों की थी अथवा इसाईयों की, वह एशियावासियों के रूप में खड़ी हुई थी अथवा यूरोपवासियों के रूप में उसका उद्भव हुआ था।

विदेशी शक्तियों में से फ्रांसिसी इस दिशा में पर्याप्त शक्ति सम्पन्न हो चुके थे। किन्तु बालाजी भी इस सम्बन्ध में पूर्णतः सचेत तथा सतर्क थे। किन्तु उन्हें भारत के सुदूर अंचलों में भी शत्रुओं के साथ घोर संघर्षों में अवरुद्ध होना पड़ रहा था और अनेक शत्रुंओं से लोहा लेने के लिए खड़ा होना पड़ा था, जो मराठों की हिन्दू शक्ति का दमन करने के स्वप्न ले रहे थे। अतः वे तत्काल फ्रांसिसियों से उलझने की स्थिति में नहीं थे। इसलिए उन्होंने संघर्ष को टालने का भी प्रयास किया। किन्तु अन्ततः वह घड़ी आ ही गई जब कि बालाजी को उनसे भी हिसाब चुकता करना पड़ा। राजनैतिक गुत्थियों के दबाव ने बालाजी को रणभूमि से उतर कर फ्रांसिसियों से दो-दो हाथ करने का सुअवसर प्रदान कर ही दिया। बालाजी का फ्रांसिसियों और उनके सहायक निजाम से संघर्ष हो ही गया तथा इतिहास ने मराठों के गले में जयमाल समर्पित कर दी और

फ्रांसिसियों को भी रणभूमि में मिली पराजय। उन्हें १७५२ ई० में भालाकी में मराठों से सन्धि करनी पड़ी। जिसके फलस्वरूप मराठों को ताप्ती और गोदावरी सरिताओं के मध्य में स्थित अंचल पर भी अधिकार प्राप्त हो गया इससे दक्षिण भारत के विभिन्न राज्यों में फ्रांसिसियों के प्रभाव की जो तूती बोलती थी उसका भी भाण्डा चौराहे पर ही फूट गया।

पेशवा ने कर्णाटक तथा दक्षिण भारत के निचले भागों में विद्रोही नवाबों को दण्ड देने का कार्य पहले ही प्रारम्भ कर दिया था तथा सवनूर के नवाब को भी कमर तोड़ पराजय देकर उसे अपने राज्य का एक विस्तृत भाग मराठों को देने तथा शेष राज्य पर ११ लाख रुपये कर के रूप में चुकाने के लिए बाध्य होने पर मजबूर कर दिया था। तदुपरान्त बालाजी और भाऊ के नेतृत्व में ६० हजार मराठा श्री रंगपट्टण जा पहुँचे। उन्होंने शिवरे पर परम पवित्र भगवा ध्वज फहरा दिया तथा ३५लाख रुपया चौथ के रूप में प्राप्त किया एवं छोटे-छोटे मुसलमान सरदारों को भी दण्ड दिया। इसके बाद बलवन्तराव मेहन्दाले के नेतृत्व में मराठा सेना ने कुड्डापा के मुस्लिम नवाब पर चढ़ाई कर दी। उस समय दक्षिण के निचले भाग के वे सभी मुस्लिम सरदार भी नवाब की सहायतार्थ एकत्रित हो गए जो मराठों के भय से थर-थर काँपा करते थे इतना ही नहीं अंग्रेज़ों ने भी नवाब की सहायता की। किन्तु घनघोर वर्षा की झड़ियां लगी रहने पर भी वीर मराठा सेना के दल-बादल बलवन्तराव मेहन्दाले के नेतृत्व में मुस्लिम सेनाओं पर टूट पड़े। भयंकर संग्राम हुआ, जिसमें मराठों की तलवारों ने हजारों पठानों के रक्त से अपनी प्यास बुझाकर सहस्रों मुण्डों की माला रणचण्डी को अर्पित कर दी। नवाब भी इस युद्ध में ही मारा गया। उसके राज्य के आधे भाग को अपने साम्राज्य में मिला लेने के उपरान्त मराठों के विजयी घोड़े अर्काट के नवाब की ओर बढ़ चले। अंग्रेज़ों ने उसे भी भारी सहायता दी। किन्तु नवाब और

उसके संरक्षक दोनों ही मराठों की माँग की उपेक्षा करने का साहस न कर सके। मराठों को शान्त करने के लिए उन्हें ४ लाख रुपया देना ही पड़ा। १७५६ ई० में मराठों ने बंगलौर पर घेरा डाल दिया तथा चीना-पट्टण पर अधिकार जमा लिया। उस हैदर को जो मैसूर का एकछत्र स्वामी बनने की कल्पनाएँ कर रहा था मराठों को ३४ लाख रुपये की विपुल राशि देने पर विवश होना पड़ा। बालाजी की आकांक्षा तो उसे उसी समय कुचल डालने की थी किन्तु भारत के अन्य अंचलों में मराठों का जो अभियान चल रहा था उसे दृष्टिगत रखते हुए उन्हें दक्षिण के निचले अंचल की विजय का कार्य अधूरा छोड़कर अपनी सेनाएँ वापस बुलानी पड़ी।

इसी अवधि में १७५३ ई० में, राघोवा ने अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया था और दिल्ली में मराठों के प्रभाव का विरोध करने वाले जाटों को विवश कर उनसे ३० लाख रुपया प्राप्त कर लिया था। ठीक उसी समय जोधपुर के राज्य सिंहासन पर अधिकार करने के प्रश्न को लेकर राजपूतों में गृह-युद्ध की ज्वाला भभक उठी। रामसिंह ने गद्दी के दूसरे दावेदार विजयसिंह के विरुद्ध मराठों से सहायता की याचना की। मराठे उसे सहायता देने के लिए तैयार हो गये और दत्ताजी तथा जयप्पा के नेतृत्व में मराठा सेना ने उसकी सहायतार्थ प्रस्थान कर दिया। राजपूतों और ५० हजार सैनिकों पर आधारित विशाल मराठा सेना में भयंकर रक्तपात हुआ। रणभूमि में रक्त की सरिताएँ फूट पड़ीं और राजपूत पराजित होकर नागौर की ओर भाग निकले। विजयसिंह की राज्य सिंहासन पर अधिकार जमाने की आशाएँ भी पराजय की इस धल में मिल गईं। जयप्पा ने वहाँ भी घेरा डाल दिया किन्तु राजपूतों और मराठों अर्थात् हिन्दू से हिन्दू के ही इस युद्ध को बालाजी तनिक भी पसन्द नहीं करते थे। उन्हें यह असुखद कार्य अत्यन्त दुखी कर रहा था। इसलिए उन्होंने शिन्दे पर इस बात के लिए जोर दिया कि वह

राजस्थान के राजपूतों में समझौता करा दे तथा हिन्दुस्थान की पुनीत नगरियों काशी और प्रयागराज की मुक्ति के उस महान् लक्ष्य की दिशा में प्रवृत्त हो जिसकी आकांक्षा प्रत्येक मराठा देशभक्त के हृदय को आन्दोलित कर रही है।

किन्तु ठीक उसी समय विजयसिंह ने एक नितान्त घृणित अपराध कर दिया। जिससे सम्पूर्ण महाराष्ट्र में उत्तेजना व्याप्त हो गई और समझौता कराने के प्रयास को चलाना पूर्णतः असम्भव ही हो गया। यह बात स्मरणीय है कि विजयसिंह के चाचा ने भी पीलाजी गायकवाड़ को अपने शिविर में बुलाकर उनकी हत्या कर दी थी जब कि वे एक अतिथि के रूप में वहाँ ठहरे हुए थे। विजयसिंह ने भी अपने चाचा के ही पदचिह्नों पर चलने का निश्चय कर लिया। वह इस तथ्य को भूल ही गया कि पीलाजी की हत्या के कारण मराठों की क्रोधाग्नि किस भाँति प्रचण्ड हो उठी थी और उनकी हत्या का प्रतिशोध उन्होंने किस प्रकार लिया था।

विजयसिंह के सैनिक शिविर से तीन हत्यारे राजपूत भिखारियों का रूप धारण कर जयप्पा के शिविर में पहुँचे। उन्होंने मराठों के अस्तबल में बिखरे हुए चने बिनने आरम्भ कर दिये। जयप्पा जब स्नान करने के लिए अपने खेमें से बाहर निकले उसी समय इन हत्यारों ने इस निहत्थे वीर पर आक्रमण कर अपने छुरे उसके शरीर में घुसा दिये। जयप्पा को प्राणघातक प्रहार लगे। उसी समय मराठा सैनिकों ने दो हत्यारों को बन्दी बना लिया किन्तु उनमें से एक भागकर निकल जाने में सफल हो गया। अब जब कि मराठा सेना नेता विहीन तथा भ्रमित-सी हो रही थी राजपूत मराठा सेना को कुचल देने की लालसा लिए उस पर टूट पड़े। सम्भवतः इन राजपूतों की यह आशा पूर्ण हो जाती किन्तु इस महान् वीर मराठा सेनापति के आत्मबल के कारण ऐसा सम्भव न हो सका। मृत्यु शय्या पर पड़े हुए वीर जयप्पा ने शोक

सन्तप्त मराठा सरदारों को, जिनकी आँखों से अश्रुधाराएँ प्रवाहित हो रही थीं, और जो उनके चारों ओर एकत्रित थे, सम्बोधित करते हुए नितान्त ही ओजपूर्ण शब्दों में कहा. "नारियों के समान बिलखने के पूर्व पहले अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो।"

अपने प्राण त्यागते हुए वीर सेनापति के इन प्रेरणादायक शब्दों को सुनकर मराठा सैनिक क्रोध और उत्साह से भर उठे। उन्होंने विजयसिंह को पुनः रणभूमि में पराजित कर दिखाया। उसी समय तक अन्य मराठा सरदार भी शिन्दे की सहायतार्थ पहुँच गये। १०,००० सैनिकों की शक्तिशाली सेना सहित अन्ताजी मणकेश्वर भी राजस्थान में प्रविष्ट हो गए और उसने उन सभी राजपूत राज्यों को कठोर दण्ड देना आरम्भ कर दिया जिन्होंने युद्ध में विजयसिंह को सहायता दी थी। इस प्रकार निराशा के महासागर में डूबते हुए विजयसिंह के समक्ष सन्धि कर लेने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही न रह गया। उसने उसी रामसिंह का अधिकार स्वीकार किया जिसे उसने सत्ता-च्युत कर दिया था। नागौर, मेड़ता और अन्य जिले तथा अजमेर का क्षेत्र उसे दे दिया। इसके साथ ही मराठों का युद्ध का सम्पूर्ण व्यय भी उसे ही चुकाना पड़ा।

उसी समय बूंदी के अल्पवयस्क शासक की विधवा माता ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध शिन्दे से सहायता के लिए अपना आँचल फैलाया। दत्ताजी ने राजमाता की इच्छानुसार ही सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न कर दिया। इस शौर्य से प्रसन्न होकर राजमाता ने भी शिन्दे को ७५ लाख रुपये का पुरस्कार देकर उसका आभार व्यक्त किया।

१२

सिन्धु सरिता पर

फडून नवस माहोरास गेले लाहोरास जिंकित शेंडे ॥
अरे त्यांनीं अरकेंत पाव घटकेंत लाविले झेंडे ॥
सरदार पदरचे कसे कुणि सिंह जसे कुणि शार्दुल गेंडे ॥

—प्रभाकर

(मराठों ने माहोर पर अधिकार जमाने के उपरान्त लाहौर पर भी अपना विजय ध्वज फहरा दिया। तदुपरान्त थोड़े-से समय में ही अटक पर भी उनकी विजय पताका लहराने लगी। उनके जो सरदार थे वे वस्तुतः सिंहों, व्याघ्रों तथा गेंडों के समान साहसी और शूरवीर थे।)

इसी अवधि में दिल्ली में राघोबा का प्रभाव दिन प्रतिदिन वृद्धि पा रहा था। वह वहाँ कई महत्त्वपूर्ण घटनाओं का सूत्रधार सिद्ध हो चुका था। उसकी सहायता से ही गाजिउद्दीन शाही वजीर का पद प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर पाया था। उसने ही बादशाह को कुरुक्षेत्र तथा गया जैसे पावन हिन्दू तीर्थों को मराठों को देने पर विवश कर दिया था। वह स्वयं ही आगे बढ़ा और उसीने अपने शौर्य से मथुरा, वृन्दावन, गढ़मुक्तेश्वर, पुष्पवती, पुष्कर तथा अन्य कई पवित्र हिन्दू तीर्थ स्थलों को पराधीनता के पाश से मुक्त कराने का महान् कार्य पूर्ण किया। इतना ही नहीं वह एक प्रचण्ड मराठा सैनिक टुकड़ी लेकर बाबा विश्वनाथ की पुनीत नगरी काशी में भी प्रविष्ट हो गया और इस हिन्दू तीर्थ स्थली पर फहराने वाला विदेशियों की सत्ता का प्रतीक ध्वज फाड़कर उसने टूक-टूक कर दिया। इस प्रकार हिन्दू जनता की चिर प्रतीक्षित अभिलाषा पूर्ण हो गई और राघोबा ने बड़े गर्व सहित पेशवा को यह सूचित करने का गौरव प्राप्त किया कि हिन्दुत्व के लगभग सभी पुनीत

श्रद्धा केन्द्र पवित्र तीर्थ स्थल मुसलमानों के अधिकार से छीन लिए गये हैं। अब उत्तर भारत के उन सभी धर्म स्थानों पर पुनः हिन्दुत्व की पावन पताका सगौरव फहराने लगी हैं। इससे मराठों द्वारा हिन्दू स्वातन्त्र्य तथा हिन्दू पद-पादशाही का प्रतिनिधि होने तथा स्वातन्त्र्य संघर्ष का नेतृत्व करने की घोषणा और भी अधिक स्पष्ट हो गई। इधर मराठों के इस बढ़ते हुए प्रभाव से सम्राट् भी थर्रा उठा और उसने उनसे युद्ध करने की तैयारी आरम्भ कर दी। शाही वजीर गयासुद्दीन मराठों की कृपा-दृष्टि के फलस्वरूप ही पद प्राप्त कर पाया था। अतः जब से उसे बादशाह की इस इच्छा तथा अपने और मराठों के विरुद्ध होने वाले गुप्त षड्यन्त्र की जानकारी प्राप्त हुई तो उसने तत्काल ही होल्कर को सूचित कर सहायता के लिए आमन्त्रित कर दिया। होल्कर ने भी ५०,००० मराठा सैनिकों को लेकर शाही सेना को नितान्त ही सरलता सहित पराजित कर पलायन करने पर विवश कर दिया। शाही सैनिकों ने तो पलायन किया ही मुगल बेगमों की सुधि लेने वाले भी कोई नहीं रहा। वे सब भी मराठों के हाथ पड़ गईं। मराठों ने गाजिउद्दीन को साथ लिए मुगलों के राजमहल में विजेताओं के रूप में प्रवेश किया। उन्होंने वृद्ध सम्राट् को सिंहासन-च्युत कर उसके स्थान पर एक नये व्यक्ति को सिंहासन पर बैठा दिया। उसको मराठों ने आलमगीर द्वितीय का नाम दिया। जिससे आलमगीर नाम की महत्ता भी पूर्णतः समाप्त की जा सके। आलमगीर का अर्थ है विश्व विजेता।

आलमगीर की उपाधि धारण करने वाले दो सम्राट दिल्ली के राज्य सिंहासन पर बैठे थे। आलमगीर प्रथम तथा आलमगीर द्वितीय। इनमें से प्रथम आलमगीर अर्थात् औरंगजेब ने तो यह कल्पना की थी कि वह अपने शाही क्रोध की एक फूँक मात्र से ही हिन्दू जीवन के टिमटिमाते हुए दीपक को बुझाकर हिन्दुत्व के मन्दिर में ही पूर्णतः अंधकार व्याप्त कर देगा। उसने अपने अल्लाह का नाम लेकर फूँक भी पूरे जोर-शोर

से मारी, परन्तु उस दीपक की लौ ने उसकी दाढ़ी ही झुलस डाली। शीघ्र ही हिन्दुत्व के दीपक की वर्तिका से उभरती हुई लौ ने प्रचण्ड दावाग्नि का रूप ग्रहण कर लिया। इस अग्नि ने ही सहाद्रि पर्वत माला को जा पकड़ा और उसमें से ऐसी प्रचण्ड लपटें प्रज्वलित हो उठीं जिनसे लाखों मानवों के हृदय, मन्दिरों के शिखर कलश तथा पर्वत और तराइयाँ ही नहीं, जल और स्थल भी आलोकित हो उठे। शनैः शनैः हिन्दू जीवन का यह टिमटिमाता हुआ दीपक एक प्रचण्ड यज्ञाग्नि का रूप धारण कर गया। आलमगीर प्रथम अर्थात् औरंगजेब मराठों को पर्वतीय चूहों के रूप में देखता था, परन्तु इन तथाकथित चूहों के दांत इतने पैने हो गए थे कि इन्होंने अपने जबड़ों से इस्लाम के कई शेरों के पेट फाड़ डाले और उनका रक्त द्वितीय आलमगीर की राजधानी में मराठों के तलुओं को पखारता हुआ बहने लगा। आलमगीर प्रथम तो शिवाजी को एक सामान्य से राजा के रूप में भी मान्यता नहीं देता था किन्तु उसके उत्तराधिकारी आलमगीर द्वितीय को अपने आपको सम्राट कहलाने का सौभाग्य भी शिवाजी के वंशजों की ही कृपा दृष्टि के कारण प्राप्त हो सका। क्योंकि मराठों ने उसके स्वयं को सम्राट कहते रहने में कोई आपत्ति नहीं उठाई क्योंकि वे समझते थे कि इससे उन्हें कोई हानि नहीं होगी।

हिन्दुस्थान का मुस्लिम समुदाय हिन्दू राज्य का विस्तार, प्रचण्ड शक्ति और उसके प्रताप की पुनीत पताका गौरव सहित फहराते हुए देखकर क्रोधाग्नि में जल-भुनकर कबाब होने लगा। रुहेले और पठान जिनको मराठों ने केवल फर्रुखाबाद में ही नहीं अपितु अन्य कई स्थानों पर भी पराजित किया था, वजीर तथा नवाब जो अपने पदों से हटा दिए गये थे, मुल्ला और मौलवी जिन्होंने हिन्दुओं के हाथों उस हलाली परचम (ध्वज) को हटाये जाते हुए देखा था जो कभी शान से सम्पूर्ण भारत में फहराता था, ये सभी हिन्दुओं की दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति

को देखकर अधीर हो उठे। इतना ही नहीं अपितु मुगल सम्राट का हृदय भी अपनी इस परवशता पर क्षुब्ध हो उठा था कि उसका शासन भी मराठों के भालों की नोक पर ही टिका हुआ था। अतः इन सब निराश और हताश मुसलमान शक्तियों ने मराठा साम्राज्य का विनाश करने की शपथ ग्रहण कर गुप्त योजनाएँ और षड्यन्त्र करने आरम्भ कर दिए। किन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि मराठों की इस महान शक्ति का उत्तर भारत में उदय कतिपय हिन्दू राजाओं को भी खलने लगा। जयपुर का माधवसिंह, जोधपुर का विजयसिंह, जाटों तथा अन्य छोटे-छोटे हिन्दू राजाओं ने भी मराठों के विरुद्ध अपनी जाति तथा राष्ट्र के शत्रुओं से ही हाथ मिलाने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। उन्होंने भी मुसलमानों को उस हिन्दू शक्ति के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने के लिए प्रोत्साहित किया जो एकाकी भी हिन्दुओं की स्वतन्त्रता और उनके धर्म की सुरक्षा के पुनीत कार्य को सम्पन्न करने के लिए संकल्प-बद्ध ही नहीं थी अपितु सक्षम और समर्थ भी थी। मुस्लिम जगत के नेताओं ने अपनी पुरानी परम्परा का पालन करते हुए इन मूर्ति पूजकों तथा काफिरों का विनाश करने के लिए भारत की सीमाओं से बाहर रहने वाले अपने धर्म-बन्धुओं को आमन्त्रित करने का निश्चय कर लिया। क्योंकि ये खुले युद्ध, धोखा देने, चालाकी से काम लेने और औरंगजेब की धूर्तता की नीति का अनुकरण करके भी मराठों को पराजित करवाने में अपने को असफल ही पा रहे थे।

इस भयंकर षड्यन्त्र के नेता के रूप में सामने आया नजीब खाँ रुहेला जो मराठों के नाश में ही अपना अभ्युदय देख रहा था। इस षड्यन्त्र के दूसरे नेता की भूमिका निभाई मलका जमानी ने जो एक ऐसी नारी थी कि कभी उसके षड्यन्त्रों के कारण मुगलों का सम्पूर्ण हरम (शाही महल) उसकी उंगलियों पर नाचा करता था। उ ं यह सहन नहीं था कि वह हिन्दुओं की दया पर आश्रित रहे तथा एक भिक्षुणी के समान

उनसे प्राप्त हुई रोटियों पर अपना निर्वाह करे। इन दोनों ने ही अपने पूर्वजों की इसी परिपाटी का पालन किया, जिसके अनुसार उन्होंने भय-संत्रस्त होकर आशा का एक नन्हा-सा दिया अपने दिल में जलाकर नादिरशाह को भारत पर आक्रमण करने के लिए निमन्त्रित किया था। उन्होंने अहमदशाह अब्दाली से गुप्त रूप से पत्र व्यवहार किया तथा उससे अनुरोध किया कि वह मुस्लिम साम्राज्य की रक्षार्थ विधर्मियों पर आक्रमण कर दे। अहमदशाह ने भी उनके इस निमन्त्रण को इसलिए सहर्ष स्वीकार कर लिया, क्योंकि उसे भी आक्रमण कर देने में ही अपने कई स्वार्थों की पूर्ति होती हुई प्रतीत हो रही थी। विजय प्राप्ति तो उसकी चिर संचित अभिलाषा थी ही किन्तु इस निमन्त्रण को स्वीकार करने का इससे भी बड़ा कारण यह था कि मराठों का पुनीत प्रताप और उनका साम्राज्य अब मुलतान के पास तक विस्तार पा गया था। इस प्रकार अपने राज्य की सीमाओं पर भी मराठों के विजयी तुरंगों की टापों की गूँज सुनाई पड़ने लगी थी और उसे प्रतिदिन ही उनके साम्राज्य के विस्तार की आशंका बनी रहती थी। इस आशंका से भी वह मराठों से लोहा लेने के लिए तैयार हो गया।

अब्दाली मुलतान और पंजाब पर तो पहले ही अपना अधिकार बना चुका था। किन्तु १७५० ई० में मराठों ने थट्टा, मुलतान तथा पंजाब के बाहरी और आन्तरिक आक्रमण से सुरक्षा का भार अपने ऊपर लेकर वहाँ शान्ति बनाए रखने का कार्य भी संभाल लिया था। उन्हें इन प्रदेशों में चौथ प्राप्त करने का अधिकार भी प्राप्त हो गया था। इसीलिए १७५४ ई० में उन्होंने अपनी ही कृपादृष्टि से वजीर बने रहने वाले गाजिउद्दीन को अब्दाली से पंजाब और मुलतान छीन लेने में सहायता भी प्रदान की थी। वस्तुतः यह घटना अब्दाली के लिए मराठों द्वारा दी गई खुली चुनौती के समान ही थी। ठीक उसी समय नजीब खाँ के षड्यन्त्रों से अब्दाली इस सम्बन्ध में पूर्णतः आश्वस्त हो गया था कि

यदि उसने मराठों पर आक्रमण कर दिया तो भारत के मुसलमानों के शक्तिशाली वर्ग का उसे पूर्ण समर्थन और सहायता प्राप्त होगी। इस आश्वासन से इस पठान विजेता की महत्त्वाकांक्षाएँ यहाँ तक बढ़ गईं कि वह भारत का शहंशाह बनकर शाही ताज को ही अपने सिर पर धारण करने का सुख स्वप्न देखने लगा और उसने यह समझ लिया कि जिस कार्य को सम्पन्न करने में नादिरशाह भी असफल रहा था उसे वह अपने हाथों से सम्पन्न कर दिखाएगा। जब उसे १७५६ ई० में यह विदित हुआ कि मराठा सरदार दक्षिण भारत में उलझे हुए हैं तो उसने ८०,००० सैनिकों की विशाल वाहिनी को साथ लेकर सिन्धु सरिता को पार कर लिया। पंजाब पर उसने अपना अधिकार ही नहीं जमाया अपितु दिल्ली भी बिना किसी प्रकार के प्रतिरोध के ही उसके अधिकार में आ गई। दिल्ली पर अपना खूनी पंजा कर गाड़कर उसने सम्पूर्ण शाही पदवियाँ भी धारण कर लीं। पठानों की परम्परा के अनुसार वह क्रुद्ध भी हुआ और उसने दिल्ली के नागरिकों का कई घण्टों तक खुला नरमेध करने को अपने सैनिकों को छूट दे दी। अगणित मासूमों की आहों, कराहों और चीख-पुकार तथा चीत्कार में ही उसे अपनी शाही शान के स्थापित होने का जयघोष होता हुआ सुनाई पड़ा। इन कुछ घण्टों के हत्याकाण्ड में ही दिल्ली में १८ हजार से अधिक लोगों के सिर तलवारों से काटकर रक्त के नाले बहा दिए। तब अपना मुस्लिम धर्म रक्षक का दावा सही सिद्ध करने की दृष्टि से उसने उन हिन्दुओं के पवित्र नगरों तथा तीर्थ स्थानों का सर्वनाश करना आरम्भ कर दिया जिन्हें कुछ समय पूर्व ही मराठों ने मुसलमानी सत्ता के क्रूर पंजों और दासता से मुक्त कराने में सफलता प्राप्त की थी। अहमदशाह अब्दाली के इस रोष और अत्याचार का प्रथम शिकार बनी उत्तर भारत की पावन नगरी मथुरा। मथुरा की रक्षार्थ आज मराठे तो नहीं थे किन्तु वहाँ के लगभग ५ हज़ार जाटों ने शत्रु की विशाल सेना से घोर संग्राम किया और उनके रणभूमि

में प्राण विसर्जित कर देने के उपरान्त ही मथुरा पर अब्दाली की पताका फहरा पाई। मथुरा पर अपना क्रोध उतारने के बाद मुस्लिम विजेता ने गोकुल और वृन्दावन की पुनीत नगरियों को अपने अत्याचारों की ज्वाला में दग्ध कर देने के लिए कदम बढ़ाया। वहाँ भी अपने देवता गोकुलनाथ की रक्षार्थ ४ हज़ार नागा सशस्त्र होकर शत्रु दलों से संघर्ष करने के लिए अपने प्राण हथेली पर धर कर समरभूमि में आ डटे। लगभग दो हजार वैरागियों की लाशें अपनी इस पुनीत नगरी की रक्षा करते-करते रणभूमि में बिछ गईं किन्तु उन्होंने अहमदशाह अब्दाली की प्रचण्ड सेना के मुख मोड़ दिए और अपनी पावन देवस्थली की रक्षा कर पाने में सफल हो गए। अब अब्दाली वीर वैरागियों के हाथों धूल चाटने के कारण अपनी पराजय का कलंक धोने के लिए पवित्र यमुना तट पर ही स्थित आगरा की ओर चढ़ दौड़ा। उसने आगरा पर अधिकार कर दुर्ग पर भी आक्रमण कर दिया। इसी दुर्ग में शरण ले रहा था मराठों के समान ही पठानों और फारसियों से घृणा करने वाला वजीर गाजि-उद्दीन। वह तथा उसके कतिपय अन्य मुसलमान सहयोगी भी इस दुर्ग में थे जिन्हें एक दिन के लिए भी भारत में पठान और फारस के वंश का राज्य स्थापित होना सहन नहीं था। वे सब यहाँ अपने उद्धार के लिए मराठों की बाट जोह रहे थे।

किन्तु उसी समय जयपुर, जोधपुर तथा उदयपुर के राजपूत शासक और अन्य हिन्दू राजा क्या कर रहे थे? वे मराठों से घृणा करते थे तथा उनके द्वारा हिन्द पद-पादशाही की स्थापना करने के आन्दोलन के अधिकार को ही चुनाती देते थे। उचित तो यही था कि वे इस समय उत्तर-भारत में हिन्दू हितों की रक्षार्थ आगे आते और सयुक्त रूप से अथवा अलग-अलग ही संघर्ष करते हुए यह सिद्ध कर दिखाते कि वस्तुतः वे हिन्दुत्व की रक्षा तथा हिन्दू राज्य को स्थापना के महान् कार्य को साफल्य-मंडित करने में मराठों से कहीं अधिक सक्षम तथा शक्तिशाली हैं।

किन्तु उनमें से एक भी आगे न आया। अहमदशाह अब्दाली लाखों हिन्दुओं के सामने से होता हुआ दिल्ली और आगरा होते हुए ही अपनी घोषणा के अनुसार सीधे दक्षिण भारत की ओर बढ़ चला। मुसलमानों के झुण्ड-के-झुण्ड उल्लास सहित नारे लगाते काफिरों को कत्ल करो की सदाएँ गुंजाते हुए हिन्दुओं के घरों को उजाड़ते, मन्दिरों को गिराते और तीर्थ स्थलों को अपावन करते हुए एकत्रित होते रहे। किन्तु राजपूत, जाट तथा अन्य हिन्दू सरदार आँखें फाड़-फाड़कर यह सब दृश्य देखते रहे। मराठों के अतिरिक्त अहमदशाह अब्दाली की ओर उंगली उठाने मात्र के लिए किसी ने आगे आने का साहस भी न संजोया।

पूना स्थित मराठा नेताओं पर अहमदशाह अब्दाली के इस आक्रमण के समाचार ने नादिरशाह के आक्रमण के समाचार से अधिक कोई प्रभाव नहीं डाला। वे न तो भयभीत ही हुए और न ही उन्होंने साहस खोया। रघुनाथराव के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना को उत्तर की ओर भेज दिया गया। अब्दाली को मराठा सेना के आगमन का समाचार आगरा के समीप ही मिल गया। अब्दाली एक अनुभवी और चतुर सेनानायक था और उसने अपने जीवन में कई पराभव भी देखे थे। उसने आगे बढ़कर मराठों सरीखे शक्तिशाली शत्रुओं से भिड़कर काल के कराल गाल में जाने का संकट अनुभव किया। उसने सम्भावित पराजय को दृष्टिगत रखते हुए, अब तक जो कुछ प्राप्त किया था उसे भी दाव पर लगा देने की मूर्खता न की। इसलिए वह तत्काल ही दिल्ली वापस लौट आया और वहाँ पहुँचकर मुगल साम्राज्य पर अधिकार करने का अपना दावा सच्चा सिद्ध करने के लिए मलिका जमानी की पुत्री से विवाह कर लिया। सरहिन्द की रक्षा के लिए उसने १० हजार की सेना नियुक्त कर दी तथा लाहौर का शासक अपने पुत्र तैमूरशाह को बनाकर वह उतनी ही शीघ्रता सहित वापस अपने देश लौट गया जितनी शीघ्रता से वह भारत पर चढ़ दौड़ा था।

दक्षिण में युद्धरत रहने पर भी मराठों ने यथाशीघ्र अहमदशाह अब्दाली के किये-कराए पर पानी फेर दिया। सखाराम भगवन्त, गंगाधर यशवन्त तथा अन्य मराठा सेनापति दोआब के क्षेत्र में प्रविष्ट हो गये और उन्होंने उन रुहेलों और पठानों को पूर्णतः पराजित कर दिया जिन्होंने विद्रोह की पताका अपने हाथों में उठाकर मराठों की सत्ता को चुनौती दी थी। वजीर गाजिउद्दीन को भी मुक्त करा लिया गया। विट्ठल सदाशिव के नेतृत्व में मराठा सेना ने दिल्ली पर चढ़ाई कर दी और लगभग एक पखवाड़े तक हुए घमासान युद्ध के उपरान्त मराठों ने दिल्ली पर पुनः अपना विजय-ध्वज गाड़ दिया तथा पठानों की योजना के जन्मदाता नजीब खाँ को जीवित अवस्था में ही बन्दी बनाने में भी सफलता प्राप्त कर ली। तब वीर मराठों की विजय वाहिनी अब्दाली की सेनाओं से लोहा लेने के लिए सरहिन्द की ओर बढ़ चली जहाँ अब्दुल समद के नेतृत्व में अब्दाली के १० हजार सैनिक तैनात थे। वीर मराठों ने अब्दाली की सेना को पूर्णतः पराजित ही नहीं किया अपितु उनके सेनापति को भी अपनी जंजीरों में जकड़ लिया। अब उनके विजयी घोड़ों के मुख लाहौर की ओर मुड़े। मराठों की विजय की इस प्रचण्ड और तीव्र गति से अब्दाली का पुत्र तथा मुलतान और लाहौर का वायसराय तैमूरशाह भय से इतना अधिक काँप उठा कि उसमें मराठा सेनाओं के प्रतिरोध का भी साहस न हुआ। वह लाहौर छोड़कर पीठ दिखाता हुआ भाग निकला। रघुनाथराव ने विजय के नगाड़े बजाते हुए लाहौर में प्रवेश किया। जहान खाँ और तैमूरशाह ने बड़ी चतुराई से पीछे हटने की चाल चली किन्तु मराठा सेना ने उनका पीछा कर यह चाल भी उनकी जान का जंजाल बनाकर रख दी। मराठों को कुचलकर भारत के साम्राज्य पर अपना विजय केतु फहराने का दिवास्वप्न लेने वाले अब्दाली के पुत्र को उस प्रत्येक वस्तु को छोड़कर केवल प्राण बचाकर भाग निकलने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही दिखाई न दिया।

क्योंकि मराठों के क्रोध की अग्नि में भस्म होने से बचने का यही एक मात्र उपाय था। उसके शिविर को मराठा सैनिकों ने लूट लिया और अपार धन तथा सम्पत्ति मराठों को इस लूट में प्राप्त हुई तथा वह परम पवित्र भगवा ध्वज जो समर्थ स्वामी रामदास ने छत्रपति शिवाजी के हाथों में दिया था बड़ी आन-बान और शान सहित हिन्दुस्थान के सम्पूर्ण उत्तरी सीमान्त पर फहरा उठा।

हिन्दू सेनाओं के विजयी अश्व अटक तक बेखटक पहुँच गये और पृथ्वीराज की पराजय के दुर्भाग्यपूर्ण दिवस के पश्चात् यह पहला सौभाग्य-शाली दिवस आया जब हिन्दुओं की पावन पताका फहराती हुई उस पावन सरिता के जल में अपनी परछाई निहारने लगी जिसके तटों पर वेदों के पुनीत मंत्र कभी गुँजित हुआ करते थे। हिन्दुओं के विजयी अश्वों ने सिन्धु सरिता के निर्मल जल का पानकर शताब्दियों के उपरान्त अपनी पिपासा को शान्त कर पाने का गरिमापूर्ण दिन देखा। वे आज बड़ी निर्भयता सहित इस पवित्र सरिता के स्वच्छ जल में पड़ने वाली अपनी परछाइयों को देखने का सौभाग्य प्राप्त कर रहे थे।

महाराष्ट्र ने जब अपनी सेनाओं के इस महान् विजय अभियान का सुखद और उत्साह प्रदान करने वाला शुभ समाचार सुना तो सम्पूर्ण जाति में एक विद्युत-सी दौड़ गई। अन्ताजी माणकेश्वर ने रघुनाथराव देते हुए एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने कहा, "लाहौर पर अधिकार कर लिया गया, शत्रु को भगा दिया गया और भागते हुए शत्रु का भी सीमान्त तक पीछा किया गया और हमारी विजयी सेनाएँ सिन्धु तक पहुँच गई हैं, वास्तव में यह नितान्त ही आनन्ददायक समाचार है। इस विजय ने उत्तर भारत के सभी राजाओं, राव, सूबेदार तथा नवाबों को भयभीत कर दिया है। हमारे राष्ट्र पर जो अन्याय और अत्याचार हुए हैं उनका प्रतिकार लेने की क्षमता केवल मराठों में ही है यह अब सिद्ध हो गया है।

अब्दाली से भी सम्पूर्ण हिन्दुस्थान के अपमान का प्रतिशोध वस्तुतः मराठों ने ही लिया है। मैं अपनी भावनाओं को शब्दों में व्यक्त कर पाने में आज अपने आपको असमर्थ पा रहा हूँ। जो वीरता पूर्ण कार्य हमारी सेनाओं ने सम्पन्न किया है, वस्तुत: वह उतना ही शौर्यपूर्ण है जितनी अवतारों की कृतियाँ।"

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि मराठे स्वयं भी अपनी इस महान् विजय पर आश्चर्यचकित हो गये थे। द्वारिका से जगन्नाथपुरी तक और रामेश्वरम् से मुलतान तक उनकी विजय पताका फहरा रही थी और उनका आदेश ही कानून के रूप में मान्यता पाने लगा था। उनकी तलवार इस सम्पूर्ण क्षेत्र में हिन्दुओं के त्राणदाता के रूप में चमचमा उठी थी। उन्होंने भारतीय साम्राज्य का संरक्षक और वास्तविक उत्तराधिकारी होने की भी चारों दिशाओं में खुली घोषणा करा दी। आज वस्तुत: उन्होंने उन सभी के दावे मिथ्या सिद्ध कर दिये थे जो ईरान, तूरान अथवा अफगानिस्तान, इंग्लैण्ड और फ्रांस या पुर्तगाल से भारत के राज्य सिंहासन पर अपना अधिकार जताने के लिए आये थे। शिवाजी की हिन्दू पद-पादशाही की स्थापना का पावन संकल्प अब लगभग साकार ही हो गया था। समर्थ गुरु रामदास की शिक्षाओं को अब क्रियात्मक स्वरूप प्राप्त हो गया था। अब उनकी विजय पताका सिन्धु-सरिता के पावन तट पर पुनः गौरव से फहराने लगी थी। छत्रपति शाहू ने बाजीराव को जो कार्य करने का आदेश दिया था वह अब पूर्ण हो चुका था। अब तो वस्तुत: उससे भी आगे बढ़ने की सम्भावना प्रतीत होने लग गई थी।

अटक पर अधिकार कर लेने में सफलता प्राप्त हो जाने के फलस्वरूप मराठों की राजनीतिक गतिविधियों का क्षेत्र अब केवल दिल्ली की चार दीवारी तक ही सीमित नहीं रह गया था अपितु उनका कार्यक्षेत्र नितान्त विस्तृत हो गया था। अब कश्मीर ही नहीं अपितु काबुल

और कन्धार से भी प्रतिनिधि, भेदिए और राजदूत मराठा शिविर में पहुँचने आरम्भ हो गये थे।

एक ऐसा भी समय था जब सिंहासन-च्युत हिन्दू राजा अपनी "गद्दी" प्राप्त करने के लिए काबुल और फारस के सामने सहायता के लिए आंचल फैलाया करते थे किन्तु अब युग पलट चुका था और काबुल तथा कन्धार के असन्तुष्ट तत्वों द्वारा प्रतिदिन ही रघुनाथ राव के समक्ष सहायता करने के लिए झोलियाँ फैलाई जाने लगी थीं। ४ मई, १९५८ ई० को इस सेनापति ने नाना साहब को एक पत्र लिखा :—

"तयमूर सुलतान व जहानखान यांच पाठलाग करुन फौज लुटून घेतली थोड़ीशी झडत-पडत अटकेपार पिशावरास ते पोचले. अब्दाली इराणावर चालून गेला त्याची फौज इराणच्या पतिशाहाने लुटून घेतली··· हल्ली रफीक होउन, सेवा करूंन दाखवूं. अबदालीस तंबी भरूं ऐशा त्यांच्या अर्ज्या आल्या आहेत···तिकडून इराणचे शहानें जेरदस्त केलें, इकडून जोरा पोचवून सरकारचा अंमल अटकेपार करावा···इराणचे शहांचे स्वदस्तुरचे कागदही आम्हांस व मल्हारबास आले होते कीं, लौकर कंदाहारेस यावें, आणि यांचे परिपत्य करुन अटकेची हद्द करावी··· काबूल व कंधार है अटकेपारचे सुभे हिन्दुस्तानाकड़े अकबरायासून अलमगीरापावेतों होते, ते आम्ही विलायतेंत कां द्यावें? यास्तव तूर्त येथे सुभे देतो, त्यासही या सुम्यांची दरकार नसेल···त्याचा पुतण्या व दौलतेचा वारस स्वामीपाशी देशास आला. तो स्वामीनीं आम्हाकडे पाठविला होता. त्यास अटकेअलीकडे थोडीशी जागा बसावयास देऊन अटकेपार काबूल पिशावरचा सुभा देऊ···आम्ही तरी काबूलचा सुभा अबदुल रहीमखान स्वामीनीं पाठविला त्यास देतो—फौज वगैरे थोड़े बहुत साहित्यही करीतो, तूर्त तांतडीमूले जें होईल तें करितों, पुढील स्वारीस जो कोपी सरदार मातबर येईल तो बन्दोबस्त करील।

—नाना साहेब पेशवे चरित्र शेजवलकर पृ० १७६

(सुलतान तैमूर और जहानखाँ की सेनाए पराजित कर दी गई हैं। उनका सम्पूर्ण शिविर और सामग्री भी हमारे अधिकार में आ गई है। केवल थोडे से व्यक्ति ही अपने प्राण बचाकर अटक पार कर भाग जाने में सफल हो पाये हैं। ईरान के शाह ने अब्दाली को पराजित करने के उपरान्त स्वयं मुझे पत्र लिखा है। जिसमें उसने अनुरोध किया है कि मैं आगे कन्धार तक भी बढ़ूं, क्योंकि जब अब्दाली हमारी सम्मिलित सेना द्वारा पूर्णतः कुचल दिया जाएगा तो वह अटक को हमारे साम्राज्य की सीमा के रूप में स्वीकार कर लेगा। परन्तु मैं विचार करता हूँ कि हम अटक तक ही क्यों सीमित होकर रह जाएँ। काबुल और कन्धार के दोनों प्रान्त भी अकबर से लेकर औरंगजेब तक भारतीय साम्राज्य के ही अंग बनकर रहे हैं। तब अब हम उन्हें विदेशियों को क्यों सौंप दें? मैं समझता हूँ कि ईरान का शाह अपने राज्य को ईरान तक ही सीमित रखकर सन्तुष्ट हो जाएगा और काबुल तथा कन्धार पर हमारे अधिकार को स्वीकार कर लेगा। किन्तु चाहे वह इस बात को पसन्द करे अथवा न करे मैंने उन्हें अपने साम्राज्य का ही अंग मानकर उन पर अपना राज्य स्थापित करने का निश्चय कर लिया है। अब्दाली के चचेरे भाई ने, जो राज्य पर अपना अधिकार जताता है हमसे सहायता देने की याचना की है। वह अब्दाली के विरुद्ध बार-बार हमसे सहायता प्राप्ति के लिए अनुरोध कर रहा है। मैं अभी कुछ समय के लिए सिन्धु से आगे के अपने साम्राज्य का शासक उसे नियुक्त करना चाहता हूँ और उसकी सहायता के लिए कुछ सेनाएँ भेजने का इच्छुक हूँ। इस समय मेरा दक्षिण वापिस लौटना नितान्त आवश्यक है। मेरे उत्तराधिकारी भी मेरी इस महान् आशा और योजना को फलीभूत होते हुए देखेंगे और काबुल तथा कन्धार के प्रान्तों में भी हमारा नियमित शासन अवश्य ही प्रारम्भ हो जाएगा।

१३

हिन्दू पद-पादशाही

'इराणपासुनि फिरंगणापर्यंत शत्रुची उठे फली'
'सिंधुपासुनी सेतुबंधपर्यन्त रणांगण भूझाली'
'तीन खंडिच्या पुडांची तो परंतु सेना बुडविली'
'सिधुपासुनी सेतु बंधपर्यंत समरभू लढ़वीली ।।'

(ईरान से लेकर गोवा तक शत्रु दल छाये हुए थे। सिन्धु सरिता से लेकर रामेश्वरम् तक की सम्पूर्ण भूमि ही रणांगण बन गई थी। तीन द्वीपों की सेनाओं ने सम्मिलित होकर शत्रु सेना का रूप ले लिया था। किन्तु सिन्धु से लेकर रामेश्वरम् पर्यन्त युद्ध लड़ा जाता रहा और शत्रु दलों को पराजित कर दिया गया।)

पत्र लिखने के उपरान्त शीघ्र ही रघुनाथराव ने अपनी सेनाओं सहित दक्षिण के लिए प्रस्थान कर दिया, क्योंकि वर्षाकाल भी सन्निकट ही था। किन्तु उसका ऐसा करना वस्तुतः दुर्भाग्यपूर्ण ही था क्योंकि उसे इन नवीन विजय में प्राप्त किए गये प्रदेशों को शीघ्र ही छोड़ देना पड़ा और वहाँ सेना भी अल्प मात्रा में ही रखनी पड़ी। इससे भी अधिक भयानक एक और बात थी कि पठानों का घोर षड्यन्त्रकारी नेता नजीबखाँ बन्दी बना लिया था किन्तु सभी मराठा सरदारों की इस इच्छा के बावजूद भी वह जीवित ही था कि उसे अहमदशाह अब्दाली के साथ मिलकर क्रूर षड्यन्त्र के आरोप में काल के कराल गाल में फेंक दिया जाए। किन्तु मराठों को धोखा देने वाला यह पठान सरदार धूर्तता और मक्कारी का भी सजीव रूप था। उसने गिड़गिड़ाकर तथा आँखों से अविरल अश्रु-धाराओं के सोते बहाकर मल्हारराव से यह याचना की कि "आप मेरे पिता के तुल्य हैं और मुझे अपना ही एक पुत्र समझकर प्राणदान

दे दें। मल्हारराव इस अनुनय विनय से इतने प्रभावित हुए कि मराठों के उद्देश्य के इस शत्रु को उन्होंने अपने पुत्र के रूप में मान लिया। उन्होंने रघुनाथराव के समक्ष नजीब के लिए इस ढंग से तर्क-वितर्क किया कि रघुनाथराव को भी इच्छा न रखते हुए नजीबखाँ को प्राणों की भीख दे देनी पड़ी। शीघ्र ही आप देखेंगे कि प्राणों की भिक्षा प्राप्त करने वाले नजीबखाँ ने ही किस भाँति अपना सम्पूर्ण जीवन उन्हीं के विरुद्ध षड्यन्त्र करने में खपा दिया, जिन्होंने उसकी गिड़गिड़हट के नाटक के कुचक्र में फंसकर उसे क्षमादान देकर अपनी मूर्खता ही प्रदर्शित की थी।

कतिपय कूटनीतिक कारणों के फलस्वरूप मराठे अभी तक न्यूनाधिक रूप में दिल्ली के सम्राट् के नाम पर ही कार्य करते आ रहे थे। वस्तुतः इस नीति का अनुगमन करने से उनके मार्ग में रुकावटें तो कम हो ही जाती थीं साथ ही उनको लाभ भी अधिकाधिक होता था। उनकी यह स्थिति उस स्थिति के समकक्ष ही थी जो अंग्रेजों को १८१८ ई० में मराठों के पतन के पूर्व भारत में प्राप्त हो गई थी। जिस प्रकार के राजनीतिक एवं कूटनीतिक कारणों ने अंग्रेजों को १८५७ ई० तक अपने आपको सम्राट् का केवल एजेण्ट मात्र कहने के लिए विवश किया हुआ था—यद्यपि वस्तुतः वे ही सम्राट् थे, उसी प्रकार के कारणों की विद्यमानता के कारण मराठों ने भी शीघ्रता करना उचित नही समझा था। क्योंकि यदि वे ऐसा न करते तो उनके विरुद्ध प्रतिरोध और विरोध का एक प्रचण्ड तूफान खड़ा हो जाता। भारतीय मुसलमान ही उनका विरोध न करते अपितु अंग्रेज, फ्रांसीसी, पठान ही नहीं अपितु कतिपय हिन्दू राजाओं के भी विरोध का उन्हें सामना करना पड़ता। क्योंकि उनमें से प्रत्येक की दृष्टि इस मिटते हुए साम्राज्य के राज सिंहासन तथा उत्तराधिकार पर गड़ी हुई थी। उनमें से प्रत्येक की यही आकांक्षा थी कि जब तक सिंहासन का अन्तिम दावेदार तक भी रंगमंच से अदृश्य न हो जाए तब तक मुगल सम्राट् मृत्यु शय्या पर अवश्य ही पड़ा रहे।

किन्तु उत्तर भारत में अर्जित महान् सफलता तथा दक्षिण में पेशवा की महान् विजयों ने मराठा शक्ति को ऐसी स्थिति प्रदान कर दी थी कि अब बालाजी तथा सदाशिवराव भाऊ से लेकर एक सामान्य व्यक्ति तक भी यही विचार करने लगा था कि जिस महान् कार्य को उन्होंने अपने हाथों में लिया है, उसकी अन्तिम परिणति कर ही दी जानी अपेक्षित है। मराठा परिषद के समक्ष इस सम्बन्ध में विचारार्थ महत्त्वपूर्ण योजनाएँ प्रस्तुत की गईं। उन्होंने अपनी शक्ति का मूल्यांकन किया। जिसके फलस्वरूप वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब उन्होंने भारत में मुस्लिम साम्राज्य पर मर्मान्तक प्रहार कर उसकी इतिश्री कर दी है। उन्होंने अनुभव कर लिया कि अब पूना भारत की राजनीति का ही केन्द्र नहीं अपितु एशिया की राजनीति के केन्द्र का रूप लेता जा रहा है। अब मुगल साम्राज्य उनके चरणों में लोट रहा है। अब मराठों ने उन सभी अवशेषों को भी उखाड़कर फेंक देने का सुदृढ़ संकल्प कर लिया जो उन्हें स्पष्ट रूप से साम्राज्य का राजमुकुट अपने मस्तक पर धारण करने से रोक रही थीं। मराठा शिविर में सदाशिवराव भाऊ ने अपने आपको इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने में सर्वाधिक सामर्थ्यवान् समझकर उसे पूर्ण करने अथवा उसकी पूर्ति हेतु प्राण विसर्जित कर देने का भी पावन संकल्प ग्रहण कर लिया। उन्होंने मुस्लिम साम्राज्य को समाप्त कर दिया था। हिन्दुओं को पग-पग पर विजयश्री जयमालाएँ अर्पित करती ही जा रही थी। अब वीरवर भाऊ के नेतृत्व में उन्होंने इस कार्य को इस चतुरता सहित सम्पन्न करने का दृढ़ निश्चय किया कि आगामी कुछ वर्षों की अवधि में ही सम्पूर्ण भारतवर्ष को 'स्वतन्त्र' कर स्पष्ट रूप से उसे हिन्दू शासन के अन्तर्गत संगठित कर दिया जाए।

उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए तीन महान् अभियानों की योजना बनाई गई। दत्ता जी शिन्दे को आदेश दिया गया कि वह पंजाब और

मुलतान की ओर प्रस्थान कर तथा वहां पहुँचकर इन नव विजित प्रदेशों में प्रदेशों में शान्ति तथा सुव्यवस्था एवं नियमित प्रशासन को स्थापित करे। इस कार्य को पूर्ण कर उसे काशी तथा प्रयाग वापस आने का भी निर्देश दिया गया जहाँ रघुनाथराव दूसरी सेना सहित उसे मिलेगा। वहाँ से इन दोनों रणांकुरों को अपनी संयुक्त सेनाओं को लेकर बंगाल पर धावा बोल देने की योजना समझाई गई जिससे कि सागर तट तक फैले हुए इस सम्पूर्ण प्रदेश को मुसलमानों से तो स्वतन्त्र कराया ही जाए किन्तु साथ ही साथ उन अंग्रेज़ों के अपावन पंजों से भी सर्वथा मुक्त करा दिया जाए जो १७५७ ई० में प्लासी के युद्ध में प्राप्त की गई विजय के उपरान्त वहाँ का शासक बनने का स्वप्न ले रहे थे। इस भाँति जहाँ दत्ता जी, जनकोजी तथा रघुनाथराव को सिन्ध और मुलतान से लेकर सागर पर्यन्त सम्पूर्ण उत्तरांचल को स्वतन्त्र कराने का दायित्त्व सौंपा गया वहाँ बाला जी ने अपने सुपुत्र सदाशिवराव भाऊ सहित सम्पूर्ण दक्षिण में विजय पताका फहरा देने का दायित्त्व स्वयं ग्रहण किया।

इस योजना के अनुसार जहाँ दत्ता जी ने अपनी सेनाओं सहित उत्तर की ओर प्रस्थान कर दिया वहाँ बालाजी तथा भाऊ ने सर्वप्रथम निजाम की सत्ता को दक्षिण से समाप्त कर धूलधूसरित कर देने की दिशा में पग बढ़ाया। वे निजाम के विरुद्ध एक शक्तिशाली सेना आधुनिकतम तोपखाने सहित चढ़ दौड़े और कई युद्धों तथा संघर्षों के उपरान्त उन्होंने १७६० ई० में उद्‌गिर में हुए निर्णायिक युद्ध में निजाम के विरुद्ध विजय प्राप्त कर ली। मुस्लिम सेनाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर देने में सफलता प्राप्त हो गई। इस पराजय से निजाम इतना अधिक भयभीत हुआ कि उसने अपनी शाही मुहर भाऊ के हाथों में थमा दी और उससे अनुरोध किया कि वह जो कोई भी शर्तें सन्धि हेतु प्रस्तुत करेगा उस पर वह प्रसन्नता सहित हस्ताक्षर कर देगा। इस प्रकार एक सन्धि सम्पन्न हुई जिसके द्वारा मराठों को नगर, बुरहानपुर, साल्हेर,

मुल्हेर, आरिगढ़ तथा दौलताबाद दुर्गों के अतिरिक्त नान्देड़, फलुम्बरी, आम्बेड़ और विजापुर के चार जिले भी प्राप्त हो गए। भाऊराव भी इस सन्धि से परम सन्तुष्ट हो गए। अब निजाम शक्तिहीन हो चुका था। इस वर्ष के व्यतीत होने से पूर्व ही उत्तर को छोड़कर सम्पूर्ण दक्षिण भारत को विदेशी शासन से मुक्ति दिलाने के महान् कार्य में सफलता प्राप्त कर ली गई थी। अन्ततः नगर और विजापुर के दुर्गों पर मराठों की विजय पताका फहरा उठी थी। यहीं के सुलतान उस समय बड़ा घृणायुक्त अट्टहास किया करते थे जब शिवाजी के रूप में एक छोटे-से विद्रोही ने हिन्दू विप्लव की पावन पताका तोरण के दुर्ग पर लहरा देने में सफलता प्राप्त कर ली थी।

हैदरअली ने उस समय मैसूर राज्य को घेरा हुआ था और उसकी इच्छा थी कि वह वहाँ के हिन्दू राज्य को उलटकर अपनी सत्ता स्थापित कर ले। दक्षिण की उपरोक्त महान् विजय अर्जित करने के उपरान्त उद्‌गिर के विजेताओं की यह प्रबल आकांक्षा थी कि वे हैदरअली पर धावा बोलकर उसकी शक्ति को पूर्णतः नष्ट-भ्रष्ट कर दें। उन्हें यह सुयोग भी शीघ्र ही मिल गया। क्योंकि मैसूर के हिन्दू राजा और उसके मंत्री ने मराठों से नितान्त ही अनुनय सहित व्यक्तिगत रूप से यह अनुरोध किया कि वे उस नए महत्वाकांक्षी मुसलमान से उनकी रक्षा करें। सदाशिवराव भाऊ भी हैदरअली की इस महत्वाकांक्षा को सदैव के लिए धूल-धूसरित कर दक्षिण भारत की मुक्ति के ध्येय को पूर्ण करने के लिए उत्कंठित था। उसने तत्काल ही हैदरअली पर चढ़ाई कर देने का निश्चय किया। किन्तु उसी समय उसे उत्तर में पेशवा की ओर से दुखदायक समाचार प्राप्त हुआ। भाऊ ने उस वेदनादायक घड़ी का वर्णन करते हुए लिखा है कि "सफलता का प्याला जिसे मैं होठों से लगाने ही वाला था मेरे हाथों से सहसा ही छिन गया।"

मराठा सेनाओं के उत्तरी दस्ते ने १७५८ ई० के अन्त में दत्ताजी

के नेतृत्व में दिल्ली की देहरी पर दस्तक दे दी। प्राप्त आदेशों के अनुसार उन्होंने दिल्ली से लाहौर और मुलतान तक के नव विजित प्रदेशों की ओर प्रस्थान कर दिया, जिससे कि उन प्रदेशों में सुप्रबन्ध एवं सुव्यवस्था स्थापित कर सकें। उसने साबाजी शिन्दे और त्र्यम्बक बापूजी को अटक तक के प्रबन्ध का भार सौंप कर सरहिन्द, लाहौर तथा अन्य महत्वपूर्ण स्थानों पर भी अपनी सेनाएँ नियुक्त कर दीं। तदुपरान्त पंजाब छोड़कर उसने द्वितीय महत्त्वपूर्ण कार्य अर्थात् गंगा को पार कर पटना की ओर प्रस्थान करने की दिशा में पग बढ़ाया। यह कार्य भी उसे पेशवा द्वारा ही सौंपा गया था क्योंकि उसे वहाँ पहुँचकर अंग्रेजों से अपना हिसाब चुकाकर हिन्दू साम्राज्य की पुनीत पताका सागर की उत्ताल तरंगों तक फहरानी थी।

किन्तु यहाँ दत्ताजी से एक भयंकर भूल हो गई। उसने नजीबखाँ के सम्बन्ध में दिये गये पेशवा के आदेश का पालन नहीं किया। नजीब खाँ को यद्यपि सिन्धिया ने कड़ा दण्ड दे दिया था किन्तु उसने दत्ताजी को बंगाल के विजय अभियान में सहायता देने का विश्वास दिलाकर अपनी शक्ति में वृद्धि करना प्रारम्भ कर दिया था। दत्ताजी वस्तुतः इस प्रपंच में फँस गया कि नजीबखाँ उसकी निष्ठापूर्वक सहायता करेगा। इस पर क्रुद्ध होकर पेशवाने दत्ताजी को लिखा कि :—

"नजीबखानास वाक्षीगरी दिल्हियास तीस लाख रुपये दे तो म्हणून लिहिले ऐशियास नजीबखान पुरा हरामखोर बाटआहे, तो दिल्लीत प्रविष्ट जालिया अब्दालीचेंच दिल्लींत ठाणें बसलेंले जाणावें, बेमान हरामखोर आहे, त्यास वाढ़विणें सर्पास दूध पाजण्या प्रमाणें आहें, फावले मानी त्याचें पार पत्यच करावें"'नजीबखान बाट, अर्धा अब्दाली, त्याचें राजकारण न करावें।

—पत्ररूप इतिहास, पृ० १८५

(तुम्हारा कथन है कि यदि हम नजीबखाँ की बख्शी के रूप में

नियुक्ति कर दें तो वह हमें तीस लाख रुपया देगा। उसका एक पैसा भी न छूना। नजीब आधा अब्दाली है, उसका विश्वास कदापि न करना। तुम्हारे लिए एक निकृष्ट और विषधर नाग को दूध पिलाकर पालना कदापि उचित नहीं है और न ही उस पर किसी स्थिति में विश्वास कर उसे राज्यकर्ता बनने का सुयोग देना।)

परन्तु दत्ताजी नजीबखाँ की मक्कारी और धोखे में फँसकर मन्त्र-मुग्ध-सा हो गया था। उसने नजीबखाँ द्वारा दिये गये इस आश्वासन पर पूर्णतः विश्वास कर लिया कि वह गंगा पार करने के लिए पुल का निर्माण करा देगा। दत्ताजी द्वारा उसके झूठे आश्वासनों पर विश्वास कर लेने का भयानक परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो बंगाल में मराठों के विजय अभियान के मार्ग में बाधा उपस्थित होने लगी और दूसरी ओर नजीबखाँ को भी मराठों के विरुद्ध एक द्वितीय गोपनीय षड्यन्त्र करने में सफलता प्राप्त हो गई। उसे अपने इस कार्य में इतनी अधिक सफलता प्राप्त हुई कि वह मुगल सम्राट् से एक हस्ताक्षर-युक्त पत्र प्राप्त करने में सफल हो गया जिसमें अब्दाली से भारत पर पुनः आक्रमण करने का अनुरोध किया गया था। इस नवीन षड्यन्त्र के फलस्वरूप भारत में छिन्न-भिन्न हुई मुस्लिम शक्तियाँ पुनः अपने धर्म और खुदा के नाम पर मराठों के विरुद्ध एकत्रित हो गयीं। पठानों की धर्मान्धता को धर्म के नाम पर पुनः एक उत्साह प्राप्त हो गया। क्योंकि यह कार्य किसी भी मुसलमान की दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ कार्य था। क्या अब्दाली भारत के मुस्लिम साम्राज्य को मूर्तिपूजक शैतानों के पंजों से मुक्ति दिलाकर गाजी अथवा धर्म का रक्षक बनने के लिए उत्कंठित नहीं था? मराठों द्वारा अपने पुत्र को पराजित किये जाने के अपमान से अब्दाली के हृदय में भी शूल-सा चुभ रहा था। वस्तुतः मराठों द्वारा भारत का राजमुकुट अपने हाथों से छीन लिए जाने से वह लज्जित था। इतना ही नहीं मराठों की विजयवाहिनियों ने तो उसे पंजाब और मुलतान

से निष्कासित कर काबुल और कन्धार पर भी अपना आधिपत्य जताना आरम्भ कर दिया था। किन्तु इतने पर भी उसके समक्ष अपनी परवशता पर हाथ मलते रहने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही विद्यमान नहीं रहा था। किन्तु अब उसने देखा कि उसके लिए अपने अपमान का प्रतिशोध लेने का अनुपम अवसर स्वयमेव उपलब्ध हो रहा है। उसने एक बार पुनः भारतीय साम्राज्य का राजमुकुट अपने मस्तक पर धारण करने और हिन्दू पद-पादशाही की स्थापनार्थ प्रतिज्ञाबद्ध मराठों की महत्वाकांक्षाओं को समाप्त करने का विचार अपने हृदय में संजोया। जो हिन्दू पद-पादशाही सामान्यतः स्थापित हो गई थी उसको मटियामेट कर देने की आकांक्षा पुनः उसके सिर पर सवार हो गई। इसलिए अब्दाली ने मुसलमानों के संगठित प्रतिशोध का नेतृत्व करने का वचन दे दिया और एक विशाल सेना सहित उसने सिन्धु नदी को पार कर लिया। तदुपरान्त वह बड़ी शीघ्रता सहित लाहौर पहुँची और वहाँ भी उसकी विजय पताका पुनः फहरा उठी।

अब्दाली द्वारा चढ़ाई कर लिये जाने की समाचार ज्योंही दिल्ली पहुँचा नजीब खाँ ने भी अपना नकाब तुरन्त फेंका और उसने स्पष्ट-रूप से अपने-आपको अब्दाली का अनुयायी घोषित कर दिया। अब दत्ता जी को अपनी उस भूल का ज्ञान हुआ जो उसने पेशवा के परामर्श की उपेक्षा करने के कारण कर डाली थी। उसे यह भी विदित हो गया कि शुजा और नजीब ने उसे किस भांति धोखा दिया है और वह चारों ओर से शक्तिशाली शत्रुओं द्वारा घेर लिया गया है। उसे एक ओर से शुजा ने घेरा था तो दूसरी ओर से नजीब, रुहेले और पठानों ने। उसके पीछे से अब्दाली विशाल सेनाओं सहित उसकी ओर बढ़ा आ रहा था। अरब और लाहौर में मराठा सेनाओं की जो छोटी-छोटी टुकड़ियाँ नियुक्त की गई थीं, उन्हें इस सुविशाल सेना के हाथों पराजय का अपमान सहन करना पड़ रहा था। मराठों के अतिरिक्त हिन्दुओं की जिस

द्वितीय महान् शक्ति ने उत्तर भारत में मुसलमानों से डट कर लोहा लिया था वह थी सिखों की शक्ति। उनका भी धीरे-धीरे उदय हो रहा था। इन रणबांकुरों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से इस विशाल सेना को रोकने की असफल प्रयत्न किया किन्तु वे अभी इतने अधिक शक्तिशाली नहीं हो पाए थे कि अपने उद्देश्य में सफल हो पाते। उन्होंने इन विदेशी शत्रुओं की बाढ़ को रोकने तथा नष्ट करने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। इस पर भी वह अपने प्रदेश तक को स्वतन्त्र कराने में सफलता न प्राप्त कर सका। अभी वह अवसर उपस्थित होने में कुछ समय अवशिष्ट था। इस प्रकार अब्दाली किसी भयंकर-संघर्ष अथवा प्रतिरोध के बिना ही अपनी सुविशाल सेना-सहित सरहिन्द तक आ पहुँचा। राजस्थान तथा अन्य कई स्थानों के राजपूत शासकों की सहानुभूति भी अब्दाली के साथ थी जो हिन्दुत्व का घोर शत्रु था और जिसकी धर्मान्धता की ज्वाला में मथुरा की पवित्र नगरी और वहाँ के पावन देवालय कभी क्षार-क्षार होकर रह गये थे। इस प्रकार केवल एक दत्ता जी की सेना ही थी जो अब्दाली के दिल्लीश्वर बनने के सुख-स्वप्न के मार्ग में बाधक बनकर खड़ी हुई थी। ऐसी स्थिति में दत्ताजी ने होलकर को शीघ्रातिशीघ्र अपनी सहायता के लिए पहुँचने का अनुरोध किया। किन्तु नजीब खाँ का यह 'धर्म पिता' छोटे-छोटे कारणों से ही यत्र-तत्र संघर्ष करने में लगा हुआ था और उसने उन्हीं संघर्षों में जुटे रहना उचित समझा। इस प्रकार अब शत्रु सेनाओं से चारों ओर घिर जाने की स्थिति में मराठा सेनाओं के समक्ष अपने प्राणों की रक्षा करने का एक ही विकल्प रह गया था, कि वह दिल्ली को छोड़कर चली जाय। प्रत्येक योद्धा ने दत्ताजी को परामर्श दिया कि होलकर के पहुँचने तक वह दिल्ली छोड़ दे। उसके पराक्रमी भतीजे जनकोजी से उसने यही अनुरोध किया किन्तु दत्ताजी ने किसी के परामर्श पर भी ध्यान नहीं दिया। उसके हृदय में यही शूल कसमसा रहा था कि उसी की भूल के

परिणामस्वरूप इस सम्पूर्ण सेना को यह दुर्भाग्य की घड़ी देखने पर मजबूर होना पड़ा है। उसके मन में बार-बार यही विचार आता था कि नजीब खाँ जैसे धूर्त पर विश्वास कर मैंने ही हिन्दू सेना को इस विपत्ति के महासागर में धकेला है। अतः अपनी भूल का परिमार्जन करने हेतु उसने यह निश्चय किया कि वह समरांगण से पग न हटायेगा। अब जो भी व्यक्ति दत्ताजी को पीछे हटने का परामर्श देता, उसे वह एक ही उत्तर देता था कि—

आपण मेला, जग बुडाला, आबरू जाते आणि वाच तो कोण? सपेजंग होऊन गेली। आतां निशाण काढ़ाल तर फौज पलूं लागेल, मग म्यांही पलावे? मग देशी तोड़ काय दत्ताजी ने काय म्हणावें दाखवावें?..... हा रवंदारचा बादशाह अब्दुल अली चालून आला आहे या रानांत ईश्वरें मृत्यु आणिला तरी उत्तम आहे......अपयश मरणाहून वोखटे, यांति मरतांच उत्तम,

—(भाऊ साहेबांची बखर)

(जो भी चाहता है, वह पीछे हट जाए। मैं किसी पर युद्धस्थल में डटे रहने के लिए जोर नहीं देता। किन्तु मैं तो अपने स्थान से एक पग भी पीछे न हटने के लिए कृत-संकल्प हूँ। मैं इस जीवन में अपना मुख नाना और भाऊ साहब को किस भाँति दिखा सकता हूँ? मैं कंधार के बादशाह अब्दाली का प्रतिरोध करूँगा। परमात्मा की कृपा हुई तो उसे धरा-धाम से उठाकर मृत्यु के कराल गाल में धकेल दूँगा अथवा स्वयं युद्ध करते-करते मृत्यु की गोद में सदैव के लिए विश्राम ले लूँगा।")

उसी समय गाजिउद्दीन को विदित हो गया कि पठानों द्वारा किये गये इस षड्यन्त्र में स्वयं सम्राट् भी शामिल है और वह उसके प्राण ले लेने का इच्छुक है और उसके स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को उसका पद दे देना चाहता है। अतः उसने सम्राट् की हत्या कर उसके स्थान

पर एक अन्य व्यक्ति को सिंहासनारूढ़ कर दिया और स्वयं मराठा सेनाओं के साथ मिल गया।

दत्ताजी ने अपने शब्दों और वचन पर अडिग रहते हुए कुरुक्षेत्र के समरांगण में अब्दाली की विशाल वाहिनी से मोर्चा लेना आरम्भ कर दिया। उसके द्वारा रणभूमि में प्रदर्शित किए गये प्रचण्ड शौर्य ने मराठा सिपाहियों में भी एक नवीन उत्साह का संचार कर दिया। इस प्रबल प्रतिरोध के समक्ष अब्दाली को रणभूमि से पलायन करते ही बना। उसे इस तथ्य की शीघ्र ही अनुभूति हो गई कि वह अकेला ही सिन्धिया का सामना कर पाने में सर्वथा असमर्थ है। अतः उसने यमुना को पार करने का निश्चय किया और अपने इस उदेश्य में उसे सफलता भी प्राप्त हुई। अब्दाली यमुना नदी को पार कर शुक्रताल पहुँचा और वहाँ नजीब खाँ की सेनाओं से उसकी सेनाएँ भी मिल गईं। शुजा भी अहमदखाँ बंगश और कुतुबशाह सहित वहाँ जा पहुँचा और इस प्रकार मुसलमानों के एक अपूर्व शक्तिशाली दल का गठन हो गया। अब यह तथ्य सुस्पष्ट हो गया कि इस प्रकार की लहरों का अकेले ही अवरोध करना दत्ताजी के लिए सर्वथा असम्भव है। अत. उसके परामर्श दाताओं ने उसे पुनः यही परामर्श दिया कि वह पीछे हट जाए किन्तु उस वीर पुरुष ने पूर्ववत अपना यही संकल्प दोहरा दिया "जो पीछे हटना चाहता है वह हट जाए किन्तु दत्ताजी एक सैनिक का पावन कर्त्तव्य पूर्ण करने के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध है।"

इस महान् सेनापति की यह ओजस्वी वाणी रणबांकुरे मराठों को प्रभावित किये बिना न रह सकी। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक मराठा सैनिक अपने सेनापति द्वारा लड़े जाने वाले इस जीवन-मरण के संघर्ष में जूझने के लिए कृत-संकल्प हो गया।

१० जनवरी, १७६० ई० को मराठा सेना ने यमुना तट की ओर प्रस्थान कर दिया, जिससे कि अब्दाली को, जो यमुना को पार करने की

चेष्टा कर रहा था पीछे धकेला जा सके। युद्ध प्रारम्भ हो गया और बायाजी, मालोजी तथा अन्यान्य मराठा सेनानी अपनी वीरता और शौर्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए असंख्य शत्रुओं को मृत्यु के मुख में धकेलते हुए स्वयं भी हौतात्म्य प्राप्त करने लगे। शत्रुदल संगठित होकर एक दूसरे से मिल गया था। तभी संयोग से मराठों की स्वर्ण गैरिक (भगवी) पताका रुहेला और पठान सेना द्वारा घेर ली गई। अपनी पावन पताका के सम्मान की रक्षार्थ मराठा सैनिक शीश हथेली पर धर कर समर भूमि में जूझ पड़े। युद्ध ने वीभत्स रूप धारण कर लिया दत्ताजी और जनकोजी की दृष्टि जब रुहेलों और पठानों के मध्य घिरी हुई हिन्दुत्व की पुनीत पताका पर पड़ी तो वे उसकी रक्षार्थ सर्वस्व समर्पण की पुनीत आकांक्षा से प्रेरित होकर आगे बढ़े। वीरता भी उनके शौर्य पर आश्चर्यचकित रह गई। ठीक उसी समय शत्रु पक्ष के एक सैनिक की गोली जनकोजी को आ लगी। वह घायल होकर अपने घोड़े से नीचे गिर पड़ा। दत्ताजी ने अपने भतीजे को जब नीचे गिरते हुए देखा तो वह क्रोध से आगबबूला हो उठा। उसने किसी रक्षित स्थान पर जाकर युद्ध करने की अपेक्षा आगे ही बढ़ने का संकल्प कर लिया। जो भी शत्रु उसके समक्ष आता रहा उसे ही वह अपनी तीक्ष्ण तलवार से यमपुर पहुँचाता रहा। अपने वीर सहयोगियों सहित शत्रुदल को चीरता हुआ वह रणबांकुरा सेनापति आगे ही बढ़ता चला गया। चारों ओर से शत्रुओं की विशाल सेना के चमकते हुए असंख्य हथियार और गोलियों की बौछार। भाग्यचक्र का खेल पूर्ण हुआ और दत्ताजी को भी एक गोली लगी और वह घायल होकर रणभूमि में गिर पड़ा। उस समय के दृश्य का वर्णन इन शब्दों में प्रस्तुत है :—

कुतुबशहा यानें जाबसाल केला की, पटेल, हमारे साथ तुम और लढ़ेंगे ? म्हणोन पुरुले, दत्ताजी शिंदे सावध होते. त्यासपुरते उभजले कीं, हे काही आपणांस बाचवीत नाहीत. मग व्यंग गोष्ठी सांगणे हें विहित

नव्हे, म्हणोन दम बांधोन जाबसाल केला कीं, 'निशा अकताला ! बचेंगे तो और भी लढ़ेंगे ।'

—भाऊ साहेबांची बखर

(पठान षड्यन्त्रकारी नजीब खाँ के धर्म गुरु तथा इस षड्यन्त्र के प्रमुख सूत्रधार कुतुबशाह की दृष्टि जब भूमि पर गिरते हुए मराठा सेनापति पर पड़ी तो वह उसके समीप जाकर व्यंगपूर्ण शब्दों में सम्बोधित करते हुए बोला, "पटेल क्या तुम हमारे साथ फिर लड़ोगे ! मृत्यु की देहरी पर खड़े हुए इस वीर सेनापति का निर्भीक उत्तर था. "हाँ यदि बचे रहे तो अवश्य ही संग्राम करेंगे ।")

दत्ताजी के इस निर्भीक उत्तर को सुनकर कुतुबशाह का क्रोध और भी अधिक भड़क उठा और उसने भूलुंठित इस नर पुरुष को एक ठोकर मारी तथा अपनी तलवार निकालकर बड़े गर्व के साथ इस वीर सेनापति का शीश काट लिया और एक काफिर पर विजय प्राप्ति का "पुण्य" लूट लेने का दर्प उसकी आँखों में झूम उठा ।

इस परिस्थिति में वीरवर दत्ताजी ने अपनी प्राणाहुति दे दी । विश्वभर में आज तक किसी भी वीर सेनापति ने अपने राष्ट्र की पावन पताका की रक्षार्थ इस प्रकार अपना बलिदान नहीं चढ़ाया होगा । किसी ने भी इस प्रकार अपने मानबिन्दु की रक्षार्थ जीवन प्रसून चढ़ा देने का गौरव अर्जित न किया होगा ।

दत्ताजी के निधन तथा मरते समय उनके साथ किये गए इस अपमानजनक व्यवहार का समाचार महाराष्ट्र में पहुँचा और महाराष्ट्र के आबाल-वृद्ध इस अपमान से दग्ध हो उठे । प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावना से भर उठे उनके अन्तःस्थल ।

उन्होंने उसी दिन तो उद्गिर के युद्ध में गौरवपूर्ण विजय प्राप्त की थी और अब उनकी यही आकांक्षा थी कि वे हैदरअली के दर्प को भी चूर्ण-चूर्ण कर सम्पूर्ण दक्षिण भारत को विदेशी दासता के अपावन पंजों

से मुक्त कराने के अपने संकल्प को पूर्ण कर दे। ठीक उसी समय उन्हें दत्ताजी के वीरगति प्राप्त कर लने का दुःखद समाचार प्राप्त हुआ। उन्होंने समय के अनुसार कार्य करने में तनिक-सा भी व्यवधान नहीं आने दिया। यद्यपि उसी सप्ताह उन्होंने दक्षिण भारत में एक भयंकर युद्ध लड़ा था, फिर भी एक दिन का भी विश्राम न करते हुए उन्होंने अपने सेनापतियों तथा मन्त्रियों को यह निर्देश दे दिया कि वे पाटपुर में एकत्रित हो जाएँ। सभी मराठा सेनापति और अन्य प्रमुख जन यहाँ एकत्रित हुए और उन्होंने इस गम्भीर परिस्थिति पर मन्त्रणा करने के उपरान्त यह निश्चय किया कि अब्दाली के मालवा तक पहुँच पाने के पूर्व ही उसे रणभूमि में चुनौती देने हेतु एक विशाल सेना भेज दी जाए। महाराष्ट्र की पावन भूमि में खेल-कूदकर जवान होने वाले अगणित नव-युवकों ने अपने राष्ट्र के अपमान का प्रतिकार लेने हेतु रणभूमि को ही धर्मक्षेत्र समझ सेना में शामिल हो जाना ही अपना पावन कर्तव्य समझा। शमशेर बहादुर, विट्ठल शिवदेव, भानाजी धँगुडे, अन्ताजी माणकेश्वर, माने, निम्बालकर आदि अन्यान्य योद्धाओं ने भी पुनः अपने हथियार सँभाले और उन्हें अलग-अलग सैनिक पथकों के प्रमुखों के रूप में अपना उत्तरदायित्व सँभाल लिया। उद्‌गिर विजेता भाऊ को इस सेना का प्रधान सेनापति नियुक्त किया गया तथा बालाजी के ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार विश्वासराव भाऊ ने भी रणभूमि को प्रस्थान कर दिया। राजकुमार विश्वासराव उद्‌गिर के युद्ध में ख्याति प्राप्त कर चुका था तथा अपने राष्ट्र की आशा और आकांक्षाओं का उज्जवल नक्षत्र था। विख्यात योद्धा इब्राहीम खाँ को तोपखाने का प्रमुख नियुक्त किया गया। दामाजी गायकवाड़ और सन्तोजी बाघ तथा कई अन्य सेनापतियों ने भी क्रमशः इस सेना के साथ अपना योगदान दे दिया। उत्तर भारत के कई राजपूत नरेशों को भी पत्र और दूत भेजे गये तथा उनसे यह अनुरोध किया गया कि वे हिन्दुओं के शत्रु एवम् मथुरा, गोकुल

आदि पावन हिन्दू तीर्थ स्थलियों को नष्ट-भ्रष्ट करने वाले विधर्मियों के साथ किये जाने वाले इस युद्ध में मराठा सेना को सहयोग प्रदान करें। विन्ध्याद्रि और नर्वदा सरिताओं को लांघकर मराठों की विशाल वाहिनी चम्बल तट पर पहुँच गई। मराठों की इस विशाल सेना पर दृष्टिपात करते ही सम्पूर्ण उत्तर भारत स्तम्भित और कातर हो उठा। मराठों से शत्रु भाव रखने वाले नवाब और खान, राव तथा राजा आदि भय से थर-थर कांप उठे। उनमें से किसी में भी यह साहस नहीं हुआ कि वह मराठा सेना की ओर इंगित मात्र भी कर दे। इसी समय जनकोजी शिन्दे भी अपनी अवशिष्ट सेना सहित भाऊ से आकर मिल गया। सम्पूर्ण महाराष्ट्र सेना ने इस सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति युवा राजकुमार तथा रणभूमि के कुशल खिलाड़ी सेनानी का हार्दिक अभिनन्दन किया। बदान के युद्ध में वीरगति पाने वाली उसके बलिदानी चाचा दत्ताजी की पुण्यस्मृति की प्रतिष्ठा भी उस युवक के प्रति ही समर्पित की गई। भाऊ ने इस पराक्रमी राजकुमार की अभ्यर्थना में एक बृहत् समारोह किया, जिसने कई घोर युद्धों में विजयश्री का वरण किया था तथा अपनी सेना और धर्म की रक्षार्थ भयानक आघात भी सहन करने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं किया था। राजकुमार जनकोजी शिन्दे को बहुमूल्य उपहार तथा वस्त्रादि भी भेंट किये गए। जिस क्षण वीर विश्वासराव जो बालाजी की अनुपस्थिति में महाराष्ट्र जाति का लोकप्रिय नेता था जनकोजी से मिलने के लिए उठा तो उस समय इस विशाल जातीय समारोह में उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति का हृदय भावनाओं के असीम सिन्धु की लहरों से तरंगित हो उठा। वस्तुतः ये दोनों ही नवयुवक एक-दूसरे से अधिक सुन्दर, वीर तथा हिन्दू जाति के महान् आदर्शों और उसकी अपूर्ण आकांक्षाओं की पूर्ति में संलग्न कर्मठ सेनानी तथा हिन्दू राष्ट्र की आशाओं की सजीव प्रतिमाओं के तुल्य परिलक्षित हो रहे थे।

जिस मल्हारराव होलकर ने एक दिन नजीब खाँ को अपना धर्मपुत्र

बनाकर दत्ताजी को यथासमय सहायता पहुँचाने में असावधानी बरती थी आज वह भी अपनी भयंकर भूल का परिणाम प्राप्त करने के उपरान्त अर्थात् अब्दाली के समक्ष पराजित होने के बाद अपमान का शूल हृदय में दबाये भूल का परिपार्जन करने हेतु भाऊ की सेना के साथ सम्मिलित हो गया था। अब भाऊ के मनमें यह विचार उदित हुआ कि अब्दाली के यमुना पार करने के पूर्व ही उसे पराजित कर देना अभीष्ट है। उन्होंने सेनापति गोबिन्दराव बुन्देला को आदेश दे दिया कि तुम उचित अवसर प्राप्त होते ही अब्दाली की सेना के पिछले भाग पर आक्रमण करके रसद पहुँचाने का मार्ग बन्द कर दो। किन्तु नदियों में बाढ़ आने के कारण उनमें अथाह जलराशि उमड़ रही थी। इसके साथ ही दूसरी ओर पड़ी हुई थी अपार शत्रु सेना। बाढ़ से उफनती हुई सरिताओं को लांघना भी एक नितान्त कठिन कार्य था। अतः भाऊ ने निश्चय किया कि पहले दिल्ली पर ही आक्रमण किया जाए तथा उसे अब्दाली की सेना की दासता से मुक्ति दिलाई जाए। उत्तर भारत के जिन हिन्दू राजाओं का मराठों ने इस धर्मयुद्ध में सहायता देने हेतु आह्वान किया था उनमें से केवल जाटों ने ही राष्ट्र की इस पुकार पर ध्यान दिया। जब वे मराठा सेना से मिले तो वीरवर भाऊ ने नितान्त आदर सहित उनका अभिनन्दन किया यमुना का पावन जल स्पर्श कर हिन्दुत्व के इन अभिमानियों ने अन्तिम समय तक शत्रु से संघर्ष करते रहने की पावन प्रतिज्ञाएँ भी ग्रहण कीं।

अब सभी की दृष्टि दिल्ली की ओर पड़ी। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही दिल्ली की ऐतिहासिक राजधानी पर अधिकार करने के महत्व को भली-भांति समझने लगे थे। भाऊ ने सिन्धिया होलकर तथा बलवन्तराव मेहन्दाले की सेनाओं को दिल्ली पर चढ़ाई कर देने का आदेश दे दिया। मराठा सेनाएँ दिल्ली के द्वार पर पहुँच गईं। पठानों की सेना ने भी दिल्ली पर अधिकार जमाए रखने का यथा-सामर्थ्य प्रयास किया

किन्तु अंत में रणदेवी ने विजयमाला मराठा सेना के गले में डाल दी और पठानों को मिली पराजय। उन्हें राजधानी दिल्ली मराठों को सौंप देने पर विवश होना पड़ा। नगर पर विजय प्राप्त कर मराठा सेना ने दुर्ग पर धावा बोल दिया। पठानों ने दुर्ग की रक्षा में बड़ी वीरता दिखाई किन्तु मराठों के शक्तिशाली तोपखाने की तोपों ने दुर्ग पर उन्हें अधिकार बनाये रखने में सर्वथा असमर्थ बना दिया और अन्ततः पठान सेना को पराजय स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प दिखाई न दिया और उसने आत्म-समर्पण कर दिया। दिल्ली दुर्ग पर मराठा सेना का अधिकार हो जाने के सुखद समाचार ने हिन्दू आन्दोलन के प्रति सहानुभूति रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति का हृदय आनन्द की लहरों से आप्लावित कर दिया।

मराठा सेना ने बड़ी धूमधाम सहित राजधानी दिल्ली में प्रवेश किया और पाण्डवों की इस पुनीत राजधानी में मराठों के हाथों पुनः हिन्दुत्व की पावन पताका के आरोहण का शुभ कार्य सम्पन्न हो गया। पृथ्वीराज की पराजय के बाद इतिहास में यह प्रथम शुभ घड़ी थी जब हिन्दू अथवा हरिभक्तों की सेना स्वतन्त्रता की पावन पताका अपने सबल हाथों में उठाए दिल्ली में प्रवेश कर रही थीं। अन्ततः पठानों-रुहेलों, मुगलों, तुर्कों, शेखों और सैयदों के अथक प्रयत्न और उनके अगणित षड्यन्त्र भी मुसलमानों के हलाली परचम (पताका) को दिल्ली पर स्थिर न रख सके। यद्यपि अब्दाली और उसके सभी शक्तिशाली सहायकों की सेनाएँ यमुना के दूसरे तट पर पड़ी थी किन्तु उनके देखते ही देखते हिन्दू पद-पादशाही की पुनीत पताका भारत की प्राचींन राजधानी पर गौरव सहित फहरा उठी और उनसे कुछ भी न हो सका।

सदाशिवराव भाऊ ने अनुभव किया कि चाहे एक दिन के लिए क्यों न हो हिन्दू पद-पादशाही का उसका पावन स्वप्न पूर्ण हो गया है यदि कोई जाति अपने शौर्य और वीरता से एक दिन के लिए भी ऐसी परि-

स्थिति उत्पन्न कर पाती है तो वस्तुतः वही उसकी नसों में रक्त के संचार का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण ही नहीं होता अपितु एक ज्वलन्त प्रमाण भी प्रस्तुत हो जाता है। ऐसा सौभाग्यशाली दिवस अपनी अल्पावधि में भी शताब्दियों की सफलताओं, सत्कर्मों, प्रसन्नता और आपत्तियों तथा कठिनाइयों का वृत्त चित्र नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत कर देता है। उसी एक दिवस ने यह भली भाँति सिद्ध कर दिखाया कि ७०० वर्ष तक हिन्दुओं पर जो अन्याय किए गये थे वे भी हिन्दुओं की पावन आत्मा अथवा उनकी जीवन शक्ति को पद-दलित नहीं कर सके। हिन्दुओं ने अपने आपको मुसलमानों के समान ही प्रमाणित नहीं किया अपितु उन पर अपनी विजय पताका फहरा देने का भी श्रेय और सुअवसर उपलब्ध कर अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण प्रस्तुत कर दिखाया।

भाऊ यदि इच्छा करता तो विश्वासराव को सम्पूर्ण हिन्दुस्थान का सम्राट् घोषित कर सकता था। इस प्रकार हिन्दू पद-पादशाही का पुनीत आरम्भ किया जा सकता था। किन्तु उसने अपनी राजनैतिक बुद्धिमत्ता का परिचय प्रस्तुत करते हुए इस सम्बन्ध में शीघ्रता नहीं दिखाई। उसने भली भाँति इस तथ्य की अनुभूति कर ली थी कि मराठों के भय से भय-भीत मुसलमान ही नहीं अपितु दक्षिण के असंख्य हिन्दू राजा भी इस स्थिति में मराठों के शत्रु बनकर खड़े हो जाएँगे। इसलिए उसने इस अद्वितीय शुभ अवसर पर शत्रु और मित्र की पहचान करने तथा उनकी परीक्षा लेने तथा शत्रु मित्र दोनों को ही प्रभावित करने का निश्चय किया। इसलिए इस महान् कार्य के उपलक्ष में भाऊ ने एक राजदरबार का आयोजन किया जिसमें विश्वासराव को सभापति पद पर आसीन किया गया। उसमें महाराष्ट्र के सभी अंचलों के प्रतिनिधि ही नहीं अपितु शूरवीर, वैभवशाली, राजनीतिज्ञ तथा विद्वान् भी उपस्थित हुए। राजकीय सम्मान और चमक-दमक सहित राजदरबार का आयोजन हुआ। अश्वारोही वाहिनी, सहस्रों अश्व एवं हाथी, हजारों

सैनिक जो हिन्दुत्व की विजय पताका को गोदावरी से उत्तर में सिन्धु सरिता के किनारों तक तथा दक्षिण में महासागर के तट तक फहराने में सफलता प्राप्त कर चुके थे, सहस्रों रणसिंहों, तुरहियों, बन्दूकों और बड़े-बड़े सैनिक वाद्य यन्त्रों सहित विजय अभिवादन हेतु एकत्रित हो गये। सेनापति के पश्चात् सेनापति, राजनीतिज्ञ और सरदार, शासक तथा वाइसराय नितान्त नम्रता सहित अपने प्रिय राजकुमार का अभिनन्दन करने के लिए आगे बढ़े। उन्होंने अपने इस प्रिय राजकुमार का उसी भाँति अभिनन्दन तथा मान-वन्दना की जैसा कि अपने राष्ट्र की अध्यक्षता करने वाले सम्राट् की की जाती है। जिस जिसने भी यह अद्भुत दृश्य निहारा वह इसके अर्थ को भली भाँति समझ गया। जो सहस्रों व्यक्ति इस समारोह में सम्मिलित हुए उन्हें इस तथ्य की स्वयमेव अनुभूति हो गई कि वस्तुतः यह समारोह तो उस महान् सिंहासनारोहण समारोह का पूर्वाभ्यास है जिसमें, यदि प्रभु इच्छा हुई तो इस राजकुमार का समग्र हिन्दुस्थान के हिन्दू सम्राट् के रूप में राज्याभिषेक किया जाएगा।

१४

पानीपत

दिल्ली में सम्पन्न हुए इस महान् समारोह का तात्पर्य मुसलमानों ने भी भली-भाँति समझ लिया। यह समाचार दावाग्नि के समान सम्पूर्ण देश में प्रसारित हो गया कि मराठों ने अपने राजकुमार का हिन्दुस्थान के सम्राट् के रूप में राज्याभिषेक कर दिया है। नजीबखाँ तथा अन्य मुस्लिम नेताओं ने इस घटनाओं की ओर इंगित करते हुए अपने भय को न्यायोचित सिद्ध करते हुए मुसलमानों को स्थिति की गम्भीरता से अवगत कराना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने जोरदार शब्दों में यह घोषणा करनी आरम्भ कर दी कि हिन्दू पद-पादशाही नहीं, ब्राह्मण पद-पादशाही स्थापित हो गई है। नजीबखाँ तथा अन्य मुसलमान नेता जिनके हृदय द्वेष-भावना से दग्ध थे हिन्दू पद-पादशाही को इसी नाम से सम्बोधित करते थे। उन्होंने आह्वान किया कि पैगम्बर के प्रत्येक सच्चे अनुयायी का यह पावन कर्तव्य है कि वह काफिरों की इस शक्ति के विरुद्ध लोहा लेने के लिए सन्नद्ध हो जाय।

किन्तु नजीब तथा अन्य मौलवियों द्वारा इस्लाम के नाम पर की गई इन भाववुकतापूर्ण घोषणाओं की अपेक्षा भी शुजा तथा अन्य मुसलमानों की स्वार्थ भावना ही प्रबल सिद्ध हुई। रुहेलों जैसे हठधर्मी का अनुगमन करने वालों की आँखें भी खुल गईं। अब्दाली की शक्ति के भी जबड़े उखाड़कर मराठों ने जो सफलता प्राप्त की थी और अब्दाली को उनकी शक्ति को सहन करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं मिल रहा था, इस कारण उहें विश्वास हो गया था कि अब्दाली भी मराठों की शक्ति को कुचलपाने में सर्वथा असमर्थ है। अतः शुजा ने भाऊ को एक पत्र लिखा जिसमें उसने अब्दाली का साथ देने को अपनी भूल मानते

हुए उस पर पश्चाताप व्यक्त किया था। भाऊ ने भी उसे अपने साथ मिला लेना ही बुद्धिमत्ता समझा और उन्होंने अपने राजदूतों के माध्यम से यह कहला भेजा कि मराठे मुगल-सम्राट् को पदच्युत करना नहीं चाहते अपितु यदि शुजा अब्दाली का सहयोग करना त्याग देगा तो उसे शाहआलम का वजीर नियुक्त कर दिया जायगा, जिसे मराठे मुगल सम्राट् के रूप में मान्यता देते हैं। रुहेलों के हृदय भी संकोच की भावना से परिपूरित हो उठे और उन्होंने भी अब्दाली से अलग हो जाने की चर्चा आरम्भ कर दी। जब अब्दाली ने भाग्य के चक्र को इस भाँति अपने विपरीत घूमते हुए देखा तो उसने भी मराठों से वार्ता आरम्भ करने का निश्चय कर लिया। उसने अपने दूतों को मराठों के साथ शान्ति की शर्तों पर विचार करने के लिए भेज दिया। परन्तु अब्दाली की इस बात को स्वीकार करने के लिए भाऊ कदापि तैयार न थे कि पंजाब को अब्दाली के अधिकार में ही रहने दिया जाय। इसके साथ ही विचार-विमर्श के इस भ्रमजाल में पड़कर भाऊ अपने समक्ष विद्यमान उस सुअवसर को खोने के लिए तत्पर नहीं थे, जिससे वह बहुत कुछ प्राप्त करने की स्थिति में आ गये थे। उनकी यही मान्यता थी कि अब गरम लोहे पर आघात करने की स्वर्ण सन्धि को खोना सर्वथा अनुपयुक्त है। अतः जहाँ वह दिखावे मात्र के लिए अब्दाली से वार्ता करते रहे वहाँ उन्होंने उत्तर की ओर बढ़कर कुंजपुरा को भी अब्दाली के हाथों से छीन लेने का संकल्प कर लिया, जहाँ वह अभी भी अपना सुदृढ़ मोर्चा जमाये हुए था। अब्दाली ने वहाँ समरखाँ के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना तैनात की हुई थी। कुतुबशाह भी वहीं था। अतः ज्योंही उन्हें यह सूचना प्राप्त हुई कि मराठे कुंजपुरा पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहे हैं उन्होंने उस स्थान की रक्षा की पूर्ण तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं। अब्दाली ने जो यमुना के दूसरे तट पर था, समदखाँ और कुतुबशाह को आदेश दिया कि वे कंजपुरा की प्रत्येक स्थिति में रक्षा करें तथा उन्हें उसने यह भी आश्वा-

सन दिया कि उनकी सहायतार्थ और सेनाएँ भी भेजी जाएँगी।

भाऊ ने दिल्ली छोड़ते समय यह भी आवश्यक समझा कि वे अपने कोष को परिपूर्ण कर लें। उन्हें यह आशा थी कि गोविन्द पन्त बुन्देला अब्दाली की रसद प्राप्ति का मार्ग काट देगा और उसकी सेना के पिछले भाग पर आक्रमण कर देगा तथा शुजा और रुहेलों के प्रदेशों पर आक्रमण करके उन्हें भी दुविधा में डाल देगा। किन्तु गोविन्द पन्त अपने दायित्व का निर्वाह करने में पूर्णतः असफल रहा। बुन्देला से कोई ठोस वित्तीय सहायता पाने में असफल होकर भाऊ ने अपने उस कोषागार को भरने के अन्य स्रोत खोजने आरम्भ कर दिये जो उनके युद्ध की वास्तविक उपलब्धि था। उनका ध्यान शाही सिंहासन पर जड़ी चाँदी की उस छत की ओर आकृष्ट किया गया जिसका मूल्य लाखों रुपये था। उन्होंने तत्काल आदेश दिया कि मुगल राज्य सिंहासन को टूक टूक कर सम्पूर्ण चाँदी टकसाल में भिजवा दी जाय। किन्तु उसी समय मानसिक दासता की मनोवृत्ति तथा अन्ध-विश्वास ने भी व्यर्थ का चीत्कार आरम्भ कर दिया। यह भी कहा जाता है कि जाट भी इस विचार से असन्तुष्ट हो गये कि उन शक्तिशाली मुगलों के राजसिंहासन को अपमानित करना देव स्वत्व के अपहरण के तुल्य है, जिन्हें परमात्मा ने ही हिन्दुस्थान का सम्राट् बनने के लिए उत्पन्न किया है। यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो जाटों को यह भी विचार करना अपेक्षित था कि यदि प्रत्येक सफल कार्य, जिसमें बलात् किसी स्थान को हड़प लेना भी सम्मिलित है ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही सम्पन्न होता है तथा सफलता के कारण ही वह ईश्वरीय कार्य का रूप ले लेता है तो शिवाजी ने रायगढ़ में जो राज्य सिंहासन स्थापित किया था वह भी निश्चित रूप से ही पवित्र एवं ईश्वरीय था। रायगढ़ के राज्य-सिंहासन की स्थापना किसी पर धर्मान्धतावश अत्याचार करने अथवा अन्याय करने की दृष्टि से नहीं हुई थी अपितु उसकी आत्मरक्षा और स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र जीवन

की प्राप्ति के उद्देश्य से की गई थी। किन्तु जब औरंगजेब अग्नि और तलवार एवं धर्मान्धता एवं दमन की सम्पूर्ण सेना सहित दक्षिण भारत में हिन्दुओं के राष्ट्र जीवन को जर्जरित करने तथा इस नवीन हिन्दू राज्य का गला घोंट देने के लिए आया तो क्या उसने शिवाजी महाराज के सिंहासन को खण्ड-खण्डित करने में किसी प्रकार का संकोच अनुभव किया था? फिर वे ही अब उस मुगल राज्य-सिंहासन के लिए इतने चिन्तित क्यों हो रहे थे, जो समग्र हिन्दू जाति के लिए शैतानी सत्ता का एक चिह्न मात्र था जिसे सहस्रों हिन्दू हुतात्माओं के रक्त से नहलाया गया था और जिसका निर्माण ही उनके मन्दिरों और गृहों को नष्ट-भ्रष्ट कर उनके ध्वंसावशेषों पर किया गया था, जिसका अस्तित्व ही हिन्दू जाति की राजनैतिक और जातीय मृत्यु के तुल्य था। औरंगजेब ने हिन्दुत्व के राज-सिंहासन को टूक-टूक कर देने के लिए अपना लोह-हस्त उठाया था, किन्तु अब समय के न्यायशील देवता तथा हिन्दुस्थान के संरक्षक ने उसके हाथ से हथौड़ा छीन लिया। दृष्टिपात करो आज उसका अपना राज्य-सिंहासन ही उस घनाघात से खण्ड-खण्डित होकर बिखर रहा था।

अपने सैनिकों का अवशिष्ट वेतन चुकाने के लिए भाऊ ने कुंजपुरा की ओर प्रस्थान किया। जो सेना इस दुर्ग पर चढ़ाई करने के लिए भेजी गई उसके सेनापति थे शिन्दे, होल्कर तथा विठ्टल सदाशिव। पठानों ने भी वीरता सहित-मराठा सेना से मोर्चा लिया। ये दुर्ग तथा नगर अपनी प्राकृतिक सुदृढ़ता के लिए सुप्रसिद्ध थे। किन्तु जब मराठों की विजय वाहिनी की तोपों के गोले दुर्ग पर गिरने लगे तथा सिन्धिया आदि रण-कुशल मराठा सेनापतियों के नेतृत्व में सैनिक इस दुर्ग पर वार पर वार करते रहे तो मुसलमान अधिक समय तक उनका प्रतिरोध न कर सके। मुसलमानों की प्रतिरक्षा पंक्ति में ज्योंही थोड़ी-सी दरारें पड़ीं दामाजी गायकवाड़ ने अपने दस्ते को उन पर चढ़ दौड़ने का आदेश

दे दिया। हर-हर का जयघोष करते हुए दामाजी गायकबाड़ के सैनिकों ने अपने घोड़ों को शत्रु सेना के बीच घुसा दिया। रणभूमि रक्त-स्नान करने लगी। हजारों पठानों को तलवारों की तीक्ष्ण धार चाटने लगी। दुर्ग पर मराठा सेना ने अधिकार कर लिया। मुसलमानों का शिविर लूट लिया गया तथा सैकड़ों मुसलमान सैनिकों को बन्दी बना लिया गया। उनका सेनापति समदखाँ भी मराठों ने जंजीरों में जकड़ लिया। वह एक बार पहले भी रघुनाथराव द्वारा लड़े गए युद्ध में उनके द्वारा बन्दी बनाया गया था, किन्तु उस समय उसे धन प्राप्त कर छोड़ दिया गया था। इतने पर भी वह प्राण-प्रण सहित मराठों का विरोध करने में लगा रहा था किन्तु अब वह पुनः उनके द्वारा बन्दी बना लिया गया।

युद्ध में विजय प्राप्ति के उपरान्त भाऊ खड़े हुए, सिन्धिया तथा होल्कर को कतिपय आदेश देते हुए, उस हिन्दू सेना के शौर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे जिसने उस दुर्ग को केवल तीन दिन में ही अपने अधिकार में कर दिखाया था, जिसके सम्बन्ध में शत्रुओं को यह आशा थी कि वे कई माह तक नहीं तो कई सप्ताह तक तो मराठों का प्रतिरोध करते ही रहेंगे। ठीक उसी समय दो प्रमुख युद्ध-बन्दी जो हाथी पर सवार थे भाऊ के समक्ष पेश किये गए। इनमें से प्रथम था समदखाँ जो कुंजपुरा में पठान सेना का सेनापति था। दूसरा प्रमुख बन्दी था नजीबखाँ का धार्मिक शिक्षक तथा पठानों के षड्यन्त्र का एक अत्यधिक सक्रिय नेता और वह व्यक्ति जिसने महान् योद्धा दत्ताजी का उस समय ठोकर मार अपमान किया था जिस समय वह अपनी इहलीला समाप्त कर वे परलोक गमन कर रहे थे। उसने उन्हें काफिर कह कर अपनी नीचता की पराकाष्ठा प्रदर्शित की थी, यह व्यक्ति था कुतुबशाह।

कुतुबशाह को देखते ही भाऊ का मराठा रक्त खौल उठा। दत्ताजी के प्रतिशोध का विचार उनके नेत्रों में नाच उठा। उन्होंने तत्काल उससे पूछा कि "क्या तुम ही वह व्यक्ति हो जिसने हमारे वीर सेनानी

दत्ताजी को उनके जीवन की अन्तिम वेला में काफिर कह कर सम्बोधित किया था और उन्हें लात मारी थी ?

कुतुबशाह ने उत्तर दिया, "हाँ, हमारे धर्म में मूर्तिपूजक की हत्या करना तथा उससे काफिर के तुल्य घृणा करना पुण्य कर्म माना गया है।"

भाऊ साहब गरज उठे—"अच्छा तो कुत्ते की मौत मरो।"

सिपाही अपराधी को एक ओर थोड़ी दूर पर ले गए और तलवार से उसका सिर धड़ से प्रथक कर दिया। इस प्रकार दत्ताजी की हत्या और अपमान का प्रतिशोध ले लिया गया, तथा समदखाँ भी इसी गति को प्राप्त हुआ।

नजीब का जामाता (दामाद) तथा उसके परिवार के अन्य सदस्य भी मराठों द्वारा बन्दी बना लिए गये थे। किन्तु उनके साथ कुतुबशाह के समान कठोर व्यवहार नहीं किया गया। सत्य तो यह है कि यदि युद्ध करते समय बन्दी बनाये गए अन्य बन्दियों से भी वैसा ही व्यवहार किया जाता तो अब्दाली को उसके विरुद्ध किसी प्रकार से भी मानवता की दुहाई देने का अधिकार नहीं था। क्योंकि अब्दाली तथा उसके अन्य सहयोगी मुसलमान शहजादे घृणिततम कार्यों के लिए स्वयं उत्तरदायी थे। पंजाब, बदान तथा अन्य युद्धों में उनके द्वारा जो मराठा सैनिक पराजित कर दिये गए थे उनकी नाक काट कर उन वीरों को अपमानित मात्र ही नहीं किया गया था, अपितु उनके शीश काट कर उन्होंने अपने शाही शिविरों के समक्ष ढेर लगा दिये थे। इन ढेरों को ही वे अपने विजय स्तम्भ समझते आये थे। मराठे भी चाहते तो इसी प्रकार के घृणिततम कार्य कर सकते थे। किन्तु मराठों ने इस प्रकार के क्रूर कार्य कदापि न किये अपितु उन लोगों ने न तो किसी मस्जिद को ही नष्ट-भ्रष्ट किया और न ही कभी कुरान को जलाकर अपनी धर्मान्धता का ही परिचय दिया। उन्होंने मुसलमानों के धर्म स्थानों

को अपवित्र करने में भी अपनी शान नहीं समझी। यद्यपि अब्दाली हो या औरंगजेब, नादिर हो तथा अन्य कोई मुस्लिम आक्रमणकारी, उनमें से प्रत्येक ही इस प्रकार के घृणित कार्यों को करने में अपने-आपको पुण्य का भागीदार समझता था।

कुंजपुरा की पराजय ने अब्दाली के सम्मान और प्रतिष्ठा की अर्थी में एक और कील ठोक दी थी। क्योंकि मराठे उसकी १ लाख सैनिकों की विशाल सेना को पराजित कर उसकी आँखों के समक्ष ही विजय दशमी अथवा विजय दिवस मना रहे थे और यह विजय पर्व भी आयोजित हो रहा था पूर्ण सैनिक आन-बान और शान के साथ। अब्दाली एक सुयोग्य सेनापति था अतः उसने यह तथ्य भली भाँति समझ लिया था कि यदि मैंने साहस का प्रदर्शन कर कोई महान् कार्य सम्पन्न न कर दिखाया तो मेरा उद्देश्य ही धूल में मिलकर रह जाएगा। अतः उसने निश्चय किया कि किसी प्रकार भी क्यों न हो यमुना को पार कर बागपत पहुंच कर मराठा सेना को उसके दिल्ली केन्द्र से सर्वथा काट दिया जाय।

वह अपने इस कार्य में सफल भी हो गया और उसने १ लाख सैनिकों पर आधारित अपनी शक्तिशाली सेना को मराठों और उनकी दिल्ली की संचार पंक्ति के मध्य एक बाड़ के रूप में खड़ा कर दिया। इसी समय उसे एक और लाभ भी प्राप्त हो गया जो आगे चलकर उसके तथा उसकी सैनिक सुदृढ़ता के लिए अत्यधिक लाभदायक सिद्ध हुआ। वह अवसर यह था कि जहाँ उसे मराठों को उनके केन्द्र से पृथक् कर देने में सफलता प्राप्त हो गई थी वहाँ उसकी संचार शृंखला रुहेलों और शुजा के प्रदेशों से यथापूर्व जुड़ी हुई थी। पर इस कारण भी अब्दाली उतना लाभान्वित न हुआ जितना लाभ उसे भाऊ का निर्देश पूर्ण करने में गोविन्द पन्त के असफल रहने अर्थात् रसद पहुँचना बन्द करा पाने में सफल न होने से मिला।

अब्दाली ने देखा कि मराठे उससे मोर्चा लेने के लिए पूर्णतः सन्नद्ध

हैं। उसने बागपत के समीप ज्यों ही यमुना पार किया भाऊ उससे युद्ध करने के लिए कुरुक्षेत्र की प्रख्यात युद्ध भूमि की ओर बढ़ चला और उसने पानीपत में पहुँचकर अपने खेमे गाड़ दिए। मराठों को यह सुदृढ़ विश्वास था कि यदि गोविन्द पन्त तथा गोपाल गणेश ने अब्दाली की सेना को पहुँचने वाली रसद बन्द कर देने में सफलता प्राप्त कर ली तो वे निश्चित रूप से ही अब्दाली को उसके अपने ही स्थान पर पीसकर रख देंगे। पर गोविन्द पन्त अपने दायित्त्व को पूर्ण करने में पूर्णरूपेण असफल ही रहा। यद्यपि भाऊ ने गोविन्द पन्त को आवश्यक निर्देश देने के अतिरिक्त धमकियाँ भी दीं किन्तु गोविन्द पन्त उतना कार्य भी न कर सका जितना कि वह कर पाने में पूर्णतः समर्थ था। जाट भी मराठों का साथ छोड़ ही चुके थे और अब वे अपनी राजधानी भरतपुर में खड़े-खड़े यह सब तमाशा देखने में ही आनन्द का अनुभव कर रहे थे। तब भी उनकी इस सम्बन्ध में प्रशंसा ही करनी होगी कि वे यदा-कदा मराठा सेना को रसद आदि अवश्य ही भेजते रहते थे। उनमें से मराठों का सामना करने का तो किसी में साहस नहीं हुआ किन्तु उनमें से बहुतसों की यह इच्छा अवश्य ही थी कि मराठे कुचल दिए जाएँ। इन हिन्दू राजाओं की यह आत्मघाती आकांक्षा कहाँ तक सफल हो पाई, यह तो भविष्य का इतिहास ही बताएगा। अतः यद्यपि दोनों पक्ष ही विपक्षी के संचार का मार्ग काटकर एक दूसरे को भूख से तड़फने की स्थिति में लाकर आक्रमण करने के इच्छुक थे किन्तु ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए अब्दाली की अपेक्षा मराठा सैनिक ही अधिकाधिक क्षुधा पीड़ित होने लगे।

अन्ततः २२ नवम्बर को जनकोजी सिन्धिया की सेना अपने शिविर से बाहर आई और उसने मुस्लिम सेना पर आक्रमण कर दिया। सम्पूर्ण मोर्चे पर ही भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया। इस नवयुवक मराठा सेनापति तथा उसके अन्य सहयोगी योद्धाओं के प्रचण्ड शौर्य की अग्नि में मुस्लिम सेना की वीरता शनैः-शनैः राख होने लगी और भगवान भुवन भास्कर के

छिपते-छिपते मराठों का विजय चन्द्र रण-गगन में मुस्कुरा उठा तथा मुस्लिम सेना का सितारा डूब गया। रात्रि का गहन अंधकार ही अब्दाली की सेना को घोर पराजय से बचा लेने में समर्थ हो गया। अब्दाली की रणभूमि को छोड़कर भागती हुई सेना का मराठा सैनिकों ने उसके पड़ाव तक ही पीछा किया किन्तु घटाटोप अन्धकार हो जाने के परिणामस्वरूप उन्हें वापस लौट आना पड़ा। मराठों ने अपने विजयी सैनिकों का अभिनन्दन किया। अपने सैनिकों के मस्तिष्क पर पड़े इस पराजय के दुष्प्रभाव को समाप्त करने के लिए अब्दाली ने १५ दिन के पश्चात् अपने चुने हुए सैनिकों को आज्ञा दी कि वे रात्रि में अन्धकार का साम्राज्य फैलते ही मराठा सेना के मध्य भाग पर आक्रमण कर दें। रात का अंधेरा ही उसने अपनी विजय के बुझे हुए चिराग को जलाने के लिए सर्वथा उपयुक्त अवसर समझा। परन्तु जब ये लोग आगे बढ़े तो उन्हें २० हजार सैनिकों की विशाल सेना लेकर बलवन्तराव मेहन्दाले को अपनी ओर बढ़ते हुए देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ा। पठानों ने तत्काल ही मराठों पर अपनी तोपों से अग्नि वर्षा आरम्भ कर दी। परन्तु मराठा सेना अपने साथ तोपखाना लेकर नहीं चली थी अतः उसके सैनिक भारी संख्या में धराशायी होने लगे। शीघ्र ही यह आशंका उपस्थित होने लगी कि संयुक्त मराठा सेना को पराजय सहन करनी पड़ेगी। किन्तु तभी बिजली की गति से मराठा सेनापति ने अपना अश्व आगे बढ़ाया और सैनिकों को ललकारते हुए उसने आदेश दिया, वीरों अपने राष्ट्र की पावन पताका को अपमानित न होने देना। उसने मराठा सैनिकों को पुनः एकत्रित किया और अपना हाथ भयंकर मुद्रा सहित ऊँचा उठाकर सैनिकों को आज्ञा दी कि तत्काल शत्रु सेना पर टूट पड़ो। मराठा सैनिक अपने शीश हथेली पर धर कर शत्रु सैन्य पर चढ़ दौड़े। शत्रु सेना की तोपों के मुख बन्द हो गये और वे मृत्यु के मुख में आ गये। सब से आगे-आगे था वीर मराठा सेनापति बलवन्तराव मेहेन्दाले। घमा-

सान युद्ध प्रारम्भ हो गया। सहसा ही शत्रु के सैनिक की एक गोली इस वीर सेनापति को आकर लगी और वह रणभूमि में अपने राष्ट्र के सम्मान की रक्षा करते-करते सदैव के लिए सुख की नींद सो गया। जब मुसलमान सैनिकों ने यह देखा तो वे विजय चिह्न के रूप में इस वीर सेनानी का शीश काट कर अपने साथ ले जाने की आकांक्षा लेकर उस नरवीर की मृत देह की ओर टूट पड़े। किन्तु उसी समय वीर निम्बालकार ने शत्रु की तलवारों तथा मृत सेनापति के शव के मध्य अपने-आपको डाल दिया और उसने अपने प्रिय सेनापति का शव तब तक ढके रखा जब तक कि अन्य मराठा सैनिकों ने आकर उसे शत्रुओं के पंजे से मुक्त करा लेने में सफलता प्राप्त न कर ली। इसी बीच सहस्रों पठान मृत्यु के घाट उतारे जा चुके थे तथा मुसलमानों के लिए अब और अधिक डटा रहना असम्भव-सा ही प्रतीत होने लगा था। मुसलमानों का साहस टूट गया और उन्हें संघर्ष करना असम्भव ही प्रतीत होने लगा। पहले तो वे लोग पलायन करने से भी झिझके, किन्तु अन्ततः पराजित होकर युद्धस्थल में अपने सहस्रों साथियों को मराठों के सम्मुख छोड़कर रणभूमि से मुख मोड़कर अपने शिविर की ओर निकल भागे। यद्यपि मराठों ने विजयश्री प्राप्त कर ली किन्तु उनका एक महान् सेनापति सदैव के लिए उनसे पृथक हो गया। सेनापति का शव नितान्त सम्मान सहित छावनी में लाया गया और उसकी एक विजेता सैनिक के समान ही मान-वन्दना और अभ्यर्थना की गई। भाऊ को उसके निधन पर अन्य लोगों की अपेक्षा कम दुःख का अनुभव न हुआ और वे स्वयं भी इस महान् वीर सेनापति की अन्त्येष्टि क्रिया में सम्मिलित हुए। उस वीर सेनापति की धर्मपत्नी भी नितान्त साहसी एवम् वीर रमणी थी। यद्यपि भाऊ ने प्रत्येक प्रकार से उस वीर नारी को समझाने का प्रयास किया किन्तु उसने पति के साथ अग्नि ज्वालाओं में अपनी नश्वर देह को भी क्षार-क्षार करने अर्थात् सती होने के निश्चय का परित्याग करना अस्वीकार कर दिया।

सम्पूर्ण सेना भी अपने दिवंगत नायक को अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करने को एकत्रित हुई। सहस्रों लोग नितान्त श्रद्धा-भावना सहित उस महान् वीर हुतात्मा की चिता के चारों ओर एकत्रित हो गए। चिता में उस महान सेनापति की वीर पत्नी अपने दिवंगत पति के सिर को बड़ी सावधानी सहित गोद में लिए हुए बैठी थी तथा उपस्थित सहस्रों व्यक्तियों द्वारा उनकी अभ्यर्थना की जा रही थी। प्रचण्ड लपटों ने उन दोनों के नश्वर शरीर को अपनी गोद में सदैव के लिए लपेट लिया और उनकी कीर्ति पताका चिता से उठते हुए धूम्र के समान ही दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गई।

इस प्रकार अब तक अब्दाली का मराठों से दो स्थानों पर संघर्ष हुआ और उसे दोनों ही स्थानों पर पराजय के अतिरिक्त और कुछ हाथ न लग सका। परन्तु अब्दाली की इस पराजय से भी मराठा सेना की भूख की समस्या का निदान नहीं हो सका। यह भी एक तथ्य है कि उस समय तक गोविन्द पन्त की नींद भी टूट चुकी थी और उसने अब्दाली को रसद पहुँचने से रोकने में सफलता प्राप्त कर ली। किन्तु अब समय का रथ बहुत आगे बढ़ चुका था। किन्तु गोविन्द पन्त को अधिक समय तक इस कार्य में भी सफलता नहीं मिल सकी क्योंकि एक कृत्रिम पताका को लेकर अतार्कखाँ ने १० हजार सैनिकों सहित गोविन्द पन्त पर धावा बोल दिया। मराठे उसके बनावटी ध्वज को तब तक होल्कर की पताका ही समझते रहे जब तक कि पठानों ने आकर उन पर अपनी तलवारों के वार करने आरम्भ न कर दिये। अन्ततः गोविन्दपन्त भी रणभूमि में ही एक पठान की तलवार से मारा गया। उस दिन उसे अपने उसी जीवन से हाथ धोना पड़ा, जिसको यदि वह चार मास पूर्व भाऊ की आज्ञानुसार संकट में डालने का साहस अपने आप में संजो पाता तो सम्भवतः वह अपनी जाति ही नहीं अपने-आपको भी एक महान् विपत्ति से बचा लेने में सफलता प्राप्त कर सकता था।

पठानों ने गोविन्द पन्त का शीश काट लिया तथा अब्दाली ने नितान्त कृपा दरशाते हुए उसे आत्म-प्रशंसा से आद्योपान्त परिपूरित एक पत्र सहित भाऊ साहब के पास भिजवा दिया। सैनिक दृष्टि से अभी भी अब्दाली को परास्त करने की सम्भावनाएँ पूर्णतः धूमिल नहीं हो पाई थीं, क्योंकि सब प्रकार की चौकसी और सावधानी रखे जाने पर भी मराठों पर आई हुई विपत्ति का समाचार दक्षिण में पहुंच चुका था और बालाजी अपने साथ अनुमानतः ५०,००० हजार सैनिकों पर आधारित एक सुविशाल सेना लेकर अपने आदमियों की सहायतार्थ दक्षिण से प्रस्थान कर चुके थे। यदि मराठे और भी दो मास तक अब्दाली के समक्ष डटे रहते तो यह सुनिश्चित था कि अब्दाली मराठों की दोनों सेनाओं के मध्य चक्की के दो पाटों के तुल्य दल दिया जाता। परन्तु भूख का निर्णय भी क्या हो सकता था। प्रतिदिन ही सैकड़ों की संख्या में भार ढोने वाले पशु तथा घोड़े आदि भूख से दम तोड़ते जा रहे थे। उनके शवों से उठती हुई दुर्गन्ध सैनिकों के लिए भूख से भी भयानक महामारी सिद्ध हो रही थी। अब भाऊ साहब के समक्ष एक ही विकल्प रह गया था और वह था युद्ध। जिन वीर सैनिकों की भावनाएँ राष्ट्रदेव के श्री चरणों में अपना सर्वस्व चढ़ाने की ही रही हो वे इस प्रकार एड़ियाँ रगड़-रगड़कर दम तोड़ने के कदापि पक्ष में न हो सकते थे। वे प्रतिदिन ही भाऊ साहब के समक्ष सैकड़ों की संख्या में एकत्रित होते थे और उनसे प्रार्थना करते थे कि उन्हें वीरों की मृत्यु प्राप्त करने हेतु रणस्थल में शत्रुओं से दो-दो हाथ करने का अवसर प्रदान किया जाए। किन्तु क्या उनके समक्ष भूख से बचने का अन्य कोई विकल्प रह ही नहीं गया था। वह विकल्प था "बिना शर्त हिन्दू जाति के महान कार्य का परित्याग।" उसी कार्य का परित्याग जिसके लिए उनके महान् पूर्वजों की कई पीढ़ियाँ जीवित रहीं तो समाप्त भी हो गई। तो क्या यह उचित था कि वे अब्दाली को अपना सम्राट् स्वीकार करके स्वतन्त्रता के पुनीत पथ से पृथक् हो जाएँ।

नहीं कदापि नहीं। कोई भी मराठा सैनिक इस दुर्बल दृष्टिकोण से विचार करने को तैयार नहीं था। आपत्ति के घन उनके शीश पर घहरा रहे थे, क्षुधा उनके प्राणों को खरौंच रही थी किन्तु इन सम्पूर्ण विभीषिकाओं और भयंकरताओं के बावजूद भी उन्होंने शत्रु पक्ष से ऐसी बुद्धिमत्ता सहित दो-दो हाथ करने का सत्-संकल्प कर लिया कि चाहे युद्ध में उनकी कामनाएँ पूर्ण न हो पाएँ किन्तु वे विपक्ष की सफलता को भी धूल-धूसरित अवश्य ही कर देंगे। इस प्रकार की उदात्त भावनाओं वाले सैनिकों के मध्य अपराजेय साहस और शक्ति से कभी भी विचलित न होने वाले भाऊ साहब खड़े थे। उन्होंने यह पावन संकल्प ग्रहण कर लिया कि पराजथ कदापि स्वीकार न की जाएगी और न ही ऐसा कोई कार्य किया जाएगा जिससे उनकी जाति के पवित्र इतिहास और परम्परा पर कलंक का टीका लग जाए। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि विजय की प्राप्ति हेतु चाहे कितने भी कष्ट क्यों न उठाने पड़े और तदुपरान्त भी चाहे बिजयश्री प्राप्त न हो सके किन्तु यदि पराजय भी हो तो ऐसी तो हो कि भारत की भावी सन्तति को उनका बलिदान सदैव प्रेरणा और स्वाभिमान प्रदान करता रहे। ऐसी पराजय भी कई सफलताओं से श्रेष्ठ ही सिद्ध होगी।

सैनिकों की एक आवश्यक सभा का आयोजन किया गया। जिसमें यह निश्चय किया कि युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर दिल्ली की दिशा में धावा बोला जाय और यदि अब्दाली धावे का प्रतिरोध करे तो उस पर ही आक्रमण कर दिया जाय तथा उसकी पंक्ति को काटकर युद्ध भूमि में उससे दो-दो हाथ किये जाय। वस्तुतः "यदि" की शर्त ही निरर्थक थी, क्योंकि अब्दाली कब इस बात को सहन करने वाला था कि मराठा सेना दिल्ली की ओर निष्कंटक होकर बढ़ती चली जाय।

सहस्रों वीर "हरि भक्तों" की सेना जरी-पताका अथवा स्वर्ण गैरिक ध्वज के चारों ओर एकत्रित होने आरम्भ हो गये। उनका सेनानायक

तत्काल ही महाराष्ट्र-मण्डल के नेताओं द्वारा निर्धारित किये गये भविष्य के कार्यक्रम की घोषणा करने हेतु खड़ा हो गया। ज्योंही सेनापति ने अपने मुख से इस निर्णय की घोषणा की कि शत्रु से संघर्ष करने का निश्चय कर लिया गया है, उस वृहत् शस्त्र-सज्ज सैन्यवाहिनी में हर्ष का सागर तरंगित हो उठा। सहस्रों कण्ठों ने युद्ध निमन्त्रण की सहमति में एक साथ हुंकार भर दी। तदुपरान्त सेनापति द्वारा कार्यक्रम की विस्मृत रूपरेखा प्रस्तुत की गई। मराठा सेना के महान् पथ-प्रदर्शक ने राष्ट्र पताका की ओर इंगित करते हुए उसके महत्त्व पर अपने सारगर्भित विचार व्यक्त किए। उसने बताया कि जिस पावन पताका के तले आज हम सब संघ-बद्ध होकर खड़े हैं वह मौन रह कर भी अपने एक-एक तार में इतिहास का एक-एक अध्याय छिपाये हुए है। सेनापति ने उन्हें बताया कि किस भाँति समर्थ गुरु रामदास द्वारा यह पावन पताका एक गम्भीर चेतावनी सहित छत्रपति महाराज शिवाजी के सबल हाथों में थमाई गई थी। उसने यह भी बताया कि किस भाँति समर्थ रामदास ने शिवाजी महाराज को हिन्दू पद-पादशाही के महान् आदर्श से अवगत कराया था, किस भाँति स्वधर्म और स्वराज्य की स्थापनार्थ मराठों के वीर पूर्वजों और अमर हुतात्माओं ने एक विजय पर दूसरी विजय प्राप्त करते हुए अटक से अराकाट तक ही नहीं अपितु सागर पर्यन्त समग्र हिन्दुस्थान को इस पावन पताका की छत्रछाया में स्वतन्त्र तथा संगठित किया था। उन्होंने बताया कि यह स्वर्ण गैरिक ध्वज जब-जब उठा तब-तब ही हिन्दुत्व के विरोधी या तो इसके समक्ष नतमस्तक हो गये अथवा वे नष्ट कर दिये गये। भाऊ ने प्रश्न उपस्थित किया कि क्या अब हम उसे शत्रुओं के समक्ष भू-लुंठित होने दें? झुक जाने दें? अथवा जिस महान् उद्देश्य की यह पावन पताका परिचायक है, उसकी पूर्ति हेतु युद्ध करते-करते अपने प्राण समर्पित कर दें?

एक लाख धर्मवीरों ने 'हर-हर महादेव' का प्रचण्ड रण-घोष किया

और अपनी-अपनी तलवारें म्यानों से निकाल कर राष्ट्र पताका उसके द्वारा निर्देशित महान् कार्य तथा अपने उस प्रिय सेनापति जिसके नेतृत्व में वे विजय पर विजय प्राप्त करते आये थे, के प्रति निष्ठावान् रहने का पावन संकल्प घोषित कर दिया।

१५ जनवरी को भगवान भुवन भास्कर के प्राची दिशा में उदित होते ही सम्पूर्ण मराठा सेना व्यूह-बद्ध होकर चल पड़ी। भाऊ और विश्वासराव ने सेना के मध्य भाग की कमान सँभाली। जनकोजी उनकी दाहिनी ओर नियुक्त हुए तथा मल्हारराव होल्कर सेना के अग्रिम भाग में डट गये। दामाजी गायकवाड़, यशवन्तराव पंवार, अन्ताजी माण-केश्वर, विठ्ठलशिवदेव तथा शमशेर बहादुर ने सेना की ओर से रक्षा का भार ग्रहण किया। मराठों ने अपने उत्तम तोपखाने को वीर इब्राहीम गार्दी के नेतृत्व में सब से आगे रखा। वीर इब्राहीम था तो मुसलमान किन्तु जीवन की अन्तिम घड़ी तक उसने अपनी स्वामिभक्त का जिस भाँति प्रमाण दिया वह भी इतिहास का अभिन्न पृष्ठ रहेगा। इस भाँति पूर्णतः व्यूह-बद्ध होकर मराठों ने रणदेवी का आवाहन किया और सहस्रों नरसिंहों, तुरहियों, नक्कारों और युद्ध-वाद्यों को बजाते हुए प्रस्थान का डंका बजा दिया।

अब्दाली को ज्योंही मराठा सेना के प्रस्थान की सूचना मिली वह भी उसका प्रतिरोध करने हेतु सन्नद्ध हो गया। उसकी सेना के मध्य भाग का संचालन कर रहा था उसका वजीर शाहनवाजखाँ और दांई ओर थे रुहेले तथा बांये भाग में नियुक्त थे नजीबखाँ और शुजा। अब्दाली ने भी सेना के सब से अगले भाग में अपने तोपखाने को ही स्थान दिया।

दोनों सेनाओं का आमना-सामना हुआ और युद्ध आरम्भ हो गया। दोनों ओर की तोपों और बन्दूकों के मुख अग्नि वर्षा करने लगे। इन दो सुविशाल सेनाओं के संचालन से उठती हुई धूल और धूएँ के अम्बार से आकाश में अंधकार व्याप्त हो गया। दिन चढ़ता जा रहा था किन्तु युद्ध

का भयंकर रूप भी बढ़ता ही जा रहा था, परन्तु धुएँ और धूल के प्रचण्ड अम्बार में चढ़ता हुआ सूर्य भी नजर न आ रहा था। जब दोनों पक्षों ने भली-भाँति एक-दूसरे को पहचाना तो यशवन्तराव पंवार तथा विठ्टल शिवदेव ने ही आक्रमण की पहल की। तुमुल संग्राम आरम्भ हो गया। मराठों के प्रथम प्रहार में ही रुहेले तिलमिला उठे और पीछे हटने पर विवश हो गये। मराठा वीरों ने ८००० रुहेलों को सदा के लिए रणभूमि में सुला दिया। भयंकर प्रहार को सहन कर पाने में असमर्थ होकर यवन सेना का दाहिना भाग लड़खड़ाने लगा तथा पीछे हट गया। यवन सेना के मध्य भाग पर भाऊ और वीरवर विश्वास ने इतना प्रचण्ड प्रहार किया कि सेनाएँ मृत्यु के मुख में आ पड़ीं। पठान भी कोई निकृष्ट शत्रु तो थे नहीं, दूसरी ओर भाऊ साहब तथा नवयुवक राजकुमार विश्वासराव सरीखे असाधारण योद्धाओं द्वारा संचालित महाराष्ट्र की वीरवाहिनी भी पीछे पग हटाना न सीखी थी। एक घण्टे के तुमुल संग्राम के उपरान्त भाऊ और विश्वासराव को स्वयं वजीर द्वारा संचालित तथा लोहे के समान सुदृढ़ पठानों के अग्रभाग की सैनिक पंक्ति को तोड़ देने में सफलता प्राप्त हो गई। सहस्रों मुसलमान सैनिक धराशायी हो गये तथा वजीर का पुत्र भी मारा गया और वह स्वयं भी अश्वहीन हो गया। मुस्लिम सेना का मध्य भाग भी टूट कर छिन्न-भिन्न होने लग गया। शत्रुओं के एक के बाद दूसरे मोर्चे को तोड़ते हुए वीर शिरोमणि भाऊ साहब तथा वीरवर विश्वासराव आगे बढ़ते जा रहे थे। इस दृश्य को देख नजीबखाँ वजीर की रक्षार्थ आगे आया। किन्तु भाऊ को सहायता पहुँचाने तथा उनकी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए वीर जनकोजी भी अपने अनुभवी योद्धाओं के साथ बड़ी शीघ्रता सहित वहाँ पहुँच गये। संग्राम भयंकरतम तथा अपूर्व था। सम्पूर्ण सेना में द्वन्द्व युद्ध छिड़ गया। अब्दाली ने देखा कि उसकी सेना का दांया, बांया और मध्य भाग अथवा सम्पूर्ण सेना ही घबराकर पलायन करने लग गई है। किन्तु इस दृश्य

को देखकर भी वह अटल ही रहा। उसने आदेश दिया कि जो लोग मोर्चा छोड़कर भागने वाले हों उनको जीवित न छोड़ा जाय। प्रातः ८ बजे के लगभग युद्ध आरम्भ हुआ था और अब दोपहर के दो बज रहे थे। किन्तु प्रातः से अब तक युद्ध एक क्षण के लिए भी न थम सका था। रण-क्षेत्र में रक्त की सरिता प्रवाहित हो उठी थी। दम तोड़ते हुए सैनिकों और घायलों की कराहें मारू बाजों तथा बन्दूकों से निकलने वाली गोलियों एवं वीरों के मुख से उच्चारित होने वाले रणघोषों में दबकर रह गई थीं।

मध्याह्न का समय था, दो बज रहे थे। मराठों के महान् शौर्य और अटल अवरोध का मुस्लिम शत्रुओं के हृदय पर भी गहन प्रभाव पड़ा था। अनुभवी योद्धा और रणकुशल सेनापति अब्दाली भी मैदान छोड़कर यमुना के दूसरी ओर जाने का विचार करने लगा था। परन्तु उसने नितान्त चतुराई सहित लगभग दस हज़ार सैनिकों की एक सहायक सेना पृथक् खड़ी की हुई थी। उसने समझा कि इससे अच्छा अवसर पुनः मिल पाना असम्भव होगा, उन सैनिकों को भाऊ पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। ये सैनिक जो अब तक युद्ध से सर्वथा अलग-थलग थे विद्युत गति से युद्ध से थके मराठा सैनिकों पर टूट पड़े।

प्रातः काल से संघर्ष करते-करते थके हुए मराठा सैनिक इस अप्रत्याशित आक्रमण से क्षण मात्र के लिए भी हताश न हुए। मराठों ने अब्दाली के इन सैनिकों का भी नितान्त निर्भयता सहित प्रतिरोध किया। एक बार तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि विजय श्री द्वारा मराठों के सिर सेहरा बाँधने की पावन घड़ी सन्निकट आ पहुँची है, किन्तु उस समय तक अब्दाली अपनी चालाकी की अन्तिम पाँसा फेंक चुका था।

ठीक उसी समय प्रचण्ड वेग से सनसनाती हुई एक गोली यमदूत के तुल्य आई और वीर राजकुमार विश्वासराव को लगी। जिसके फलस्वरूप यह वीर राजकुमार घायल होकर अपने हाथी के हौदे पर गिर

पड़ा। मराठों का यह सुन्दर और साहसी राजकुमार प्राणघातक आघात लगने के फलस्वरूप अचेत अवस्था में हौदे में पड़ा हुआ था, जिस पर सम्पूर्ण राष्ट्र की आँखें लगी हुई थीं। यह समाचार वीरवर भाऊ के पास पहुँचा जो अपनी सेना के सर सेनापति थे और उसे प्रोत्साहन देते हुए ऐसा अद्वितीय युद्ध कर रहे थे कि जिसकी अनुभूति इससे पूर्व विश्व को न हो पाई थी। यह दुखद समाचार सुनते ही वीरवर भाऊ पर वज्र-पात-सा हो गया। सेनापति भाऊ यथाशीघ्र अपने वीर भतीजे के पास पहुँच गए। उन्होंने देखा कि वीर राजकुमार विश्वासराव को प्राणघातक आघात लगा है और वह शाही हौदे में रक्त से सरोवार हुआ पड़ा है। उद्‌गिर विजेता का पाषाण-सा कलेजा भी क्षण भर के लिए तो इस दृश्य को देखकर टूक-टूक हो गया और उसके नेत्रों से बहती हुई अश्रु-धारा ने उसके कपोलों को भिगो दिया। दुख से उनका कण्ठ अवरुद्ध-सा हो गया और सिसकियाँ भरते हुए इस वीर सेनापति के मुख से केवल एक ही शब्द निकला "विश्वास ! विश्वास !!" जीवन के अवसान की इस वेला में भी राजकुमार विश्वासराव के नेत्र एक बार खुले और उन्होंने वीरोचित शब्दों में कहा, 'प्यारे चाचा जी, आप मेरे पास क्यों रुके हुए हैं ? अपने सेनापति के सेना से दूर रहने के कारण कहीं हमारी सेना पराजित ही न हो जाए।" मृत्यु की मर्मान्तिक-वेदना भी उस वीर मराठा राजकुमार को कर्तव्य पथ से च्युत न कर सकी। अब भी उसके मन में एक ही कल्पना थी और वह थी युद्ध में विजय प्राप्ति की। उसकी एक ही आकांक्षा थी कि मेरे प्राण भले ही चले जाएँ किन्तु युद्ध में पराजय की कालिख हमारे मुख पर नहीं लगनी चाहिए। उसके प्रेरणाप्रद शब्दों ने भाऊ की मोह-तन्द्रा को टूक-टूक कर दिया और वे गरज उठे "इसकी क्या चिन्ता है, मैं स्वयं ही शत्रु को पराजित करने में सफलता प्राप्त करूँगा।' इतना कहकर वे पुनः अपनी शक्तिशाली दल को व्यूह-बद्ध करने के कार्य में जुट गए। सत्य पथ के अनुयायी रणशूर मराठा सैनिक

अभी भी युद्ध भूमि में अविचलित खड़े हुए थे और विजयश्री भी उनके ही हाथों में थी।

किन्तु राजकुमार विश्वासराव के बलिदान का समाचार दावाग्नि के समान सम्पूर्ण मराठा सेना में फैलाया, जिससे उनके हृदयों में तीव्र शोक की लहर व्याप्त हो गई। इसके साथ ही साथ एक अन्य महान विपत्ति मराठों के भाग्य गगन पर घहरा उठी। एक दो मास पूर्व लगभग दो हजार मुसलमान सैनिक अब्दाली का साथ छोड़कर भाऊ साहब से आ मिले थे और उन्होंने इन्हें अपनी सेना में सम्मिलित कर लिया था। युद्ध में उन्हें शत्रुओं से भिन्न रूप में पहचानने के लिए उनके सिरों पर भगवी पट्टियाँ बांध दी गई थीं। किन्तु सम्भवतः किसी पूर्व निश्चित योजना के अनुसार ही उन्होंने सहसा अपने सिरों पर बाँधी हुई भगवी पट्टियाँ उतार फेंकी तथा विश्वासराव की मृत्यु की अफवाह और मिथ्या आतंक फैलाते हुए वे पीछे की ओर भाग पड़े, जहाँ शिविरों के रक्षक खड़े हुए थे। उन्होंने आक्रमण करने के उपरान्त लूटमार आरम्भ कर दी। सेना के पृष्ठ भाग में भी पठानों को देखकर मराठा सैनिक हक्के-बक्के रह गए और जो सैनिक अग्रिम पंक्तियों में युद्ध रत थे, उनमें यह आशंका व्याप्त हो गई कि सम्भवतः शत्रुओं ने पीछे की ओर विजय प्राप्त करली है। अतः वे अपनी पंक्तियाँ तोड़कर और मोर्चे छोड़कर पलायन करने लगे।

शत्रुओं को भी इस घटना पर विश्वास नहीं हो पाया था। वे पहले से ही अपने विनाश की घड़ी को सन्निकट समझ रहे थे। मराठे दाएँ-बाएँ तथा मध्य भाग में विजय प्राप्त कर चुके थे। अब्दाली अकेला ही अपनी सेना के भगोड़ों को मौत के घाट उतारता हुआ पूर्व पराजय से बचने के लिए हाथ, पाँव मार रहा था। किन्तु सहसा ही उसे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि सेना के पिछले भाग में स्थित मराठा सैनिक किसी कारणवश भयभीत होकर भागने लग गए हैं। इस भय

का कारण जानने से पूर्व ही उसने मराठा सेना के पृष्ठ भाग पर आक्रमण कर दिया । इस अन्तिम आक्रमण का मराठा सेना सामना कर पाने में पूर्णतः असफल सिद्ध हुई । दाहिने भाग में चल रहा युद्ध भी स्थगित हो गया और मराठा सैनिकों ने पलायन करना आरम्भ कर दिया ।

किन्तु इस प्रकार की विपरीत स्थिति में वीरवर भाऊ साहब अपने विश्वास प्राप्त सैनिकों सहित अपने राष्ट्र की पावन पताका की आन-बान और शान की रक्षार्थ घोर संग्राम करने में लिप्त रहे । अपनी सेनाओं को "युद्ध करो, मारो और काटो" का आदेश देते-देते उनका गला बैठ चुका था । वे अपने सैनिकों का उत्साह बनाये रखने का जी तोड़ प्रयास करने में संलग्न थे । जब बोलते-बोलते उनके कण्ठ से बोल निकल पाना ही दुर्लभ हो गया तो उन्होंने इंगित से ही उन्हें प्रोत्साहित करते रहने का क्रम जारी रखा । वे अपने अश्व को दौड़ाते हुए स्वयं भी यमराज को चुनौती देने लगे । मुकुन्द शिन्दे ने जब भाऊ साहब को निराश होते हुए देखा तो उनके अश्व की लगाम थाम कर उनसे सविनय अनुरोध किया :—

"सेनापति ! आपने जो महान् शौर्य प्रदर्शित किया है वह अपौरुषेय है । हमारे शूरवीर योद्धाओं ने भी मानवोचित वीरता दिखाने में किसी प्रकार की कमी का प्रदर्शन नहीं किया है । किन्तु अब पीछे हट जाने में ही बुद्धिमत्ता है ।"

सेनापति भाऊ ये शब्द सुनते ही क्रोध से चीख उठे :—"क्या कहा ? युद्धभूमि से पीठ दिखा दूँ ? क्या आप यह नहीं देख पा रहे कि हमारी जाति का विश्वास राजकुमार विश्वास रणभूमि में प्राण विसर्जित कर चुका है ? मैंने एक-एक करके सेनापतियों को युद्धभूमि में संग्राम करने का आदेश दिया और उन्होंने युद्धभूमि के इस यज्ञकुण्ड में अपने शरीर समिधा बनाकर समर्पित कर दिये हैं ? अब मेरे लिए यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मैं अपने प्राणों के मोहवश समरभूमि से पलायन कर

दूँ। क्या मैं अपनी जाति और नाना साहब को मुख दिखा सकता हूँ। मारो-मारो और जीवन की अन्तिम घड़ी तक शत्रुओं को यमलोक भेजते रहो, यही मेरा तुम्हारे लिए अन्तिम आदेश है।"

मुकुन्द शिन्दे ने सेनापति के समक्ष मस्तक झुकाया और अपने अश्व से उतर कर वीर सेनापति के इस अन्तिम आदेश का पालन करने के लिए "हर हर महादेव" का रणघोष करता हुआ अन्धाधुन्ध शत्रु सेना पर बिजली बनकर प्रहार करने लगा। नवयुवक जनकोजी, यशवन्तराव पंवार तथा अन्य सब वीरों ने भी शिन्दे का ही अनुकरण किया। और भाऊ साहब ? उन पर तो मानों युद्ध का भूत ही सवार हो चुका था वे स्वयं भी शत्रुओं पर अन्धाधुन्ध टूट पड़े और शत्रुओं को धराशायी करते-करते उस स्थान पर सेना के ठीक मध्य में जा घुसे जहाँ विपुल संग्राम चल रहा था। उन्होंने अपने शब्दों को सत्य सिद्ध कर दिखाया।

वे जीवन की अन्तिम घड़ी तक शत्रु दलों के संहार कार्य में प्रवृत्त रहे तथा अपनी राष्ट्र पताका की रक्षा करते-करते स्वयं भी उन्होंने अपने प्राण अपने राष्ट्र की रक्षार्थ समर्पित कर दिये।

इस महान् वीर के सम्बन्ध में जो अन्तिम समाचार विश्व के समक्ष पहुँचा वह यह था कि पानीपत के भयानक युद्ध में हिन्दू जाति की जो महान क्षति हुई है, उसकी क्षतिपूर्ति भाऊ साहब ने अपनी वीरता तथा कर्त्तव्य परायणता एवं आध्यात्मिक महिमा के द्वारा पूर्ण रूप से कर दी है।

१५

विजेता को भी नष्ट कर देने वाली पराजय

"दंतच्छेदोहि नगानाम् श्लाध्यो गिरिविदारणे।"

(पर्वतों को उखाड़ने के फलस्वरूप यदि हाथियों के दांत ही टूट जाएँ तो वे प्रशंसा के पात्र हैं।)

पानीपत के इस भयंकर युद्ध में मराठों की हानि भी भयंकर ही हुई, क्योंकि जिस क्षण एक ओर वीरवर भाऊ साहब और उनके साथी शौर्य की प्रतिमूर्ति बनकर युद्ध-भूमि में अपनी राष्ट्र पताका की रक्षार्थ अपूर्व संघर्ष में संलग्न थे, उसी समय अन्य सभी मोर्चों से मराठा सैनिकों को पलायन करने पर मजबूर होना पड़ा था। भागते हुए मराठा वीरों का पीछा कर रहे थे असंख्य क्रूर शत्रुओं के दल बादल। सहस्रों नर पुंगव मराठा सैनिकों ने अपने प्राणों को विसर्जित कर रणचण्डी की पिपासा शांत की तो हजारों को विजयी मुसलमानों ने बन्दी बनाने में सफलता प्राप्त कर ली थी। वीर मराठा बन्दियों को शत्रु अपने शिविरों मे ले गये और अगले दिन सूर्यदेव ने जब अपनी लालिमा प्राची दिशा में विस्फारित की तो पानीपत का समरांगण इन वीर बन्दियों के रक्त से लाल हो उठा, जिनका मुसलमानों ने बड़ी क्रूरता तथा निर्ममता सहित बध कर दिया था। लूट-मार कर पठानों ने बहुत बड़ी मात्रा में सम्पत्ति हथिया लेने में भी सफलता प्राप्त कर ली थी। किन्तु वीर मराठों ने अपने शत्रुओं से इसका जो मूल्य प्राप्त किया था वह भी किसी भाँति कम नहीं था। यद्यपि पठान विजयी हो गए किन्तु उन्हें अपनी इस विजय के लिए भी बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा। युद्ध के अन्तिम दिवस भी लगभग ४० हजार यवन सैनिकों को मराठा सैनिकों की रक्त की प्यासी तलवारें चाट गई थीं और वे हमेशा के लिए धरती की गोद में

सो गए थे। गोविन्द पन्त का शीश काट लेने वाले अताई खाँ तथा उस्मान एवं कई अन्य मुस्लिम सेनापतियों को मराठों ने मौत के मुख में फेंक देने में भी सफलता प्राप्त कर ली थी। इस युद्ध में नजीब खाँ भी बुरी तरह घायल हो गया था। मुसलमानों को इस तथ्य की अनुभूति हो गई थी कि उन्होंने जो विजय प्राप्त की है वह शक्ति अथवा कुशल सेनापतित्व के बल पर उन्होंते अर्जित नहीं की अपितु संयोग ने ही विजय माला उनकी गर्दन में डाल दी है।

यद्यपि मराठे इस युद्ध में पराजित हो गए किन्तु उन्होंने शत्रु पर भी इतना प्रबल आघात लगा दिया कि वह भी रणभूमि में विजय प्राप्त करने का सुख-स्वप्न सदा के लिए ही छोड़ देने पर मज़बूर हो गया। यदि पानीपत के समरांगण में मराठे पराजित ही हो गए तो क्या हुआ? यह सत्य है कि इस युद्ध भूमि में वे नष्ट हो गए थे किन्तु महाराष्ट्र की पावन धरती में तो अभी भी उनकी ही विजय पताका फहरा रही थी। हाँ यह सत्य है कि पानीपत के युद्ध क्षेत्र में महाराष्ट्र के प्रत्येक परिवार का ही कोई न कोई व्यक्ति काम आया था, इससे सम्पूर्ण महाराष्ट्र ही इस पराजय से शोकाकुल हो उठा था। किन्तु यह होने पर भी सम्भवतः महाराष्ट्र का एक भी परिवार ऐसा न था कि जिसने अपने राष्ट्र की पावन मर्यादा की पुनर्स्थापना तथा अपने सेनानियों के महान् बलिदान को साफल्य मंडित करने तथा उनके उस पावन कार्य को पूर्ण करने का संकल्प ग्रहण न किया हो जिसके लिए उन वीरों ने अपने जीवन पुष्प समर्पित कर दिए थे। अब्दाली की भावी विजय योजना को धूल में मिलाने के लिए ५०,००० वीर सैनिकों के सहित पेशवा ने नर्मदा नदी को पहले ही लांघ दिया था। अपनी जनता और विशेषतः अपने परिवार पर घहराये हुई विपत्ति के सघन घनों का समाचार सुनकर भी नाना पानीपत की दुर्घटना के शोक में ही ग्रस्त रहने वाले नर वीर नहीं थे। उन्होंने आगे बढ़कर अब्दाली की

विजयवाहिनी के सुख-स्वप्न को धूल में मिला देने की पावन प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली थी। वे इस बात का संकल्प कर चुके थे कि उत्तर-भारत में मराठा सेना की पराजय और उसके फलस्वरूप उत्पन्न हुई निराशा से वे अब्दाली को लाभ उठाने का अवसर कदापि न देंगे। यह भी सत्य है कि वस्तुत: उन्हें व्यक्तिगत रूप से भी पानीपत की पराजय के फलस्वरूप जितना महान् शोक हुआ था वह वस्तुत: असह्य था किन्तु अपनी जाति और अपने सम्बन्धियों का प्रतिशोध लेने की प्रबल आकांक्षा ने उनके मन में इसी दृढ़ संकल्प को जन्म दिया था कि वे अब्दाली को पराजित करने के उपरान्त ही सुख की श्वांस लेंगे। उन्होंने उत्तर-भारत के सभी हिन्दू नरेशों को पत्र लिखे जिसमें उन्हें युद्ध से सर्वथा पृथक् रहकर आत्मघात के निकृष्ट पथ पर चलने के लिए जी-भर कर धिक्कारा था। उन्होंने इन हिन्दू नरेशों का ध्यान शत्रुओं की ओर आकृष्ट करते हुए लिखा था कि पावन हिन्दू धर्म के शत्रु तथा हिन्दुत्व के विरोधी सभी ने मिलकर हिन्दू-स्वातन्त्र्य को समूल रूप से नष्ट कर देने की दुरभिसन्धि का संगठित प्रयास आरम्भ कर दिया है। अत: आप लोगों के लिए भी इस स्थिति में सर्वथा अलग-थलग रहकर चैन की वंशी बजाते रहना कदापि उचित नहीं है। उन्होंने इनसे अनुरोध किया था कि वे हिन्दू धर्म की रक्षा तथा हिन्दुस्थान को स्वतन्त्रता के पावन अभियान में मराठा सैनिकों को योगदान देकर अपने दायित्व को पूर्ण करें। उन्होंने हिन्दू राजाओं को इस पत्र में यह विश्वास भी दिलाया कि पानीपत में हमारी पराजय भले ही हो गई हो किन्तु मैं मुगलों के ध्वंसावशेषों पर एक अन्य शक्तिशाली मुस्लिम साम्राज्य की अब्दाली की आकांक्षा को कदापि सफल नहीं होने दूंगा। उन्होंने लिखा "इसमें चिन्ता की कौनसी बात है कि मेरा युवक राजकुमार विश्वासराव अभिमन्यु के समान शत्रुओं से युद्ध करता-करता स्वर्गगमन कर गया मेरे भाई भाऊ और महावीर जनको जी के विषय में तो कुछ विदित ही नहीं हो सका कि उनकी क्या

गति हुई। उनके अतिरिक्त अन्य कई सेनापति और सिपाही भी युद्धभूमि में खेत रहे। वस्तुतः युद्ध तो युद्ध ही है। विजय और पराजय तो प्रायः संयोग और परम-पिता परमात्मा की इच्छा पर निर्भर रहती है। इस-लिए इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं है। यह सब कुछ हो जाने पर भी हम पुनः सफलता प्राप्ति के लिए रण का आह्वान करेंगे।"

वस्तुतः इस अमर दृढ़ता तथा डट कर रहने के महान् गुण का मराठों ने घोर राष्ट्रीय विपत्ति के क्षणों में भी परित्याग नहीं किया। इन्हीं गुणों के बल पर ही वे एक दिन भारत के स्वामी बनने में सफल हो पाये। अब्दाली भी अपने शत्रुओं को समझने वाला एक व्यक्ति था और उसने अपने शत्रुओं की योग्यता और क्षमता को कम समझने की भूल कदापि नहीं की। उसे पानीपत में विजय प्राप्त करके इस तथ्य का भी आभास हो गया था कि उसके लिए यह उचित है कि वह शीघ्राति-शीघ्र अपने देश वापस चला जाय अन्यथा जो कुछ उसने अर्जित किया है उसे भी अपने हाथों से गँवा देने के लिए ही उसे विवश होना पड़ेगा।

नाना साहब ने पानीपत की युद्धभूमि में बचे हुए सेनापतियों तथा सैनिकों को संगठित करना आरम्भ कर दिया। मल्हारराव होलकर, विठ्ठल शिवदेव, नारोशंकर, जानोजी भौंसले तथा अन्य सेनापति अपनी-अपनी सेनाओं सहित ग्वालियर में एकत्रित होने लगे और उन सब को अपने साथ लेकर नाना साहब ने दिल्ली को चुनौती देने के लिए प्रस्थान कर दिया। मराठों की इन आकांक्षाओं ने शुजा और नजीब खाँ के हृदय भी दहला दिये। उन्हें इस तथ्य की अनुभूति हो गई कि पानीपत के युद्ध में विजय प्राप्ति का यह तात्पर्य कदापि नहीं निकाला जा सकता कि मराठों पर सर्वदा के लिए विजय प्राप्त हो गई है। इसलिए उन्होंने स्वतन्त्र रूप से ही शान्ति-वार्ताएँ प्रारम्भ कर दीं। नाना साहब जो ग्वालियर तक पहुँच चुके थे, के पास भी उन्होंने अनुनय विनयपूर्ण पत्र भेजने आरम्भ कर दिये। शुजा को इस तथ्य की भली-भाँति अनुभूति

हो गई थी कि अब्दाली न तो एकाकी और नहीं अन्य सब की सहायता प्राप्त करके, हिन्दुओं को पराजित कर सकता है। वह यह समझ गया था कि अब मुस्लिम साम्राज्य के लड़खड़ाते हुए भवन की रक्षा कर पाने की कल्पना करना भी निरर्थक है। इसलिए मुस्लिम शिविर में विघटन प्रारम्भ हो गया। प्रत्येक ने अपनी सुरक्षा की विधि ढूँढनी आरम्भ कर दी। अतः शुजा भी अब्दाली का साथ छोड़कर पृथक् हो गया। अब्दाली दिल्ली वापस आया और वहाँ कुछ सप्ताह तक ठहरा। इधर नाना साहब ५०,००० सैनिकों को साथ लिये हुए बड़ी द्रुतगति से दिल्ली की ओर बढ़ते जा रहे थे। जब अब्दाली को यह सूचना प्राप्त हुई कि उसके देश पर फारसियों ने आक्रमण कर दिया तो अब्दाली का ध्यान भी अपने देश की ओर आकृष्ट हुआ और चिन्ताग्रस्त होकर उसने दिल्ली तथा शाही राजनीति को उनके भाग्य पर छोड़ जाना ही उचित समझा तथा वह मार्च १७६१ ई० में नितान्त शीघ्रता सहित सिन्धु सरिता को पार कर प्रस्थान कर गया और अपनी उन आकांक्षाओं में से एक को भी पूर्ण न कर सका जिनको अपने हृदय में संजोकर वह सिन्धु को पार कर भारत में आया था।

भारतीय मुसलमानों द्वारा देश की सीमा के बाहर निवास करने वाले अपने खूँख्वार धर्म बन्धुओं का सहयोग लेकर मुस्लिम साम्राज्य को हिन्दुओं के आक्रमण से बचाने की शृंखला में यह अन्तिम प्रयास था। उन्होंने पानीपत के युद्ध में विजय तो अवश्य प्राप्त कर ली थी किन्तु इस विजय के बाद भी वे महाराष्ट्र मण्डल के रूप में उदित हुई हिन्दू शक्ति का दमन करने अथवा उसके सबल हाथों से मुस्लिम साम्राज्य की ग्रीवा तोड़ देने के लिए किये जा रहे प्रयास को असफल बनाने में सफल न हो सके।

इसके बाद पुनः कभी पठान दिल्ली पर आधिकार न कर सके और उन्होंने शीघ्र ही सिन्धुसरिता को पार करने का उपक्रम भी छोड़ दिया।

पानीपत की विनाश-लीला के साथ-ही-साथ पंजाब में एक अन्य हिन्दू शक्ति का भी उदय हुआ। यह नवोदित शक्ति थी सिख मण्डल की। इन वीर लोगों ने शनैः-शनैः अपनी एक धर्मसत्ता का गठन किया जो अमर हुतात्माओं के पावन रक्त से सिंचित होकर शीघ्र ही एक शक्तिशाली राज्य का स्वरूप ग्रहरा करने में सफल हो गई। अपने दसवें गुरु गोविंदसिंहजी तथा सिंह के समान वीर पुरुष बन्दा के नेतृत्व में ये लोग पंजाब में हिन्दू स्वातन्त्र्य के पावन ध्येय की प्राप्ति हेतु संघर्ष-क्षेत्र में कूद पड़े। इन्होंने अपनी वीरता और धर्मपरायणता का एक नवीन उदाहरण प्रस्तुत कर दिया। दशमेश गुरु गोविन्दसिंह तथा वीर बलिदानी बन्दा सदैव ही हिन्दू शूरवीरों की श्रेणी में पूजनीय तथा वन्दनीय रहेंगे। वीर बन्दा के नेतृत्व में अल्पावधि के लिए तो उन्हें अपनी मातृभूमिका कुछ अंचल स्वतन्त्र करा लेने में सफलता भी प्राप्त हो गई किन्तु पंजाब में मुस्लिम शक्ति पर मर्मान्तिक प्रहार करने का पुनीत कार्य अभी भी मराठों को ही सम्पन्न करना था। उन्हीं के द्वारा पंचनदों की यह पावन भूमि हिन्दू राज्य के अंगभूत करने का महान् दायित्व पूर्ण होना अभी भी अवशिष्ट था। इस दुष्कर कार्य को पूर्ण करने में उन्हें सफलता प्राप्त भी हो गई। यद्यपि वे अपने घरों से बहुत दूर संग्राम कर रहे थे और उन्होंने सिंहों को उनकी मांद में जाकर ही चुनौती देने का साहस प्रदर्शित किया था किन्तु अपने प्रचण्ड शौर्य के बल पर वे महाराज पृथ्वीराज के उपरान्त प्रथम बार अटक के पार तक पावन हिन्दू पताका को पुनः गौरव सहित फहराने के पुनीत कार्य को पूर्ण करने में सफल हो गये। जिन दिनों मराठे मुसलमानों तथा उनके नादिरशाह एवं अब्दाली सरीखे सहयोगियों द्वारा किये जाने वाले मुस्लिम साम्राज्य की पुनर्स्थापना के प्रयास को असफल बना देने के कार्य में लगे हुए थे उन्हीं दिनों सिखों को अपने-आपको एक संगठित शक्ति के रूप में खड़ा करने का सुअवसर भी प्राप्त हो रहा था। इस नवीन हिन्दू शक्ति ने अब्दाली द्वारा पानीपत में

भयंकर क्षति उठाने के उपरान्त देखे गये अल्पकालिक सुख स्वप्न को भी अंगार लगा दिया था और पंजाब से उनके आधिपत्य की बेल ही उन्होंने काट दी थी। पानीपत के युद्ध में पराजय से पंजाब महाराष्ट्र के हिन्दुओं के हाथों से तो निकल गया था किन्तु वहाँ मुसलमान बहुत समय तक अपनी सत्ता को अक्षुण्ण नहीं रख सके। अब्दाली के पीठ फेरते ही पंजाब के इन वीर हिन्दुओं ने उसके मोर्चों पर जोरदार आक्रमण कर दिये। अब्दाली यद्यपि एक बार पुनः सिन्धु नदी को पार करके आया किन्तु इस पर भी इन वीरों ने अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने में सफलता प्राप्त कर ही ली। शीघ्र ही मराठे भी पुन: दिल्ली में प्रविष्ट हो गये। एक बार पुन: वे सम्पूर्ण हिन्दुस्थान की सर्वोच्च सत्ता के अधिष्ठाता के रूप में खड़े हो गये। यद्यपि सिखों को अपने राज्य की सीमा अपने प्रदेश की सीमाओं से आगे बढ़ा पाने में सफलता प्राप्त न हो सकी और दिल्ली तक भी वे न पहुँच सके किन्तु उन्होंने इतनी शक्ति तो अवश्य ही अर्जित कर ली थी कि वे भारत कीं सीमाओं को पार कर आने वाले शत्रुओं का मुँहतोड़ प्रतिरोध करने में सफल हो गये तथा उन्होंने अपनी स्वतंत्रता की रक्षा का पावन व्रत भी पूर्णत: निभाया। इसके उपरान्त लोभी और हठी पठानों तथा तुर्कों को सिन्धु नदी को पार कर पुनः हिन्दुस्थान पर आक्रमण करने का साहस ही न हो सका। इसके विपरीत सिखों ने ही सिन्धु नदी को पार कर अपनी राष्ट्रीय पताका को काबुल नदी के तट तक फहराकर शत्रुओं को अपने समक्ष नाक रगड़ने पर विवश बना दिया। सिखों के आतंक से मुसलमान इतने अधिक भयाक्रांत हो गए कि पठान महिलाएँ सिखों का नाम लेकर ही अपने दूधमुँहे और अबोध शिशुओं तक को चुप कराने लगीं। सिखों का नाम सुनते ही पठान परिवारों में एक प्रकार का आतंक व्याप्त होने लगा था।

इस भाँति यदि अखिल हिन्दु दृष्टि से विचार किया जाय तो मुसलमान अपना उद्देशपूर्ण कर पाने में पूर्णतः असफल हो गये थे। उन्होंने

पानीपत की समरभूमि में तो विजय प्राप्ति कर ली थी किन्तु इस विजय के साथ-ही-साथ वे हिन्दू पद-पादशाही की स्थापनार्थ संघर्षरत वीरों को पराजित करने में असफल हो गये थे। पानीपत के साथ-ही-साथ उन्हें अटक से लेकर सागर की उत्ताल तरंगों तक फैली हुई हिन्दुस्थान की पावन भूमि को हिन्दुओं के अधीन छोड़ कर हट जाना पड़ा था।

किन्तु जब हिन्दू उत्तर भारत में मुसलमानों के विरुद्ध अपना महान् राष्ट्रीय संग्राम चला रहे थे और संघर्ष में रत थे, एक अन्य शक्ति भी शनैः-शनैः बड़ी कुटिलता सहित लड़ाकों की श्रेणी में सम्मिलित होने के लिए सक्रिय रहकर इस भयानक संघर्ष को ताक रही थी। वस्तुतः इस तीसरी शक्ति को ही पानीपत की युद्ध भूमि में मराठों की पराजय पर सर्वाधिक आल्हाद और हर्ष की अनुभूति हुई। क्योंकि पानीपत की युद्ध भूमि में संघर्ष करने वाले दोनों ही लड़ाकों को भयानक क्षति उठानी पड़ी थी। इससे वे दोनों ही शक्तिहीन हो गए थे। इसीलिए मराठों को बंगाल पर आक्रमण करने के अपने निश्चय को किसी अन्य अवसर के लिए स्थगित कर देने पर विवश होना पड़ा। इस नवीन शक्ति का जन्म प्लासी के मैदानों में हाल ही में हुआ था और यह शक्ति थी अंग्रेजों की शक्ति जो अभी तक अल्पविकसित ही थी। वस्तुतः पानीपत के युद्ध में संघर्ष करने वाले दोनों पक्षों में से एक भी वास्तविक विजेता सिद्ध न हो पाया। विजय हुई तो उस धूर्त षड्यन्त्रकारी अंग्रेज शक्ति की जो इस संघर्ष को बड़ी कुटिलता सहित दूर बैठे ताक रहे थे और दोनों की दुर्बलताओं का लाभ उठाने के लिए सक्रिय थी।

यद्यपि यह सत्य है कि पानीपत के युद्ध ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की जीवन अवधि कुछ काल के लिए और भी बढ़ा दी थी तथा मराठे इस बात के लिए भी विवश हो गए थे कि वे अंग्रेजों से अपना हिसाब चुकाने के कार्य को अभी कुछ काल के लिए स्थगित रखें। तथापि यह विचार सर्वथा कपोल कल्पना के तुल्य ही होगा कि इस युद्ध के फल-

स्वरूप अंग्रेज कोई स्थायी लाभ प्राप्त कर पाने में सफल हो गए थे। क्योंकि हम देखते हैं कि मराठों ने शीघ्र ही पानीपत की क्षति को पूर्ण कर लिया। यदि मराठों में गृह-कलह का आरम्भ न होता और उनके वीर सेनानियों तथा नेताओं का असामयिक निधन न होता तो पानीपत की पराजय के बावजूद भी उन्होंने अंग्रेजों को भी पराजित कर देने में पूर्ण सफलता अर्जित कर ली होती। वस्तुतः अंग्रेजों की सफलता का कारण मराठों की पानीपत में हुई पराजय नहीं अपितु उनमें बाद में भड़की गृह-कलह ही थी!

जैसा कि मेजर इवान्स बाल ने लिखा है, "वस्तुतः पानीपत की पराजय भी मराठों के लिए विजय और उनके शौर्य की अभिव्यक्ति ही सिद्ध हुई। मराठे हिन्दुस्थान के हित संवर्धन के लिए ही लड़े, यद्यपि वे पराजित हो गए किन्तु विजेता पठानों को भी अपने देश वापस जाने पर विवश होना पड़ा। इसके बाद उन्होंने कभी भारत के कार्यों में हस्तक्षेप करने का प्रयास नहीं किया।"

ज्यों ही अब्दाली के वापस लौटने का समाचार तथा शुजा और नज़ीब ख़ाँ के अनुनय विनयपूर्ण पत्र मराठा शिविर में पहुँचे उन्हें अपार हर्ष की अनुभूति हुई। क्योंकि उन्होंने देखा कि घटनाएँ उनके पक्ष में मोड़ लेती जा रही हैं। पानीपत के युद्ध के दो मास के उपरान्त ही नारो पन्त ने लिखा "ईश्वर का धन्यवाद है : मराठे अथवा हिंगने के शब्दों में कहा जाए तो 'हरी भक्तों' की सेनाएँ अभी भी हिन्द की स्वामिनी हैं।" मराठों के महान सेनापति का यह वाक्य एक के पश्चात् दूसरे महाराष्ट्रीय जन की जबान से निकलने लगा और महाराष्ट्र के जन-जन के मुख से यही स्वर-गूँज उठा कि "इसमें चिन्ता की क्या बात है? आखिर युद्ध तो युद्ध ही है। हम अब पुनः प्रयास करेंगे।"

इसी बीच नाना साहब का स्वास्थ्य भी शनैः-शनैः बिगड़ता ही जा रहा था। पिछले लगभग दो वर्ष से उनका शरीर शिथिल-सा होता जा

रहा था और तभी उन्हें पानीपत का दुखपूर्ण समाचार भी प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने व्यक्तिगत दुख को भी एक वीर पुरुष की भाँति ही छिपाकर अपनी जाति को उत्साहित करने और प्रेरणा देने का प्रयास किया, जिससे कि पराजय का प्रतिशोध लेने में सफलता प्राप्त कर लेने में लनका राष्ट्र सफल हो जाए। किन्तु उनके हृदय में अपने प्रिय विश्वास, भाऊ तथा अन्य वीर सैनिकों के दुखद निधन का शूल इतनी गहराई से गड़ गया था कि उन्हें कोई भी वस्तु सान्त्वना प्रदान करने में सफल न हो सकती थी। उनके गिरते हुए स्वास्थ्य को चिन्ताओं के इस महासागर के थपेड़ों ने और भी अधिक जर्जरित कर दिया और अन्ततः केवल ४१ वर्ष की आयु में ही यह महान् सेनानी २३ जून १७६१ ई० को ही सदैव के लिए नैन मूँद गया। इस महान् वीर के निधन से सम्पूर्ण महाराष्ट्र मण्डल शोक के महासागर में डूब गया।

इस महान् वीर पुरुष के चरित्र और योग्यता का गुणगान व्यर्थ ही है। वस्तुतः उसके कृत्यों ने ही उसकी पौरुष गाथा को जितने गरिमापूर्ण ढंग से व्यक्त किया है, शब्दों में उसका वर्णन कर पाना सर्वथा असम्भव ही है। उनका शासन प्रबन्ध तथा न्याय व्यवस्था भी इतनी उत्कृष्ट थी कि आज भी मराठा जाति उनका सम्मान-सहित स्मरण करती है। वस्तुतः छत्रपति शिवाजी ने हिन्दू पद-पादशाही की स्थापना का जो महान स्वप्न देखा था उसको क्रियात्मक रूप देने का कार्य इसी नर पुँगव के लिए सुरक्षित था। इस पराक्रमी पुरुष ने समग्र हिन्दुस्थान को ही मुस्लिम सत्ता के अपावन पंजों से मुक्त करा देने का महान कार्य सम्पन्न किया। महाराज पृथ्वीराज की पराजय के सात सौ वर्ष के उपरान्त इसी महान मनीषी के नेतृत्व में हिन्दू जाति ने पुनः अपने को परम वैभव के पद पर अधिष्ठित होते हुए देखा। वस्तुतः ये महामानव अपने युग में विश्व का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति नहीं तो उनमें से एक तो अवश्य ही था।

बालाजी उपाख्य नाना साहब का यह असायिक निधन मराठों के लिए पानीपत की पराजय से बड़ी हानि नहीं तो उससे किसी अंश में कम भी न थी। ये दो क्रूर और घोर आघात राष्ट्र को एक ही साथ लगे। इसलिए इस भयानक क्षति की पूर्ति में कुछ समय लगना तो नितान्त स्वाभाविक ही था।

१६

धर्मवीर माधवराव

'भुबमधिपति बलिवस्थोप्यलं परिरक्षितुम्
न खलु वयासा जात्येवायं स्वकार्य स्नहोभरः।'

(बाल्यावस्था होने पर भी यह व्यक्ति अधिपति के रूप में राज्य को संभाल लेने में सक्षम है। यद्यपि इसकी अवस्था कम ही है किन्तु यह स्वभाव से ही अपने राज्य का कार्यभार वहन की योग्यता रखता है।)

नानासाहब के निधन के उपरान्त मराठों को नेता विहीन समझकर तथा पानीपत के युद्ध में हुई पराजय के कारण उन्हें हताश मानते हुए मराठा मण्डल के खण्ड-खण्डित हो जाने की कल्पना करने वाले शत्रुओं ने सिर उठाना प्रारम्भ कर दिया और वे महाराष्ट्र-मण्डल पर चारों ओर से चढ़ दौड़े। हैदर ने भी इस अवसर को मैसूर राज्य को हड़प लेने के लिए स्वर्ण सन्धि समझा और उसने मैसूर के हिन्दू शासकों को पदच्युत कर वहाँ अपना अधिकार जमा लिया। उसने दक्षिण से मराठों के क्षेत्र पर भी आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। हैदराबाद में निजाम भी उद्‌गिर की पराजय का प्रतिशोध लेने की तैयारी में जुट गया। अंग्रेज भी अधिकाधिक लूट-खसोट करने के लिए सक्रिय हो उठे। उत्तर भारत में मुसलमान ही नहीं अपितु राजपूत, जाट तथा अन्य राजा भी मराठों से द्रोह करने लगे। इनमें से प्रत्येक की आकांक्षा अपने राज्य को अधिकाधिक सुदृढ़ बनाने की थी। जहाँ एक ओर मराठों के शत्रु उन्हें चारों ओर से घेर कर नष्ट कर देने की दुरभिसन्धि में संलग्न थे और हिन्दू स्वातन्त्र्य के पावन उद्देश्य को धूल-धूसरित कर देने के लिए कटि-बद्ध हो गये थे वहीं रघुनाथराव भी अपनी कुटिल आकांक्षाओं की पूर्ति

हेतु महाराष्ट्र मण्डल में गृहयुद्ध की ज्वाला को भड़काकर उसमें फूट डालकर अपने नियन्त्रण में लाने की कुटिल चालें चलने लग गया था।

ऐसी स्थिति में राज्य का गुरुतर उत्तरदायित्व तथा नेतृत्व का भार बालाजी के द्वितीय पुत्र माधवराव के कन्धों पर पड़ा। उस समय उसकी आयु केवल १७ वर्ष की ही थी। परन्तु हिन्दू जाति के सौभाग्य से उसमें अपूर्व प्रतिभा, सम्मोहन शक्ति और गुण विद्यमान थे। इसके साथ ही उनके हृदय में हिन्दू पद-पादशाही की स्थापना के उस आदर्श के प्रति भी उत्कट लगन और प्रचण्ड उत्साह विद्यमान था जिसके लिए उसके वीर पूर्वजों ने अपना पावन बलिदान दिया था। उसके कुशल नेतृत्व में उसकी जाति ने उन सबकी चुनौती का मुंह तोड़ उत्तर दिया जो उसे मिटाने के सुख-स्वप्न ले रहे थे। वीर माधवराव के नेतृत्व में महाराष्ट्र पुनः भारत की शीर्षस्थ राजनैतिक शक्ति और सत्ता के रूप में उठ खड़ा हुआ।

सर्व प्रथम निजाम ने अपने भाग्य की परीक्षा की और उसने मराठों की शक्ति को मृतप्राय समझकर सीधे पूना की ओर ही चढ़ाई कर दी। मराठों के हिन्दू धर्म रक्षक होने की घोषणा को निस्सार सिद्ध करने के के लिए निजाम ने टोंक के हिन्दू मन्दिरों को भी विध्वंस कर दिया। देवालय उसके क्रूर हाथों से अपमानित होने लगे। किन्तु उसे यह देखकर भारी निराशा हुई कि सभी क्षेत्रों से मराठे अपनी राजधानी की रक्षार्थ एकत्रित होकर उसके प्रतिरोध के लिए उठ खडे हुए हैं। ८० हजार सैनिकों पर आधारित सुविशाल मराठा सेना ने निजाम को उराली में पराजित कर उसके साहस के घोड़ों को दुम दबाकर भागने पर विवश कर दिया और वह वापिस लौट गया। किन्तु अपनी क्षुद्र मनोवृत्ति के के कारण रघुनाथराव ने अपने भतीजे माधवराव के विरुद्ध ही महाराष्ट्र मण्डल में फूट का बीज बोकर उन्हें दो गुटों में विभाजित कर दिया। उसी समय निजाम ने पुनः एक प्रचण्ड सेना सहित मराठों को कुचल

डालने की आकांक्षा से उन पर आक्रमण कर दिया। इस चढ़ाई में भौंसले तथा कतिपय अन्य सरदारों ने तो प्रकट रूप से ही निजाम का पक्ष लिया और उसकी सहायता की। किन्तु जैसा कि मराठा इतिहास में प्रायः होता आया है कि जब भी उनमें स्वार्थपरता और क्षुद्र संकीर्णता की भावनाओं के कारण फूट पड़ी और उनकी राष्ट्रीय एकता और गौरव पर आघात लगा तभी सहसा उनमें राष्ट्र-भावना का पुनर्जागरण भी होता रहा है। राष्ट्र प्रेम की इस पुनीत धारा में वे राष्ट्रद्रोही भावनाएँ स्वतः ही मिटती रही हैं और महाराष्ट्र-मण्डल के गौरव और जाति के सम्मान की रक्षार्थ मराठे पुनः एकता के पावन सूत्र में आबद्ध होकर अपनी भूलों का परिमार्जन भी करते रहे हैं। यह गुण मराठों से सुदीर्घ काल तक विद्यमान रहा। ऐसा ही उस समय भी हुआ। जो मराठा सरदार गृह-युद्ध के फलस्वरूप अपने शिविर से पृथक् होकर पेशवा के विरुद्ध निजाम को सहायता दे रहे थे वे इस संक्रमण बेला में पुनः मराठा शिविर में ही आ मिले। इस नवीन घटना-क्रम से निजाम बड़ी दुविधा में फँस गया।

१७६३ ई० में राक्षसभुवन में घोर संग्राम हुआ और मराठों की संयुक्त-शक्ति ने मुस्लिम-शक्ति को पुनः पराजित कर आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। निजाम का दीवान भी इस युद्ध की भेंट चढ़ा दिया गया। उसके २२ सरदार इस युद्ध में घायल हो गये। उसकी बन्दूक तथा अन्य सैन्य-सामग्री भी मराठों के हाथ आ गई। जो निजाम उद्गिर की पराजय का प्रतिकार लेने तथा पूना में कार-भारी नियुक्त करने की कल्पना को अपने मन में बसाकर मराठों पर आक्रमण करने आया था वह स्वयं ही अपमानित तो हुआ ही साथ ही उसे मराठों को अपने राज्य का एक भाग दे देना पड़ा, जिसकी आय लगभग ८२ लाख रुपये थी। यह था वह प्रथम युद्ध जिसमें युवक पेशवा माधवराव ने अपना प्रचण्ड रण-कौशल दिखाकर यह सिद्ध कर दिया था कि वह वस्तुतः एक

ऐसा नेता है जो अपने राष्ट्र का सब प्रकार की विपत्तियों और बाधाओं में नेतृत्व करते हुए उन पर विजय प्राप्त कर लेने में पूर्णतः समर्थ है। इस भाँति महाराष्ट्र-मण्डल में अपने इस नवयुवक पेशवा के प्रति विश्वास की भावना भी सुदृढ़ हो गई।

हैदराबाद के निजाम को इस तथ्य की अनुभूति करा दी गई मराठे पानीपत के युद्ध में पराजित भले ही हो गये हों किन्तु उनकी शक्ति समाप्त नहीं हुई है। माधवराव ने साहसी सैनिक हैदरअली को दण्डित करने का संकल्प कर प्रस्थान कर दिया। पानीपतके युद्ध के कारण उपलब्ध अवसर का लाभ उठाकर हैदरअली ने मैसूर के हिन्दू राजवंश का विध्वंस कर उसके स्थान पर अपनी स्वतन्त्र-सत्ता स्थापित कर ली थी। इतना ही नहीं अपितु उसने मराठों के कृष्णा नदी तक के क्षेत्र पर अधिकार जमा लिया था। माधवराव ने निजाम के समान ही हैदरअली को भी पाठ पढ़ाने का निश्चय कर लिया। इसी निश्चय के साथ १७६४ ई० में उसने हैदरअली के विरुद्ध धावा बोल दिया और धारवाड़ तक के क्षेत्र पर मराठों ने पुनः अपनी विजय पताका फहरा दी। घोरपड़े, विंचूरकर, पटबर्धन तथा अन्य मराठा सेनापतियों ने हैदर को चारों ओर से घेर लिया। यद्यपि हैदर एक कुशल सेनापति तथा वीर सिपाही था किन्तु रत्तीहाली के रण-स्थल में जी-तोड़ संघर्ष करने के उपरान्त उसे इस सत्य का परिचय मिल गया कि उसके लिए अपने शत्रुओं के विरुद्ध बहुत समय तक संघर्ष कर पाना असम्भव ही है। अन्ततः उसने नितान्त चतुराई सहित पीछे हटने का उपक्रम किया किन्तु उसे बिदनर में माधवराव द्वारा घेर ही लिया गया। बिदनूर के इस भयानक संग्राम में मुसलमान सेना को भारी पराजय का मुख देखना पड़ा। माधवराव इस आक्रमण का स्वयं ही संचालन कर रहे थे। उन्होंने अपने प्रचण्ड शौर्य तथा रण-कौशल का ऐसा परिचय दिया कि हैदरअली की सेना पूर्णतः नष्ट-भ्रष्ट हो गई। इतना ही नहीं अपितु हैदरअली के जिन सैनिकों को फ्रांसीसियों

ने युद्ध कला में विशेष रूप से प्रशिक्षित किया था वे भी बुरी तरह पराजित हुए और विजयी मराठों ने सहस्रों घोड़ों, ऊँटों तथा तोपों पर अपना अधिकार जमा लिया। अब हैदरअली को प्रतिरोध करना निरर्थक प्रतीत हुआ। हैदरअली ने सन्धि के लिए मराठों से प्रार्थना की तथा उनके द्वारा जीता गया सम्पूर्ण क्षेत्र तो उन्हें दिया ही साथ ही उसने चौथ के बकाया के रूप में भी मराठों को २२ लाख रुपया भी चुकाया।

यदि माधवराव की इच्छा के अनुकूल कार्य हुआ होता तो संभवतः वे इन शर्तों के पश्चात् भी हैदरअली को न छोड़ते किन्तु रघुनाथराव की नीचता और लालच मराठों के लिए हैदर और नजीबखाँ की अपेक्षा भी अधिक हानिकारक सिद्ध हुआ। जिस समय युवक पेशवा माधवराव हिन्दू शक्ति के शत्रुओं के विरुद्ध अपना विजय अभियान चला रहे थे उसी समय कई बार उन्हें रघुनाथराव के विद्रोह का भी सामना करना पड़ा। कोई उपाय भी रघुनाथराव की सत्ता की भूख का शमन न कर सका यद्यपि सत्ता हथियाने के लिए वह हाथ-पैर मारने में लगा हुआ था। उसको सँभालने में वह पूर्णतः अयोग्य था। उसने अपने भतीजे पेशवा माधवराव के विरुद्ध प्रकट रूप से ही अहिन्दू राज्यों के साथ हाथ मिलाया। इस प्रकार वह अपनी नीचता का स्पष्ट परिचय देने में भी किसी भाँति संकोच का अनुभव नहीं करता था। जब भी कभी वह पराजित हुआ तथा बन्दी बना लिया गया उसने अन्य अनेकों भावुकतावादियों के तुल्य ही भोजन करना त्याग दिया तथा अनशन करके प्राण त्याग देने की भी धमकियाँ दीं। मुगल साम्राज्य के ऐसे वितण्डावाद करने वाले दावेदार के जीवन का अन्त विष की एक बूँद, अथवा मुस्कुराते हुए ही तीक्ष्ण कटार का एक प्रहार या सत्तारूढ़ पेशवा के दो अश्रु गिराते-गिराते ही किया जा सकता था। किन्तु युवक ब्राह्मण राजकुमार उदारता और सज्जनता की सजीव प्रतिमा था। उसने अपने चाचा द्वारा राज्य

के बँटवारे के प्रस्ताव पर समर्पण कर दिया और उसे एक पत्र भी लिख दिया। पत्र में माधवराव ने अपने चाचा को लिखा था।

"थोरले श्रीमंतानी बोली घातलीकी, निमें राज्य वाटून हमावें, धाकटे श्रीमंतांनी उत्तरकेले कीं, राज्य कोणाचें ? आम्ही वारणार कोण ! आसच्यानें वाट वत नाहीं, सर्वराज्य तुमचेंच आहे, आम्हो चार बारगोर ताने तुम्हाजवल असो, सर्व तुम्ही करणें......

(राव सोहबांनीं लिहिलें) ही दौलत मोठी, या दौलतेत सर्वलहान-मोठ्यानीं अनुकूल असून जेणें करन न दौलत नीर होम तेंच सर्वानीं करावें, तें एकीकड़े राहून दौलत दोहों जागां करावीं हेंच तीर्थस्वरुपाचें मानस, त्यास आम्हारु कांही करणें नाहीं, कारण कीं, ही दौलत पहिल्या-पासून एकानींच करावी, वरकउचा भारकारजारावर असावा याप्रमाणे चालत आलेंअसतां, आतां वडिलांचे मानस की, आम्हारु गुजरात द्यावी व सर्व किल्लयांचा बंदोबस्त आम्हीचं करुं म्हणतात त्यास आम्हांस काही करणे नाही, कां की, अशानें ही दौलत चालणार नाही व दोहो जागां दौलतीचे वाटे केल्यानें लौकिकहि वाईट, यास्तव सर्व वडिलानींच करावे, जाम्ही स्वस्थ भलते जागा राहू, आपल्या आपल्यांत भांडून दौलत बुडविली हा लौकिक कशाला पाहिजे ? सर्व त्यांनीचं करावें हे फार चांगलें, आम्हीं स्वस्थ राहूं :'

—माधवराव चरित्र—सहस्त्रवुद्धे पृ० १६३।

"चाचाजी आप राज्य का बँटवारा करने के लिए कह रहे हैं, किन्तु विचार कीजिए कि इस महान् राज्य का स्वामी कौन है ? क्या यह राज्य किसी की व्यक्तिगत सम्पदा है ? सहस्रों शूरवीर तथा राजनीति धुरन्धरों ने इसे इतना महान् और प्रभवीस्वरूप प्रदान करने हेतु प्राण-प्रण सहित प्रयास किया है। राज्य का संचालन-सूत्र सदैव ही एक पथ-प्रदर्शक के हाथों में रहना अपेक्षित है। परन्तु यदि इसका विभाजन कर इसे खण्ड खण्डित कर दिया जाय तो क्या इस विभाजन के बाद बनने वाले राज्य

अपने प्रभाव तथा शक्ति को इस भाँति अक्षुण बनाये रख सकेंगे ? मेरा विचार है कि ऐसा होना पूर्णतः असम्भव है। इसको विभाजित करके शक्तिहीन बनाने के स्थान पर मैं तो यही अधिक श्रेष्ठ बात समझता हूँ कि अपने आप इसके कार्य से पूर्णतः पृथक् हो जाऊँ और आपको निर्विरोध ही इस राष्ट्रमण्डल का नेतृत्व सौंप दूं। मैं अधिनायक होने के अपने दावे को पूर्णतः तिलांजलि देकर आपकी सेना का एक सामान्य सैनिक बना रहने पर भी गौरव का ही अनुभव करूँगा। जो कुछ भी आप मेरे जीवन निर्वाह के लिए मुझे प्रदान करेंगे, मैं उसे ही प्राप्त कर सन्तोष और सुख का अनुभव करूंगा। परन्तु मैं भावी सन्तति के समक्ष अपनी गणना एक ऐसे व्यक्ति के रूप में कराना नहीं चाहता जिसके सम्बन्ध में यह कहा जाय कि उसने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए महाराष्ट्र साम्राज्य का बलिदान कर दिया।''

किन्तु यदि राघोबा महाराष्ट्र का नेता बन भी जाता तब भी मराठा जाति ऐसे अयोग्य और चंचल प्रकृति के व्यक्ति को कदापि सहन न करती जबकि वीर, न्याय-परायण और धर्मवीर पेशवा उनके मध्य विद्यमान था।

१७

पानीपत का प्रतिशोध

"जो मराठों के साथ भलाई का व्यवहार करता है, मराठे उसके प्रति सदैव कृतज्ञता दिखाते हैं किन्तु अपने शत्रुओं के प्रति वे निर्दयता का व्यवहार करने में भी संकोच नहीं करते। यदि उनको अपमानित किया जाता है तो वे अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए अपने जीवन को भी दाँव पर लगा देते हैं।"

—ह्वेन साँग

पारिवारिक कलह, घातक गृह-युद्ध अथवा हैदर एवं टीपू सरीखे नवीन तथा खतरनाक शत्रुओं का उदय इनमें से कोई तथ्य भी मराठों को उनके इस पावन कर्त्तव्य से च्युत न कर सका कि वे पानीपत की पराजय का प्रतिशोध लें तथा उन्हें सब कठोर दण्ड दें जिन्होंने उनके विरुद्ध पग उठाने का दुस्साहस किया था। नाना साहब के निधन के उपरान्त होल्कर तथा शिन्दे ही दो ऐसे प्रमुख मराठा सरदार थे जो उत्तर-भारत में यथाशक्ति अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा करने के पावन दायित्व को कुशलता सहित वहन करते रहे। जब राघोबा की कुटिल योजनाओं और षड्यन्त्रों एवं घरेलू कठिनाइयों पर नियन्त्रण पा लिया गया तो १७६९ ई० में माधवराव ने विपक्षियों को कठोरतम दण्ड देने की दृष्टि से बिनीवाले के नेतृत्व में एक सेना उत्तर-भारत भेज दी। उत्तर-भारत के सभी मराठा सेनापतियों को यह आदेश दिया गया कि वे इस सेना के साथ सम्मिलित हो जाएँ। हिन्दू-साम्राज्य के प्रभुत्व और गौरव की पुनर्स्थापना एवं १७६१ ई० के पश्चात् जिन भारतीय राज्यों ने मराठा शक्ति के विनाश की दुरभिसन्धियाँ कर उद्योग और प्रयास किये थे, उन सब की शक्तियों को पराभूत करने हेतु शक्तिशाली मराठा सेना नर्वदा नदी को पार कर बुन्देलखण्ड पहुँच गई। वहाँ पहुँच कर इस

सेना ने छोटे-छोटे उन विद्रोहियों का दमन किया जो मराठा शक्ति के अस्तित्व को चुनौती दे रहे थे। इनके अतिरिक्त हठी राजाओं तथा सामन्तों को भी दण्डित किया गया। इस प्रकार बिना किसी विशेष अवरोध अथवा संघर्ष के ही यह सेना चम्बल के क्षेत्र तक जा पहुँची। यहाँ जाटों ने मराठा सेना को संघर्ष के लिए चुनौती दी और आगरा आदि उन दुर्गों को वापस करना अस्वीकार कर दिया जिन पर उन्होंने पानीपत की पराजय के उपरान्त अधिकार जमा लिया था। भरतपुर के निकट तुमुल संग्राम हुआ। जाटों ने भी अपनी रणशूरता का युद्धभूमि में उत्कृष्ट परिचय दिया किन्तु अन्ततः वे मराठों के हाथों पराजित हो गये। युद्ध भूमि में खेत रहे अपने सहस्रों वीर साथियों, अश्वों तथा हाथियों और युद्ध-सामग्री को छोड़कर उन्हें पलायन करने पर विवश होना पड़ा। इस सम्पूर्ण सामग्री पर मराठों ने आधिपत्य कर लिया। जाटों के नेता नवाबसिंह ने मराठों से सन्धि कर ली। उसने उन्हें वह सम्पूर्ण क्षेत्र पुनः सौंप दिया जिस पर मराठों की पानीपत में हुई पराजय के उपरान्त उन्होंने अधिकार कर लिया था। उसने उपहार-स्वरूप भी मराठों को ६५ लाख रुपए की राशि समर्पित की। अब मराठा सेना दिल्ली के द्वार पर दस्तक देने के लिए आगे बढ़ी। उन्हें आशा थी कि उन्हें वहाँ अपने शत्रुओं से दो-दो हाथ करने का अवसर उपलब्ध होगा परन्तु धूर्त और वृद्ध नजीबखाँ ने नितान्त दीनता सहित मराठों के शिविर में आकर उनसे प्राणों की भिक्षा देने की याचना की क्योंकि वह मराठों द्वारा प्राप्त की गई नवीन विजयों का समाचार प्राप्त कर चुका था। इतना ही नहीं वह सब प्रकार से समर्पण की भावना व्यक्त कर रहा था। उसने दोआबा में लूटी गई सम्पूर्ण सम्पत्ति भी मराठों के चरणों में प्रस्तुत कर दी। इस प्रकार मराठा सेना के दिल्ली तक पहुँचने का मार्ग निष्कंटक हो गया। वस्तुतः नजीबखाँ द्वारा प्रदर्शित की जाने वाली इस दीनता और हीनता का एक ही उद्देश्य था और वह था येनकेन प्रकारेण अपने

प्राणों की रक्षा, जिससे कि समय आने पर वह पुनः षड्यन्त्र कर सके। किन्तु पानीपत की युद्ध रचना के उत्तरदायी इस धूर्त को इस बार मराठों की प्रतिहिंसा में जलने से कोई भी शक्ति बचा पाने में असमर्थ थी, किन्तु मृत्यु ने बीच में ही आकर पानीपत में पराजित होने वाले इन मराठों की प्रतिहिंसा की अग्नि में दग्ध होकर दम तोड़ने से उसकी रक्षा कर ही ली।

मराठा सेना दिल्ली में प्रविष्ट हो गई। किन्तु कभी अकबर और औरंगजेब की राजधानी रहने वाली इस दिल्ली में आज उनका प्रतिरोध करने का साहस भी किसी में न हो रहा था। अन्तिम युद्ध ने अहमदशाह अब्दाली के होश भी ठिकाने लगा दिये थे और उसने पेशवा से पत्र-व्यवहार करने के अतिरिक्त एक दूत भी पूना रवाना कर दिया। पर्याप्त समय तक विचार-विमर्श के उपरान्त मराठों और अब्दाली में एक सन्धि सम्पन्न हुई। इस सन्धि के अनुसार अब्दाली ने यह स्वीकार किया कि वह भारत की शाही राजनीति में किसी प्रकार से भी हस्तक्षेप करने का दुस्साहस न करेगा तथा उसे मराठों को भारतीय साम्राज्य का संरक्षक स्वीकार करने पर विवश होना पड़ा। इस भाँति पानीपत के विजेता ने स्वयं ही अपनी विजय और इन आकांक्षाओं की निस्सारता स्वीकार कर ली जिनसे प्रेरित होकर उसने संग्राम किया था। उसे भी हिन्दुओं को ही भारत की सर्वश्रेष्ठ एवं महान् शक्ति के रूप में मान्यता देनी पड़ी। इस प्रकार भारत की शाही राजनीति से अफगान तत्त्वों का पूर्णतः उन्मूलन कर तथा दिल्ली पर अपनी पावन पताका फहराने के उपरान्त मराठों ने पठानों और रुहेलों को भी पूर्णतः छिन्न-भिन्न कर दिया। वास्तव में भारत में थे दो ही मुस्लिम शक्ति के प्रधान केन्द्र थे जो अभी भी भारत के शासन का नियन्त्रण हिन्दुओं के हाथों में न जाने देने की चेष्टाओं में संलग्न थे। किन्तु आज उनकी परीक्षा का दिवस भी आ गया था। पानीपत के युद्ध में पठानों और रुहेलों ने मराठों के साथ जो घृणित और अपमानजनक व्यवहार किया था, जघन्य अत्याचारों की

झड़ी लगाई थी, उनका स्मरण कर ही तो उन्होंने प्रतिशोध की प्रतिज्ञा ली थी। इन अपमान और अत्याचारों ने जिस प्रतिहिंसा की भावना को जन्म दिया था वह तो नष्ट होकर भले ही मिट पाती, 'भ्रम में डालकर उन भावनाओं का शमन किया जाना सर्वथा असंभव था। इस तथ्य से पठान और रुहेले दोनों ही भली-भाँति परिचित थे। इसलिए इन दोनों शक्तियों ने अपने अनुभवी नेताओं, हाफिज रहीमत तथा अहमदखाँ बंगश के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चा बनाया। यह दोनों ही सेनानायक पानीपत के घोर संग्राम को भी देख चुके थे। उन्होंने निश्चय किया कि मराठों का डटकर प्रतिरोध किया जायगा।

कुछ दिनों तक दिल्ली में विश्राम करने के उपरान्त मराठों की दृष्टि दोआब के क्षेत्र पर पड़ी। उन्होंने देखा कि पुराने शत्रुओं द्वारा अपने सैन्य बल को दिन-प्रतिदिन बढ़ाया जा रहा है। वहाँ लगभग ७० हज़ार सशस्त्र मुसलमान सैनिक एकत्रित हो चुके थे। किन्तु मराठों ने उनके संख्या बल की ओर कोई ध्यान न दिया। एक के बाद दूसरे क्षेत्र में रणचण्डी का खप्पर भरा गया। मराठों की भूखी तलवारें प्रत्येक संघर्ष में निर्दयता सहित सहस्रों पठानों और रुहेलों को चाट गई। एक के बाद दूसरे दुर्ग पर अपना विजय ध्वज फहराते नगर-नगर को अपने आधीन करते हुए मराठों ने दोआब की भूमि को पठानों के नियन्त्रण से पूर्णतः मुक्त कर दिया। मराठों की विजयवाहिनी ने अब रुहेलखण्ड पर अपने विजयी तुरंग चढ़ा दिए और रुहेलों का भी उसी निर्भयता सहित दमन किया गया जितनी निर्दयता सहित पठानों का किया था। मृत्यु ने नजीबखाँ को तो मराठों की क्रोधाग्नि में भस्मीभूत होने से बचा लिया था किन्तु उसका पुत्र जाब्ताखाँ अभी भी अपने पिता तथा अपने पापों का परिणाम भुगतने के लिए बचा हुआ था। उसने शुक्रताल दुर्ग की अभेद्य दीवारों के पीछे छिपकर अपने प्राण बचाने का उपक्रम किया। मराठों ने सीधे ही दुर्ग पर चढ़ाई कर दी और उस पर प्रबण्ड गोलावर्षा

आरम्भ हो गयी। इस प्रचण्ड गोलाबारी से दुर्ग के भीतर डटा हुआ सैनिक दस्ता भी नष्ट-भ्रष्ट हो गया और जाब्ताखां को इस तथ्य की अनुभूति हो गई कि अब उसकी प्राण-रक्षा हो पानी सर्वथा असंभव है। अन्ततः एक रात्रि में वह चुपचाप इस दुर्ग से निकल कर गंगा को पार कर बिजनौर जा पहुँचा। जब उसके पलायन का समाचार मराठा सेना को प्राप्त हुआ तो वह भी प्रतिशोध की भावना से दग्ध होकर गंगा को पार कर बिजनौर पहुँच गई। बिजनौर की रक्षार्थ जाब्ताखाँ की तोपों के गोलों ने द्वार पर मराठा सेना के पहुँचते ही अग्निवर्षा आरम्भ कर दी। किन्तु मराठों ने अपने प्रबल पराक्रम का परिचय देकर तोपखाने पर तो अधिकार किया ही साथ ही उन दोनों शक्तिशाली सेनाओं के मुख पर पराजय की कालिख भी पोत दी जो उनके मार्ग में रोड़ा बनकर डटी हुई थी। मराठों ने सहस्रों रुहेलों को अपनी तलवारों से सदैव के लिए धराशायी कर दिया और अपनी विजय पताका को फहराते हुए बिजनौर में प्रवेश किया। अब सम्पूर्ण जिला ही मराठा अश्वारोहियों के अश्वों की टापों से उठती हुई धूल से भर उठा था। जाब्ताखां भागता-भागता नजीबगढ़ (नजीबाबाद) पहुँचा। मराठों ने वहाँ भी उसका पीछा किया और फतेहगढ़ पर भी अपनी विजय वैजयन्ती फहरा दी। यहाँ पहुँच कर मराठों के हर्ष का वारापार न रहा क्योंकि पानीपत के युद्ध में पठानों और रुहेलों ने मराठों की जो सामग्री हथिया ली थी वह सब भी उन्हें पुनः प्राप्त हो गई। अब मराठा सेना ने पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी। जाब्ताखाँ की पत्नी और बालकों को भी मराठों द्वारा बन्दी बना लिया गया। क्रूर रुहेलों द्वारा जो पाशविक अत्याचार पानीपत में मराठा महिलाओं और बालकों पर किये गये थे, यदि मराठे भी प्रतिशोध और प्रतिहिंसा के वशीभूत वैसे ही अत्याचार नजीब और जाब्ताखाँ के परिवार पर करते तो भी किसी प्रकार से उन्हें अन्यायी सिद्ध नहीं किया जा सकता था। किन्तु हिन्दू जाति की पावन परम्परा के अनुसार मराठों ने

न तो किसी का बलात् धर्म परिवर्तन किया और न ही किसी को अपने शिविर में लाकर मृत्यु के घाट उतारा। हिन्दू वीरों ने यद्यपि कभी भी इस प्रकार के क्रूर और राक्षसी कृत्य नहीं किये किन्तु फिर भी उनका आतंक रुहेलों और पठानों के हृदय में इतना अधिक बैठ गया था कि एक भी मराठा अश्वारोही को देखते ही उनका सम्पूर्ण ग्राम सिर पर पाँव रखकर पलायन करने लगता था। जो रुहेला सेनापति जीवित रहे उन्होंने तराई के घने वनों में भाग कर शरण ली। वर्षा की ऋतु ने ही उन्हें प्रतिहिंसा की अग्नि में जल कर क्षार-क्षार होने से बचा लिया अन्यथा मराठा सैनिकों द्वारा उन्हें भी काल के कराल गाल में फेंक दिया जाता। इस प्रकार मराठों ने अपने शत्रुओं से पानीपत की पराजय का प्रतिशोध लेने में सफलता प्राप्त कर ली।

इस भाँति अपनी विजय पताका तराई के वनखण्ड की सीमाओं तक फहराकर तथा अपने सभी शत्रुओं के साहस को धूल में मिलाकर विजयी मराठा सेना ने १७७१ ई० में दिल्ली की ओर पुनः प्रस्थान कर दिया। यहाँ महाराष्ट्र के राजनीतिक तत्त्ववेत्ता अपने सेनापतियों की महान् विजय के फलों को पहले से ही रसास्वादन कर रहे थे। उन्होंने मुगल सिंहासन के उत्तराधिकारी शाह आलम को अपने हाथों का खिलौना बना कर भारत में सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में उदित होने का शुजा और अंग्रेजों का अपावन षड्यन्त्र पूर्णतः धूल-धूसरित कर दिया था। उन्होंने शाह आलम को इस बात के लिए विवश कर दिया था कि वह हिन्दुस्थान के साम्राज्य-संचालन और रक्षा के पूर्ण अधिकार तथा उत्तरदायित्व एवं बागडोर मराठों के हाथों में सौंप दे। इसके बदले में उन्होंने शाह आलम का हिन्दुस्थान का नाममात्र का सम्राट् बने रहना स्वीकार कर लिया था। उसकी यह शर्त भी मराठों ने उसी स्थिति में स्वीकार की जब कि वह पानीपत के युद्ध के दिनों से लेकर उस समय तक की चौथ की अवशिष्ट राशि चुकाने हेतु तैयार हो गया तथा उसने नवविजित क्षेत्र

के अर्धांश पर उनका अधिकार स्वीकार कर लिया। यद्यपि यह कार्य एक बार १७६१ ई० में लगभग पूर्ण हो गया था किन्तु १७७१ ई० में तो यह सर्वविधि सम्पूर्ण ही हो गया। रुहेलों और पठानों की इस कमर तोड़ पराजय के उपरान्त भारत में ऐसा एक भी मुसलमान नहीं रह गया था जो हिन्दुस्थान में हिन्दुओं की प्रभुसत्ता को चुनौती देने का दुस्साहस कर पाता। वस्तुत: वह वर्ष ही ऐसा वर्ष था जब कि मुस्लिम स्वतन्त्रता, शक्ति और उनकी सम्पूर्ण आकांक्षाओं का फातिया पढ़ दिया गया था। उत्तर और दक्षिण के सभी मुसलमान वर्गों ने चाहे वे मुगल थे अथवा तुर्क, अफ़गान थे या रुहेले अथवा फारसी हिन्दुओं से युद्ध कर भारत के राज्य सिंहासन को हड़पने के जो प्रयास किये थे वे सभी निरर्थक सिद्ध हो गये थे। वस्तुतः मराठों ने ५० वर्ष के सुदीर्घ काल खण्ड तक भारतीय साम्राज्य के संरक्षण के अधिकार को अपनी मुट्ठी में रखा और जिससे भी उन्हें चुनौती देने का दुस्साहस किया उसके अरमानों को खाक में मिला दिया। १७७१ ई० के उपरान्त भारतवर्ष के राजनैतिक रंग-मंच से मुस्लिम सत्ता पूर्णतः समाप्त हो गई। इस प्रकार अटक से सागर की उत्ताल तरंगों तक विस्तृत हिन्दुस्थान के सम्पूर्ण अंचल पर हिन्दू शक्ति की स्वतन्त्रता की पुनीत पताका पुनः फहराने लगी। किन्तु अभी भी एक शक्ति थी जिससे हिन्दुओं को संघर्ष करना था। वह शक्ति मुसलमानों की न होकर अंग्रेजों की थी जो स्वभाव, विधि तथा मानसिक प्रकृति, सभी दृष्टियों से मुसलमानों से सर्वथा भिन्न थे।

वस्तुतः यह एक आश्चर्यजनक बात ही होती यदि मराठा शिविर से दो सेनाओं के उत्तर भारत में विजय के प्रबल अभियान पर प्रस्थान कर देने के उपरान्त भी वीरवर हैदर अपने भाग्य को पुन: आजमाने के लिए उठकर दक्षिण में मराठों की प्रभुसत्ता को चुनौती न देता। इधर माधवराव तुंगभद्रा नदी को पार कर एक शक्तिशाली सेना का नेतृत्व करते हुए एक के उपरान्त दूसरे दुर्ग पर अपना विजय केतु फहराता तथा

शत्रुओं को निरन्तर पराजय का मुख दिखाता हुआ आगे बढ़ रहा था। जब हैदर अनावाड़ी के वनों में प्रविष्ट हो गया तो एक अन्य सेना उसको आतंकित करने के लिए नियुक्त कर दी थी। एक दिन जब यह सेना मट्टू के निकट अपने शिविर में विश्राम करने में मग्न थी हैदर चुपचाप अपने २० हजार सैनिकों सहित वनखण्ड से निकला और इस मराठा सेना पर सिंह के समान झपट पड़ा। किन्तु सौभाग्यवश हैदर की तोप की पहली गर्जना से ही मराठा सेनापति गोपालराव जागृत हो गया। उसे उसी क्षण स्थिति की गम्भीरता का अनुमान हो गया। उसने इस तथ्य को भली भाँति हृदयंगम कर लिया कि यदि मैंने तनिक भी संकोच अथवा दुर्बलता दिखाई तो मेरी सम्पूर्ण सेना जागृत हो पाने की पूर्व ही मृत्यु के घाट उतार दी जाएगी। वह कूदकर अपने अश्व पर आरूढ़ हो गया और उसने एक स्थान पर खड़े होकर आदेश दिया। उसने अपने ध्वज को फहराया तथा युद्ध के बाजे बजाकर खतरे का संकेत दे देने का आदेश प्रसारित कर दिया। रण-वाद्यों के स्वर सुनकर मराठा सैनिकों की निद्रा भंग हो गई। वे अपनी-अपनी शैय्याओं से उठ बैठे और सशस्त्र होकर रणभूमि में एकत्रित हो गए। अब शत्रु सेना द्वारा भी प्रचण्ड अग्नि वर्षा की जाने लगी तथा तुमुल संग्राम छिड़ गया। एक के बाद एक अश्वारोही सैनिक रण-स्थल में घायल होकर गिरने लगा। हैदर की तोपों की प्रचण्ड गर्जना और भीषण अग्नि-वर्षा ने मराठा सेना को पीछे धकेल दिया परन्तु वीर सेनापति गोपालराव अपने स्थान पर अपने राष्ट्र की पावन पताका थामे अडिग खड़ा रहा और अपने सैनिकों को शत्रु से भिड़ने के लिए प्रोत्साहित करता रहा। युद्ध के मारू बाजे अभी भी बज ही रहे थे। सेनापति का सहायक भी उसके समीप ही खड़ा हुआ था। सहसा ही शत्रु की तोप का एक गोला आया और उसका सिर खण्ड-विखण्डित हो गया। रक्त का फव्वारा फूट पड़ा जिसमें भीग गया मराठा सेनापति भी। इस पर भी गोपालराव अपने घोड़े पर डटा रहा। अचा-

नक ही एक गोली उसके अश्व को भी लगी और वह स्वामि-भक्त पशु धराशायी हो गया। सेनापति पुनः अश्वहीन हो गया, किन्तु उसने शीघ्र ही दूसरे घोड़े की रास थाम कर उस पर सवारी गाँठ ली। उसने मृत्यु को भी चुनौती देते हुए मोर्चा सँभला। न तो युद्ध की भयंकरता ही उसे विचलित कर पाई और न ही यह विकट परिस्थिति। क्योंकि उसे भली-भाँति विदित था कि यदि उसने अपना पग एक इंच भी पीछे धरा तो शत्रु के आक्रमण के फलस्वरूप उसकी सम्पूर्ण सेना मृत्यु के कराल गाल में चली जाएगी। अपने सेनापति के दुर्दम्य साहस ने सम्पूर्ण मराठा सेना को भी एक नवीन प्रेरणा दी। सिपाही से लेकर सेनापति तक सम्पूर्ण मराठा सेना एक प्रचण्ड लोह-प्राचीर के समान संगठित होकर रणक्षेत्र में डट गई। हैदर जब निकट आया तो मराठा सेना के इस दुर्दम्य को देखकर धैर्य उसके साहस के घोड़े पंख लगा कर उड़ गए। अतः वह जिस दिशा से आया था उसी ओर पीछे लौट गया। किन्तु इस पर भी संग्राम चलता ही रहा। पेठे, पटवर्धन, पान्से तथा अन्य मराठा सेनानियों ने निरन्तर पीछा किया। एक के बाद दूसरे रणक्षेत्र में संघर्ष हुआ, किन्तु अन्ततः मोती तालाब नामक स्थान पर हैदरअली की सेना को मराठा वाहिनी ने पूर्ण रूप से अपने जबड़ों में दबा लिया। हैदर की सम्पूर्ण सेना को टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया। उसके शिविर, युद्ध-सामग्री तथा शस्त्रास्त्रों पर भी मराठों ने अपना अधिकार जमा लिया। मराठों की आकांक्षा थी कि हैदर का नाम ही राजनैतिक रंगमंच से सदैव के लिए मिटा दिया जाए किन्तु उसी समय उन्हें अपने पूना के शिविर से एक पत्र प्राप्त हुआ। जिसमें उन्हें सूचित किया गया था कि वे तत्काल युद्ध समाप्त कर वापस राजधानी लौट आएँ क्योंकि पेशवा रुग्ण थे और उनकी दशा चिन्ताजनक हो गई थी। इस पत्र के कारण मराठा सेनापति को विवश होकर हैदर से सन्धि कर लेनी पड़ी। इस सन्धि के फलस्वरूप हैदर ने 'मराठा स्वराज्य' के सभी क्षेत्रों कोमराठों को वापस कर देना

स्वीकार कर लिया जिन पर उसने अधिकार कर लिया था। इसके साथ ही उसने युद्ध के व्यय के रूप में भी मराठा सेनापति को ५० लाख रुपए की धनराशि चुकायी।

इन विजय अभियानों के उत्साहपूर्ण वातावरण में ही जब दिल्ली से मैसूर तक स्थित मराठों की सैनिक छावनियों में उस महान् नेता के रुग्ण होने का समाचार पहुँचा, जिसने अपने राष्ट्र को परम वैभव के शिखर पर अधिष्ठित किया था, जिसके नेतृत्व में मराठों ने पानीपत में शत्रुओं द्वारा किए गए अत्याचारों का प्रबलतम प्रतिशोध लेने में सफलता अर्जित की थी, तो सभी के मन में राष्ट्र के महान् दुर्भाग्य की आशंका उत्पन्न हो गई। वस्तुतः माधवराव की लोकप्रियता का कारण केवल उनकी सैनिक क्षमता और सफलताएँ ही नहीं थीं अपितु उनकी शासन-व्यवस्था और न्याय परायणता भी उनकी प्रसिद्धि का कारण थी। उनके प्रशासन में राजा से लेकर सामान्य कृषक तक न्याय की दृष्टि में समान था। सम्पूर्ण प्रजा का कल्याण ही उस महान नेता का पावन उद्देश्य था। उसकी विशुद्ध आत्मा, न्याय-प्रियता, सत्यता और गम्भीरता ने उसे जन-जन के हृदयासन पर अधिष्ठित कर दिया था और उसकी प्रजा उसके प्रति प्रेम ही नहीं रखती थी अपितु उसमें इस महान शासक के प्रति भक्ति भावना-सी ही उत्पन्न हो गई थी। बड़े-बड़े शक्ति संपन्न सामन्त भी उसकी न्याय-प्रियता तथा सत्य-निष्ठा के कारण भयभीत रहते थे। निर्धन वर्ग के लोग और कृषक उसे अपना संरक्षक मानते थे। यद्यपि अपने मूर्ख चाचाके कारण उसे गृहयुद्ध और पारिवारिक कलह का भी सामना करना पड़ रहा था किन्तु फिर भी १० वर्ष की अवधि में ही उसने अपने राष्ट्र के मस्तक पर लगी पानीपत की पराजय की कालिमा को धोकर रख दिया था। उसने अपनी शक्तिशाली भुजाओं के बल पर उन शत्रुओं की गर्दनें मरोड़ देने का सत् साहस प्रदर्शित किया था जो हिन्दू स्वातन्त्र्य तथा हिन्दू पद पादशाही के पुनीत

आन्दोलन को कुचल देने के सपने संजोया करते थे। जहाँ एक ओर यौवन ने इस नवयुवक को एक नवीन उमंग दी थी वहाँ अपनी ख्याति और सौभाग्य के फलस्वरूप वह सम्पूर्ण जाति की आशा और विश्वास को अर्जित कर उनके नयनों का तारा भी बन गया। सम्पूर्ण जाति के हृदय में यह विश्वास बद्धमूल होता जा रहा था कि यह वीर युवक अपने पिता से भी अधिक गौरवपूर्ण कृत्यों को सम्पन्न कर सम्पूर्ण राष्ट्र को गर्व से अपना भाल ऊँचा उठाने का शुभ अवसर प्रदान करेगा। किन्तु केवल २७ वर्ष की अवस्था में ही माधवराव क्षय रोग से ग्रस्त हो गया था। जिस समय वह अपने महल में गम्भीर रूप से रोग ग्रस्त था तब भी उसने अपने धूर्त चाचा को सन्तुष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया जो उस समय भी निजाम के साथ मिलकर षड्यन्त्र की पींगें बढ़ा रहा था। माधवराव ने अपनी सम्पूर्ण सम्पदा अपने इस धूर्त चाचा रघुनाथराव को सौंप दी। उसने अपने चिकित्सक से अनुरोध किया कि उसे कोई ऐसी औषधि दी जाए जिससे मृत्युकी अन्तिम घड़ी तक भी वह अचेत न हो और उसकी बोलने की क्षमता पूर्ववत् बनी रहे। उसने चिकित्सक से कहा कि प्राण त्यागते समय भी मैं परम पिता परमात्मा की वन्दना के स्वरों का उच्चारण करना चाहता हूँ। जब पेशवा के गम्भीर रोग का समाचार उसके साम्राज्य के चारों कोनों में पहुँची तो लोग सभी स्थानों से अपने इस महान् राष्ट्रीय नेता और वीर पुरुष के अन्तिम दर्शनों के लिए पूना आने लगे। जिससे कि वे अपने इस राष्ट्रपति को अपनी श्रद्धांजलि भेंट कर सकें। पेशवा ने यह आदेश प्रसारित कर दिया कि मेरे राजमहल के द्वार खोल दिए जाएँ और किसी निर्धनतम व्यक्ति को भी मेरे समीप आने से न रोका जाए। १७७२ ई० में कार्तिक मास की अष्टमी को इस उदार हृदय राजकुमार ने विद्वानों और सत्पुरुषों को अपने समीप बुलाया। उनके समक्ष नतमस्तक होकर तथा जो प्रजा जन उसे देवता के तुल्य समझते हुए उसके चारों ओर एकत्रित हो गए थे उनसे भी

अन्तिम विदाई के लिए अनुमति माँगी। उसने कहा :—

"महायात्रेस आम्ही जातो, आमचे स्वारी ची त्यारी करा"

(अब मैं आप सबसे अलग होकर महायात्रा के पथ पर प्रस्थान कर रहा हूँ मेरी अन्तिम विदाई की तैयारी करो)।"

इस प्रकार परम पिता परमात्मा के पावन नाम का उच्चारण करते हुए तथा 'गजानन' 'गजानन' कहते हुए योगियों के समान ही इस लोक से विदाई ले ली। इधर इस महान् राजकुमार ने अन्तिम श्वांस ली और दूसरी ओर वहाँ एकत्रित लोगों के नेत्रों से श्रद्धा का गंगाजल उमड़ पड़ा। राज परिवार तथा प्रजाजनों के कंठों से एक ही स्वर निकला 'हा हन्त'। रोदन और क्रन्दन से कुहराम-सा मच गया। शोक का सागर प्रवाहित हो उठा और शोकाकुल नर-नारी आबाल-वृद्ध सिर पीट-पीट कर रुदन कर उठे।

उसकी निस्सन्तान युवा धर्म-पत्नी रमाबाई ने अपने सम्पूर्ण आभूषण और जवाहिरात आदि साधुओं, ब्राह्मणों तथा दीन-दुखियों में वितरित कर दिए। उसने न अपने सम्बन्धियों के दबाव की चिन्ता की और न ही उनके समझाने-बुझाने की। वह पतिव्रता नारी अपने प्राणवल्लभ के साथ चिता पर आरुढ़ हो गई। प्रज्वलित चिता की ज्वालाओं में उसने अपनी कुन्दन काया की समिधा बनाकर समर्पित कर दी। उसने अपनी आत्मा की मशाल को प्रज्वलित कर उसके पावन प्रकाश में अमर-प्रेम तथा स्वर्गीय सौन्दर्य के रहस्यों को साकार रूप में प्रस्तुत कर दिया तथा यह सिद्ध कर दिया कि मानव आज भी उन्हें प्राप्त करने में सफलता अर्जित कर सकता है।

आज भी महाराष्ट्र में जब लोग-सती रमाबाई तथा माधवराव महान् का उल्लेख करते हैं तो उनके नेत्रों से श्रद्धा का गंगाजल बरबस पलकों के कूल तोड़कर प्रवाहित होने लगता है। इस महान् दम्पत्ति के प्रति

सैकड़ों वर्षों से महाराष्ट्र के घर-घर में विद्यमान श्रद्धा-भावना आज भी यथापूर्व स्थिर है। आज भी वहाँ के राष्ट्रीय चारण अपनी कविताओं में उनके प्रति अपनी श्रद्धा भावना प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं :—

"हमारे जीवन की ज्योति लुप्त हो गई तथा हृदय-रत्न लुट गया है।"

१८

गृह-युद्ध तथा लोकप्रिय क्रान्ति

'इंग्रजांना खड़े चारिले नाहीं लागू दिलाथारा
भले बुद्धिचे सागर नाना नांहि होणार'

(अंग्रेजों को जिसने पाषाण खिलाए और उन पर अपने हृदय की भावना कभी व्यक्त नहीं होने दी, ऐसे बुद्धि के सागर नाना फड़नवीस के तुल्य व्यक्तियों का जन्म लेना बड़ा कठिन है)।

सम्पूर्ण जनता के आशा केन्द्र माधवराव का युवावस्था में निधन, किन्तु लोगों के लिए अभिशाप सिद्ध होने वाले राघोबा सरीखे व्यक्ति का उसके बाद भी एक पीढ़ी तक जीवित रहना ऐसी घटनाओं में से एक है जिनको देखकर परमात्मा के सर्वशक्तिमान होने पर भी यदा-कदा सन्देह होने लग जाता है।

माधवराव का देहान्त तो सम्पूर्ण जाति पर एक वज्रपात था ही किन्तु राघोबा का जीवित रहना तो उससे भी बड़ी राष्ट्रीय विपत्ति थी। निस्सन्तान माधवराव की इच्छा और सम्पूर्ण जाति की आकांक्षा के अनुसार उनका कनिष्ठ भ्राता नारायणराव सत्तारूढ़ हुआ उसी समय से राघोबा ने उसके तथा उसके समर्थकों के विरुद्ध एक नवीन रक्तपात और षड्यन्त्र की चेष्टाएँ प्रारम्भ कर दी थीं। उसने राजमहल के प्रहरियों को घूस देकर अपनी ओर मिला लेने में सफलता प्राप्त कर ली तथा उन्हें यह आदेश दिया था कि नवीन पेशवा को बन्दी बना लें। किन्तु राघोबा की नराधम पत्नी आनन्दी बाई ने इस षड्यन्त्र को और भी अधिक वीभत्स रूप दे दिया। उसने प्रहरियों को सूचित किया कि वे पेशवा को बन्दी बनाने के स्थान पर उसकी हत्या ही कर दें। ३० अगस्त, १७७३ ई० को सहसा ही इन रक्षकों ने विद्रोह की पताका फहरा दी

तथा नारायणराव से वेतन लेने के बहाने उसके समक्ष उपस्थित हुए तथा उसे घेर कर ऊपद्रव करने लगे। ज्योंही पेशवा के एक स्वामिभक्त भृत्य ने उन नीच उपद्रवियों की इस कार्य के लिए भर्त्सना करनी आरम्भ की त्योंही वे क्रुद्ध होकर उस पर टूट पड़े तथा इन विद्रोहियों में से एक ने उस स्वामिभक्त सेवक का सिर अपनी तलवार से धड़ से पृथक् कर दिया। भयभीत पेशवा अपने प्राणों की रक्षार्थ एक कमरे से दूसरे कमरे में छिपने की चेष्टा करने लगा। किन्तु ये विद्रोही तब तक उसका पीछा करते रहे जब तक कि वह राघोबा के कमरे में पहुँच कर उसकी गोदी में न लिपट गया। उसने भयभीत होते हुए नितान्त कातर स्वरों में गुहार की "चाचाजी, मैं आपका पुत्र हूँ। मैं आपको ही पेशवा के रूप में स्वीकार करूँगा। जो भी रोटी के टुकड़े आप मुझे देंगे मैं उन्हीं से अपनी क्षुधा शान्त करता रहूँगा और उससे अधिक के लिए कदापि कोई माँग न करूँगा।" परन्तु उसका पीछा करने वाले विद्रोही भी वहीं पहुँच गये। राघोबा ने नारायणराव को धक्का देकर अपने से पृथक् कर दिया और हत्यारे इस युवक पर टूट पड़े। चाफाजी तिलेकर हत्यारों की तलवार तथा पेशवा के मध्य आकर खड़े हो गये। उन्होंने नारायणराव के शरीर को ढांक लिया और उन विद्रोही सिपाहियों से अपने स्वामी के प्राणों की रक्षा के लिए अनुनय विनय करने लगा किन्तु उसकी गिड़गिड़ाहट से भी इन नराधमों के पाषाण हृदय न पिघल सके। हत्यारों ने पेशवा और उसके रक्षक पर अपनी तलवारों के प्रहार आरम्भ कर दिये। स्वामिभक्त चाफाजी अपनी अन्तिम श्वाँस तक पेशवा की रक्षा करते रहे किन्तु अन्ततः पेशवा की हत्या कर देने के उपरान्त इन विद्रोहियों ने राघोबा को महाराष्ट्र का पेशवा घोषित करते हुए राजमहल पर अधिकार कर लिया।

यह समाचार राजधानी में विद्युत की भाँति फैल गया। नागरिकों के हृदय क्रोधाग्नि से दग्ध हो उठे और वे समूहों में एकत्रित होने लगे

तथा उन्होंने सर्वसम्मति से यह शपथ ग्रहण की कि वे हत्यारे राघोबा को कदापि अपने पेशवा के रूप में मान्यता नहीं देंगे। क्योंकि महाराष्ट्र में आत्म-सम्मान और राष्ट्रीयता की पावन भावना उस समय तक भी विद्यमान थी। इसलिए राजमहल के इस भयंकर षड्यन्त्र से भी भयभीत न होते हुए उन्होंने उस व्यक्ति के आधिपत्य को स्पष्ट शब्दों में चुनौती देना आरम्भ कर दिया जिसको वे हृदय से अपना नेता मानने को तैयार नहीं थे, जिसका उन्होंने अपने पेशवा के रूप में चयन नहीं किया था। राज्य के प्रमुख अधिकारी तथा नेतागण एकत्रित हुए और उन्होंने क्रांतिकारी परिषद् का निर्माण किया। राज्य के प्रधान न्यायाधीश रामशास्त्री को यह दायित्व सौंपा गया कि वह पेशवा की हत्या के सम्बन्ध में जाँच करें।

रामशास्त्री शीघ्र ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि राघोबा और उसकी पत्नी आनन्दीबाई ने ही षड्यन्त्र कर यह दुष्कर्म किया है। उन्हें इस सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय हो गया कि नवयुवक पेशवा की हत्या के वास्तविक उत्तरदायी ये पति-पत्नी ही हैं। वह निर्भीक ब्राह्मण सीधे ही उस कक्ष में पहुँच गया जहाँ राघोवा अपने चाटुकारों और क्रीतदारनों के साथ अपने षड्यन्त्र की सफलता पर सानन्द बैठा हुआ था। इस निर्भीक ब्राह्मण ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि राष्ट्र के नवीन पेशवा अथवा अपने भतीजे की हत्या का कलंक आपके माथे पर है। राघोबा ने अपने अपराध को स्वीकार किया और पूछा कि इसका प्रायश्चित्त किस भाँति हो सकता है? महान् न्यायाधीश रामशास्त्री की गम्भीर वाणी से यह शब्द निकले "हो इस जघन्य पाप का प्रायश्चित तुम्हें अवश्य ही करना पड़ेगा और वह प्रायश्चित है मृत्यु, हाँ, मृत्युदण्ड!" राघोबा के सहयोगियों ने कहा कि आपको ऐसे शब्द नहीं कहने चाहिए। उसका यह वाक्य सुनते ही रामशास्त्री की गम्भीर वाणी गूंज उठी मुझे "राघोबा का कोई भय नहीं। मैं तो प्रजा की ओर से नियुक्त किया गया न्यायाधीश हूँ।

मेरा कार्य था अपने कर्तव्य का पालन और वह मैंने कर दिया। अब यदि राघोबा चाहता है तो मेरी भी हत्या करके अपने पाप के घर को और अधिक भर ले। मैं ऐसे राज्य में एक क्षण के लिए भी ठहरना अथवा अन्न-जल ग्रहण करना महापाप मानता हूँ, जहाँ अन्यायी शासक सिंहासन पर आसीन हो।'' ये शब्द कहकर यह कर्तव्य निष्ठ ब्राह्मण क्रोधाग्नि से तपता हुआ नितान्त निर्भीकता सहित महल के बाहर निकल गया और नगर छोड़कर उसने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार तब तक अन्न-जल को छुआ तक नहीं जब तक कि वह पावन कृष्णा सरिता के तट पर न जा पहुँचा। इस स्वाभिमानी ब्राह्मण की मुख-मुद्रा को हताश राघोबा देखता रहा किन्तु उसके मुख से एक शब्द भी न निकल सका। अपने साथियों की उपस्थिति में इन सुस्पष्ट बातों को सुनकर उसे भी विदित हो गया कि पाप का परिणाम कदापि शुभ नहीं हो सकता।

उसी समय जन साधारण को यह भी विदित हो गया कि दिवंगत पेशवा नारायणराव की धर्मपत्नी गर्भवती है और वह किसी सन्तान को जन्म देने वाली है। इस शुभ समाचार को प्राप्त कर राज्य परिवर्तन करने वाली परिषद की शक्ति और अधिक बढ़ गई और उसके मन में भावी सुख की एक आशा-वल्लरी खिल उठी। तदुपरान्त मोरोबा दादा, कृष्णराव हरिवन्त फड़के, त्र्यम्बकराव मामा, काले, तोपखाने के सेनापति पटवर्धन, धायगोड़े, अप्पाजी तथा अन्य राज कर्मचारियों ने नाना फड़नवीस तथा सखाराम बापू सरीखे महान् मार्गदर्शकों की अध्यक्षता में यह योजना बनाई कि प्रथमतः राघोबा को रणभूमि में भेजा जाए और तदुपरान्त विद्रोह की पताका फहरा दी जाए। इस प्रकार उन सबने सर्व-सम्मति से यह निश्चय कर लिया कि रघुनाथराव को दक्षिण पर आक्रमण करने के लिए विवश किया जाए। उनके विवश करने पर जब रघुनाथराव ने दक्षिण प्रस्थान किया तो इन राष्ट्रभक्तों ने पूना में विद्रोह का ध्वज फहरा दिया। उन्होंने भावी पेशवा की माता गंगाबाई को राज्य

नेत्री के रूप में अधिष्ठित कर राजधानी पर अपना अधिकार घोषित कर दिया। पूना में प्रस्फुटित हुई विप्लव की यह चिंगारी शीघ्र ही सम्पूर्ण राज्य में ज्वाला बनकर धधक उठी। यह नवीन शासन वस्तुतः प्रजातन्त्र राज्य ही था, जिसे महारष्ट्र में "बड़ा भाई राज्य" के रूप में स्मरण किया जाता है। देखते-देखते ही महाराष्ट्र के दुर्गों और नगरों ने इस नवीन राज्य को ही अपने राज्य के रूप में मान्यता प्रदान कर दी। जब रघुनाथराव को इस अप्रत्यशित क्रान्ति का समाचार प्राप्त हुआ तो उसने अपनी सम्पूर्ण सेना सहित पूना में वापस आने का निश्चय किया। किन्तु जब उसे यह विदित हुआ कि क्रान्तिकारी सेना पहले ही उसका प्रतिरोध करने के लिए प्रस्थान कर चुकी है तो उसने अपने कतिपय धूर्त, स्वार्थी और भ्रष्ट सहयोगियों सहित उत्तर की ओर प्रस्थान कर देने में ही अपनी सुरक्षा समझी। अपने मार्ग में पड़ने वाले नगरों और ग्रामों को वह विदेशी लुटेरों के समान ही लूटता और नष्ट-भ्रष्ट करता हुआ आगे बढ़ता रहा। उसके मन में अभी भी यह आशा जमी हुई थी कि यदि गंगाबाई ने पुत्र को जन्म न दिया तो महाराष्ट्र जन पुनः मेरे समर्थक हो जाएँगे। कोरेगांव में क्रान्तिकारी सैनिकों से राघोबा के चाटुकारों का संघर्ष हुआ किन्तु इस संघर्ष में क्रान्तिकारी पराजित हो गए और उनका वीरसेनापति त्र्यम्बकराव भी न्याय पथ पर अडिग रहकर अपना बलिदान चढ़ा गया। त्र्यम्बकराव मामा का निधन क्रान्तिकारियों के लिए एक महान् क्षति थी। क्योंकि उसके निधन से उन्हें अपने एक वीर नेता से वंचित होना पड़ा था। परन्तु उसके निधन के उपरान्त भी वीरवर नाना फड़नवीस और बापू के नेतृत्व में क्रान्तिकारी वीरों ने महाराष्ट्र तथा अपनी जाति के इस महान् संघर्ष को समाप्त नहीं होने दिया।

उस समय सम्पूर्ण महाराष्ट्र की ही नहीं अपितु समग्र हिन्दुस्थान की दृष्टि पुरन्दर दुर्ग की ओर जमी हुई थी जहाँ राजनेत्री गंगाबाई रह रहीं थीं। इस दुर्ग की सुरक्षा की भी सुदृढ़ व्यवस्था की गई थी। ज्यों-

ज्यों उनका प्रसवकाल समीप आता जाता था, जनमानस में उत्सुकता बढ़ती ही जाती थी। जन-जन में पुरन्दर दुर्ग से शुभ समाचार प्राप्त होने की लालसा बढ़ती जा रही थी। मन्दिरों, देवालयों और पावन तीर्थ-स्थलों में सहस्रों नर-नारी एकत्रित होकर परम-पिता परमात्मा से यह प्रार्थना कर रहे थे कि महारानी गंगाईबाई की कोख से पुत्र-रत्न का ही जन्म हो। जिससे राघोबा की निकृष्टतम आशाओं पर वज्रपात हो सके। कुटियों से राजमहलों तक में निवास करने वालों के कान पुरन्दर दुर्ग से आने वाले शुभ समाचार को सुनने में लगे हुए थे। प्रत्येक क्षण वे अपनी शुभ आशाओं के फलीभूत होने की स्वर्णिम घड़ी के सम्बन्ध में ही विचार निमग्न रहते थे। यह ही नहीं अपितु दिल्ली, इन्दौर, बड़ौदा, हैदराबाद, मैसूर तथा कलकत्ता आदि हिन्दुस्थान की राजनीति के प्रमुख केन्द्रों में भी पुरन्दर से प्राप्त होने वाले समाचार के सम्बन्ध में उत्सुकता कुछ कम नहीं थी। अन्ततः जन-जन की आशा सफलीभूत हुई और १८ अप्रैल १७७४ ई० को महारानी गंगाबाई ने पुत्र-रत्न को जन्म दे दिया। सम्पूर्ण भारत में यह शुभ समाचार विद्युत गति से फैल गया। सारे महाराष्ट्र ने इस बालक के जन्म पर परम-पिता परमात्मा को धन्यवाद दिया तथा उस शिशु को ईश्वर द्वारा प्रेषित अपना मन्त्री तथा नेता स्वीकार किया। अन्य राज्यों के अधिपतियों ने भी महाराष्ट्र के जन-जन में उत्पन्न हुई नवीन उत्साह की लहर से प्रभावित होकर इस बालक के जन्म पर शुभकामनाओं के सन्देश प्रेषित किये।

इस समाचार से महाराष्ट्र के क्रांतिकारियों को आशा का एक नवीन सम्बल मिला। उनकी देश-भक्ति की पावन भावनाओं तथा आशाओं और आकांक्षाओं की अनुभूति उस काल के पत्र-व्यवहार से प्राप्त होती है। उस समय साबाजी भौंसले ने अपनी छावनी से लिखा था कि "जिस शुभ समय राजकुमार के जन्म का समाचार हमें प्राप्त हुआ उसी समय मानो हमारे लिए एक सुख संसार की सृष्टि का कार्य सम्पन्न हो गया।

वस्तुतः परम पिता परमात्मा ने हमारी प्रार्थनाओं को सफल कर दिया है। सम्पूर्ण सेना हर्ष से प्रफुल्लित हैं, रण-वाद्य बज उठे हैं। तोपों की गर्जना ने नवीन सम्राट् का अभिवादन करना प्रारम्भ कर दिया है। प्रभु हमारे पेशवा को दीर्घायु प्रदान करें।" यह समाचार जहाँ-जहाँ भी क्रांतिकारियों को प्राप्त हुआ वे प्रसन्नता से झूम उठे. एक पत्र में इन शब्दों का भी उल्लेख मिलता है "हरीपन्त सेनापति ने तत्काल आदेश दिया कि सम्पूर्ण सेना उत्सव का आयोजन करे। युद्ध के बाजों, शह-नाइयों और तोपों की तुमुल गड़गड़ाहट इतनी जोरदार थी कि किसी का कोई शब्द भी दूसरे को सुनाई पड़ना असम्भव हो गया था। इस शुभ घड़ी का परिपालन करने हेतु हाथियों के हौदों से लोगों को मिष्ठान्न वितरित किया गया। एक अन्य पत्र में लिखा गया है—"यह बात असन्दिग्ध है कि परमात्मा हमारे पक्ष में है। हिन्दू धर्म की रक्षा और अभिवृद्धि के लिए ही उसने पेशवा को जन्म दिया है। शिशु पेशवा चिरायु हों! हमारे राष्ट्र के नयनों का तारा चिरजीवी हो।"

इस बालक का नाम रखा गया था माधवराव। क्योंकि माधवराव यह नाम सम्पूर्ण महाराष्ट्र में आदर श्रद्धा और भक्ति का प्रतीक बन चुका था। किन्तु कुछ काल के उपरान्त ही यह बालक जनता में सवाई अर्थात् महान् माधवराव के नाम से जाना जाने लगा। इस बालक के जन्म से पूना स्थित क्रान्तिकारियों की शक्ति में तो वृद्धि हुई ही साथ ही हिन्दुस्थान के राजनैतिक कार्यों की भी काया पलट गई। क्रांतिकारी अब और अधिक उत्साह और निष्ठा एवं साहस सहित अपने कर्त्तव्य की पूर्ति में जुट गये। उन्होंने मराठा सरदारों को आदेश दिया कि रघुनाथ राव के पापों के प्रायश्चित स्वरूप उसे मृत्युदण्ड दिया जाना अपेक्षित है। अतः उसका पीछा किया जाए तथा वह जहां कहीं मिले उसे अविलम्ब बन्दी बना लिया जाय। यह पग उठाकर वे लोग इस योग्य हो गये कि शासन की बागडोर को सफलता सहित संचालन कर सकें तथा अपनी

जाति के प्रति पावन दायित्व को पूर्ण कर सकें। जो मराठों द्वारा संस्थापित भारत के महान् हिन्दू साम्राज्य का शासन सूत्र सँभालने में सक्षम थे, जिन्होंने वीरवर भाऊ साहब और नाना साहब के नेतृत्व में शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य पाया था। यदि ऐसा न हो पाता तो यह निश्चित प्राय था कि शासन की बागडोर और संचालन सूत्र ऐसे व्यक्ति के हाथ में चला जाता जो समाज की नाड़ी को तो अपने नियन्त्रण में क्या रख पाता उसके लिए तो अपनी नारी को भी वश में रख पाना एक कठिनतम कार्य था। नारायणराव के जिस बालक को सम्पूर्ण महाराष्ट्र ने अपने नयनों का तारा मानकर घर-घर में मंगल-गान गाये, जिस दुधमुंहे राजकुमार के प्रति जन-जन ने अपनी श्रद्धा और भक्ति का सागर उँड़ेला और भक्ति-भावना सहित उसे अपने पेशवा के रूप में मान्यता दी, उसी के जन्म पर एक नीच और कपटी व्मक्ति का हृदय दग्ध भी हो उठा। क्रान्तिकारी तथा उसका दुर्भाग्य रघुनाथराव का इतनी तीव्रगति से पीछा कर रहे थे कि वह भयभीत सांड के समान विक्षिप्त की भाँति भागता ही जा रहा था। अन्त में वह घड़ी भी आई जब रघुनाथराव के सहयोगी भी उसका साथ छोड़कर पृथक् हो गये। उस समय उस नीच ने बिना किसी प्रकार का संकोच प्रदर्शित किये अपने राष्ट्र के शत्रु की ही शरण में चले जाने में किसी प्रकार की लज्जा का अनुभव नहीं किया। उन सम्पूर्ण जातियों और राज्यों में से एक में भी मराठों की सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में मान्यता को चुनौती देने का साहस न हो पाया जो अभी भी हिन्दुस्थान में अपने को सर्वाधिक शक्तिशाली स्वरूप में खड़ा करने की आकांक्षाएँ रखती थीं। जब तक महाराष्ट्र ने इस महान् हिन्दू-साम्राज्य की छत्रछाया में कार्य किया तब तक जिस किसी ने भी मराठों की सत्ता को चुनौती दी वह या तो सदा के लिए यमलोक पठा दिया गया अथवा उसे ऐसा पाठ पढ़ाया गया कि वह मराठों के समक्ष नाक रगड़ने और धूल-चाटने पर विवश हो गया अर्थात् उसे उन्होंने अपनी पराधीनता के पाश में भली-

भाँति जकड़ लिया। पठान, फारसी अथवा मुगल या तुर्क मुसलमान फिर चाहे वे विदेशी थे सिन्धु सरिता को पार कर भारत में आने वाले या फिर इसी देश में रहने वाले, उनका इस भांति दमन किया गया कि उन्होंने पुनः हिन्दू राज्य के समक्ष अपना मस्तक ऊँचा करके खड़ा होने का साहस प्रदर्शित न किया। वस्तुतः भारत के राजनैतिक रंगमंच से उन्हें पूर्णतः पदच्युत ही कर दिया गया था। मराठों से प्रतिद्वन्दिता रखने वाली शक्तियों में वस्तुतः पुर्तगाली ही ऐसे थे जिन्होंने एक बार अर्ध एशिया खण्ड में अपना प्रभाव जमा लेने में सफलता प्राप्त की थी। किन्त मराठों ने इस शक्ति को भी जो भयंकर आघात स्थलीय युद्धों में लगाए थे तथा कोंकण की स्वतन्त्रता के लिए हुए युद्ध में सागर में हुए संग्राम में उन्हें जो पराजय सहने के लिए विवश किया था, उसके उपरान्त यह शक्ति भी पुनः कभी उभरने का सपना तक नहीं ले सकी। फ्रांसीसियों ने भी मराठों से कभी रणक्षेत्र में आमने-सामने खड़े होकर लोहा लेने का दुस्साहस नहीं किया। हाँ, उन्होंने यदा-कदा हैदराबाद तथा अर्काट के माध्यम से पूना को ग्रसने का प्रयत्न अवश्य किया किन्तु वे इस सम्पूर्ण प्रयास में निराशा और असफलता ही प्राप्त करते रहे। आंशिक रूप से इसका कारण यह था कि वे यूरोप में संघर्ष में उलझे हुए थे और दूसरा कारण यह था कि वे इस तथ्य को भली भांति समझते थे कि यही एकमात्र शक्ति है जो उनके अंग्रेज प्रतिद्वन्द्वियों की आकांक्षाओं की पूर्ति में अवरोध बनकर खड़ी हुई है। अतः वे भी इस हिन्दू साम्राज्य के मार्ग में कंटक बनने के लिए तैयार नहीं थे। अंग्रेज भी इस तथ्य को भली भांति समझते थे कि शिवाजी के समय से ही यदि हम पश्चिमी समुद्र तट पर निरापद रह रहे हैं तो इसका कारण यह नहीं है कि मराठों को हमारा यहाँ अस्तित्व बनाए रखना भला लगता है अथवा वे हमारी आकांक्षाओं और उद्देश्यों से परिचित नहीं हैं, अपितु मराठे हमें इसलिए नहीं छेड़ते कि मराठा राजनीतिज्ञों की दृष्टि में हमारी अपेक्षा उत्तरी भारत में शक्तिशाली

शत्रुओं का दमन करना अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि मराठा हमें सामान्य शत्रु ही समझते हैं। उन्हें यह भी विदित था कि हम जब कभी भी अपना सिर उठाने का प्रयास करेंगे मराठा शक्ति हमें कुचल कर रख देगी। इसके अतिरिक्त अंग्रेज अपनी विचारबुद्धि और सूक्ष्म दृष्टि से यह बात भी समझते थे कि मराठों के गढ़ में ही बम्बई प्रदेश पर हमारा आधिपत्य इसलिए नहीं है कि हम मराठा शक्ति को चुनौती देकर यहाँ रह सकते हैं अपितु हमारी ओर इसीलिए उन्होंने उपेक्षावृत्ति धारण की हुई है कि वे पहले अपने शक्तिशाली शत्रुओं का सिर कुचलने का कार्य पूर्ण करने में लगे हुए हैं। अतः यद्यपि अंग्रेजों की यह इच्छा तो सदैव ही बनी रहती थी कि मराठा शक्ति को क्षति पहुँचाई जाए किन्तु उनमें खुलकर मराठों से दो-दो हाथ करने का साहस कभी नहीं हो पाता था। नानासाहब द्वारा आंग्रे की शक्ति को समाप्त करने के लिए आंग्ल शक्ति का उपयोग भी इसी शर्त पर किया था कि इस कार्य से मराठा शक्ति को किसी भी प्रकार स्थलीय कथवा सामुद्रिक दृष्टि से क्षतिग्रस्त न होना पड़ेगा। यदि परम पिता परमात्मा ही प्रतिकूल न होता, जिसकी कि एक मराठा आशा नहीं करता था तो यह निश्चित ही था कि आंग्रे की शक्ति के उन्मूलन के उपरान्त मराठे सामुद्रिक-शक्ति की दृष्टि से भी अत्यधिक शक्ति-सम्पन्न होने का सुयोग प्राप्त करने में सफल सिद्ध हो जाते। किन्तु इस सौदेबाजी फलस्वरूप भी जहाँ तक पश्चिमी सागर तट का संबंध था अंग्रेजों को कोई विशेष लाभ प्राप्त न हो सका। क्योंकि शिवाजी के दिनों में जितने क्षेत्र पर वे अधिकार जमाए हुए थे उससे अब भी उनका अधिकार क्षेत्र अधिक न बढ़ सका। किन्तु इसके विपरीत बंग भूमि में उन्होंने अपने इरादों की पूर्ति हेतु क्षेत्र खुला हुआ पाया। ऐसा भी कहा जा सकता है कि क्लाइव ने जब आंख खोली तो उसने अपने आपको उस युद्ध के विजेता के रूप में खड़ा हुआ देखा जो उसने सोते-सोते लड़ा था। वस्तुतः वह तो अपने सौभाग्य के अश्व पर चढ़कर सीधा दिल्ली तक ही पहुँच सकता

था, किन्तु मराठों ने ही उसके सुनहरे स्वप्न को अपनी शक्ति के प्रहार मार कर भंग कर दिया। किन्तु हमारा यह कहने का ऐसा तात्पर्य कदापि नहीं है कि अंग्रेजों को जो सफलता मिली वह उसके अधिकारी नहीं थे। चाहे किसी जाति को अनायास ही सफलता मिल जाए अथवा वह अपने शत्रुओं की भीरुता तथा पौरुषहीनता के कारण ही उन्हें पराजित कर उन पर अपना ध्वज फहराती हो, वह यह तो सिद्ध कर ही देती है कि भाग्य ने भी उसका साथ इसीलिए दिया कि वह शत्रु की अपेक्षा अधिक पराक्रमी थी। अंग्रेजों ने मद्रास में फ्रांसीसियों पर जो सफलता प्राप्त की थी वह वस्तुतः उनके साहस और पराक्रम की ही परिचायक थी।

इस प्रकार अंग्रेजों को भाग्य तथा पराक्रम दोनों के बल पर ही मद्रास एवं बंगाल में अपनी शक्ति-वृद्धि करने में सफलता मिली थी। किन्तु उन्हें भय था कि यदि उन्होंने मराठों की सर्वोच्च शक्ति को चुनौती देने का दुस्साहस प्रदर्शित किया तो उन्हें उनसे प्रत्यक्ष संघर्ष और शत्रुता मोल लेनी पड़ेगी। अतः उन्होंने कभी ऐसा नहीं किया। परन्तु मराठे भी इस संबंध में पूर्णतः सचेत तथा सतर्क थे कि अंग्रेज मद्रास तथा बंगाल में शनैः शनैः अपनी शक्ति बढ़ा रहे हैं। नानासाहब और भाऊ परिस्थिति की गम्भीरता को समझने वाले दूरदर्शी राजनीतिज्ञ थे तथा सदैव सतर्क रहते थे। वे किसी भी अहिन्दू शक्ति को; फिर चाहे वह कितनी भी क्षुद्र क्यों न हो यह अवसर देने के पक्ष में नहीं थे कि वह छिपे-छिपे ही हिन्दू साम्राज्य की ओर अपने पग पसारती रहे। बंगाल में अंग्रेजों की शक्ति में शनैः शनैः होती हुई वृद्धि को दृष्टिगत रखते हुए ही भाऊ साहब ने १७६०-६१ ई० में यह योजना निर्धारित की थी कि बंगाल में दो सुदृढ़ मराठा सेनाएँ भेजी जाएँ। जिससे अहिन्दू शक्तियों द्वारा उत्पीड़ित हिन्दू बन्धु-बान्धवों को स्वतन्त्रता का रसास्वादन करने की स्वर्ण सन्धि प्राप्त हो सके। वस्तुतः बंग भूमि के हिन्दू बंगाल के अन्तिम हिन्दू राजा महाराज लक्ष्मणसिंह के पतन के पश्चात् से ही विधर्मियों के उत्पीड़न

का शिकार बने हुए थे। १७६० ई० में दत्ता जी शिन्दे के नेतृत्व में मराठा सेना का उत्तरी भाग वस्तुतः बंगाल की ओर प्रस्थान कर भी चुका था किन्तु जैसा कि पहले बताया गया है कि उसी समय अहमदशाह का प्रचण्ड आक्रमण हो गया। जिसके फलस्वरूप प्रथम इस वीभत्स शत्रु से लोहा लेने का दायित्व आ पड़ने के कारण उन्हें बंगाल की स्वतन्त्रता के कार्यक्रम को स्थगित कर देना पड़ा। तदुपरान्त पानीपत की घटना घटित हुई और बाद में नानासाहब का निधन। इस प्रकार मराठा शक्ति पर शोक की घटाएं उमड़-घुमड़कर निरन्तर बरसती रहीं और अंग्रेजी शक्ति की जीवन अवधि का सूत्र भी लम्बा होता चला गया। उन्होंने मराठों पर आई आपदाओं को अपने विस्तार की दृष्टि से स्वर्णिम अवसर समझा वे नितान्त कुशलता और परिश्रम सहित बंगाल और मद्रास में अपनी शक्ति को सुदढ़ करते रहे और अवसर प्राप्त होते ही दिल्ली के राज्य शासन का सूत्र मराठों से छीनकर अपने हाथों में ग्रहण करने की आकांक्षा की पूर्ति हेतु भी क्रियाशील रहे। किन्तु पानीपत की पराजय के उपरान्त भी उनमें मराठा शक्ति से प्रत्यक्षतः संघर्ष करने का साहस कदापि उत्पन्न न हो पाया। क्योंकि पानीपत में पराजित होने के उपरान्त भी मराठा शक्ति ही समग्र भारतवर्ष में सर्वोच्च तथा प्रभुसत्ता सम्पन्न शक्ति थी। भारत के मानचित्र में कलकत्ता में लाल रंग की जो छोटी सी रेखा एक बिन्दु के रूप में बनी थी उसने बढ़ते-बढ़ते बङ्गाल के अधांश को लाल कर दिया था। मद्रास में लाल रंग का जो छोटा सा बिन्दु भारत के मानचित्र में लगा था उसने विस्तार पाते-पाते आधी मद्रास प्रेसिडैन्सी को अपनी बांहों में समेट लिया था। किन्तु बम्बई में जो लाल चिन्ह शिवाजी के शासन काल में बना था वह नाना फड़नवीस के समय तक भी एक इंच अधिक विस्तृत न हो सका। पश्चिमी सागर तट के क्षेत्र में अंग्रेज एक पग भी अधिक न बढ़ सके जब कि अन्य प्रेसिडेन्सियों को भारत के मानचित्र ने उस समय तक ही पूर्णतः लाल हो जाते हुए देखा। इसका

कारण केवल यही था कि सह्याद्रि शिखरों पर मराठा सन्तरी आज भी अपने पैने भाले को लिए हुए उन लोगों का शीश छेद देने के लिए सन्नद्ध खड़ा हुआ था जो उधर पग रखने मात्र का दुस्साहस कर सकते थे। जब तक मराठा शक्ति आन्तरिक संघर्ष की ज्वाला में दग्ध होकर छिन्न-भिन्न न हो गई तब तक यूरोपीय अथवा एशियाई, या मुसलमान किसी भी अहिन्दू शक्ति में यह साहस न हो सका कि वह मराठों के रूप में गठित हुए हिन्दू साम्राज्य की ओर क्षण मात्र के लिए भी दृष्टि डाले अथवा उसकी प्रभुसत्ता को चुनौती देने का साहस कर उसे मान्यता देने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट का प्रदर्शन करे।

यद्यपि यह एक असन्दिग्ध तथ्य है कि एक राष्ट्र के रूप में मराठों की अपेक्षा अंग्रेजों में वे राष्ट्रीय गुण निश्चित रूप से ही अधिक मात्रा थे जिनके कारण कोई जाति अपने राष्ट्रीय हित साधन के समक्ष व्यक्तिगत स्वार्थों को तुच्छ समझते हुए बलिदान चढ़ा देती है तथा अपने राष्ट्र और जाति के प्रति विश्वासघात करने अथवा राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य को नीलाम चढ़ाने को धार्मिक दृष्टि से भी एक पाप के रूप में मान्यता देती है। किन्तु इस पर भी हमें वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में ही अतीत के इतिहास का अध्ययन करने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिए। उस समय की परिस्थितियों का सही मूल्यांकन करने की दृष्टि से विवेक एवम् बुद्धिमत्ता सहित विचार किया जाना अपेक्षित है। कोई घटना घटित हो जाने के उपरान्त मानव सचेत और सजग हुआ करता है। परन्तु यदि हम उन कारणों पर सही रूप से दृष्टिपात करें जिनकी सही अनुभूति किसी कार्य के सम्पन्न होने से पूर्ण हो जाए, तो भी जो दो सेनाएँ किसी राजनैतिक, सैनिक अथवा असैनिक संघर्ष के लिए अग्रसर हो रही हो तब भी यह भविष्यवाणी तो कोई भविष्यवक्ता ही कर पाने में सक्षम हो सकता है कि उन दोनों में से किसके सिर पर सफलता का स्वर्ण मुकुट रखा जायगा। कोई भी राजनीतिवेत्ता इस सम्बन्ध

में सही-सही भविष्यवाणी कर पाने में असमर्थ ही रहता है। उस समय अंग्रेजों में इतनी संगठन शक्ति अथवा वैज्ञानिक प्रतिभा नहीं थी कि वे मराठों को भारत के राजनीतिक रंगमंच पर खड़ा होने में सदैव के लिए ही अयोग्य सिद्ध कर दें। साथ-ही-साथ अंग्रेजों के समक्ष कई स्वाभाविक कठिनाईयाँ और अवरोध भी अपना मुख फैलाए हुए खड़े थे। क्योंकि उन्हें विदेश में संघर्ष करना पड़ रहा था, जो कि उनकी मातृभूमि से सहस्रों मील की दूरी पर स्थित था। जापान ने भी, जो विगत एक शताब्दी से अपनी सुदृढ़ता और सिद्धता के कार्य में अहर्निश दत्तचित्त था, अपनी वैज्ञानिक एवं राजनीतिक शक्ति की महत्तम क्षति को अर्ध शताब्दी में ही अपने यूरोपीय प्रतिद्वन्दियों की तुलना में बहुत अंशों तक पूर्ण कर लेने में सफलता प्राप्त कर ली थी। वस्तुतः कई दृष्टियों से मराठे भी जापानियों के समान ही थे। वे भी उसी प्रकार सफलता प्राप्त कर सकते थे। विशेषतः जिस काल का उल्लेख किया जा रहा है, उस समय तक अंग्रेजों की शक्ति मराठों से इतनी श्रेष्ठ नहीं हो पाई थी कि वे मराठों को उस सर्वोच्च शक्ति के रूप में अर्जित की हुई ख्याति से वंचित कर दे जो उन्होंने मुगल, अफगान, पुर्तगाली, फारसी तथा अंग्रेज शक्तियों पर अपनी विजय की पावन पताका फहरा कर अर्जित की थी।

अंग्रेज भी इस तथ्य से सुविज्ञ थे अतः जब तक मराठा शक्ति एकता के पावन सूत्र में आबद्ध रही तब तक अंग्रेजों ने भी उससे खुल्लम-खुल्ला लोहा लेने का तथा उनके अधिकारों में हस्तक्षेप करने का दुस्साहस कदापि न किया। जब अंग्रेजों ने यह देख लिया कि मराठा जाति गृह-युद्ध की अग्नि में जलने लगी है और एकता के स्थान पर उनमें विरोध के विषैले विषधर फुफकारें मारने लगे हैं तभी उन्होंने मराठों की सत्ता को चुनौती देने का अनुपम और दुर्लभ अवसर समझ कर उनसे टकराने तथा उनके साथ शत्रुता की ज्वाला को धधकाने का साहस संजोया। वस्तुतः उस समय भी अंग्रेजों के अतिरिक्त कोई द्वितीय शक्ति इतना साहस नहीं

कर सकी। बंगभूमि और मद्रास में आवश्यकता से अधिक आहार पाकर अंग्रेजों का पेट इतना बढ़ गया था कि अब बम्बई प्रदेश में भी मराठा राज्य को निगलने की भूख उनमें जागृत हो गई। उन्होंने देख लिया था कि मराठा शक्ति आपसी संघर्ष और गृह-युद्ध की लपटों में झुलस कर तितर-बितर होती जा रही है। नीच राघोवा की जीभ में उस समय पुनः पानी भर आया। पराजित होने, साथियों द्वारा साथ छोड़ दिए जाने तथा देश-वासियों द्वारा निष्कासित कर दिये जाने पर भी उसकी सत्ता की भूख शान्त न हो सकी थी। अब उसके सिर पर पुनः यह पागलपन सवार हो गया कि महाराष्ट्र की जनता उसे भले ही न चाहती हो वह महाराष्ट्र पर अपना राज्य-शासन अवश्य ही स्थापित करेगा। अपनी इसी क्षुद्र मनोवृत्ति के वशीभूत उसने अंग्रेजों की शरण में जाकर नत-मस्तक होने का निश्चय कर लिया। इसके बदले में उसने अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता को भी परकीयों के हाथ बेच देने का सौदा करने में तनिक भी संकोच न किया। इस प्रकार अंग्रेजों को उसने यह अवसर प्रदान कर दिया कि वे मराठा साम्राज्य के उस दुर्ग की प्राचीरों को भूलुंठित कर दे जिसमें उसने अपने हाथों ही फूट वैमनस्य और गृह-कलह की अग्नि प्रज्वलित की थी। अंग्रेजों ने भी अपने ही बन्धु-बाँधवों के सर्वनाश के लिए उत्सुक राघोवा का हाथ इस शर्त पर अपने हाथों में थामा कि वह उनको इस शरण दान के बदले में २०-२५ लाख रुपए वार्षिक आय वाला प्रदेश बदले में दे देगा। अंग्रेजों से राघोवा का ज्यों ही समझौता सम्पन्न हुआ सालसिट, बसीन तथा भड़ौंच के लोगों ने उसे महाराष्ट्र के पेशवा के रूप में मान्यता दे दी। मराठों और अंग्रेजों में युद्ध की अग्नि प्रज्वलित हो उठने का समाचार ज्यों ही देश-भर में प्रसारित हुआ उन छोटे-छोटे राज्यों ने भी विद्रोह की पताकाएँ फहरा दीं जो अब तक मराठा साम्राज्य के ही अधीन थे। प्रायः सम्पूर्ण भारत में ही मराठा राज्य के विरुद्ध विद्रोह की चिनगारियाँ भभक उठीं। किन्तु नाना फड़नवीस जिनके

हाथ में उस समय क्रान्तिकारी सरकार का नियन्त्रण था। नितान्त दृढ़ता और धैर्यसहित इस सम्पूर्ण परिस्थिति का सामना करने हेतु सन्नद्ध हो गये। यद्यपि उस समय पूना की नव-स्थापित सरकार भी बड़ी असंगठित अवस्था में ही थी, किन्तु नाना फड़नवीस ने जितनी भी सेना संगठित हो सकी उसको संगठित कर हरिपन्त फड़के के नेतृत्व में उसे कर्नल कीटिंग की अंग्रेज सेना से मोर्चा लेने के लिए प्रस्थान करने का आदेश दिया। कर्नल कीटिंग की सेना मराठा राजधानी की ओर बढ़ती हुई आ रही थी। वीर हरिपन्त फड़के और उनके सैनिकों ने अपने ऊपर लिये गए इस उत्तरदायित्व को बड़ी वीरता और कुशलता सहित पूर्ण किया और नापार तथा अन्य कई स्थानों पर उन्होंने शत्रु दल के छक्के छुड़ाकर उन्हें यथासम्भव क्षति ग्रस्त भी करने में सफलता प्राप्त की। ठीक उसी समय अर्थात् सन् १७७७ ई० में सहसा ही भारत स्थित अंग्रेज सरकार की व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। इस नवीन व्यवस्था के अन्तर्गत भारत में अंग्रेज प्रशासक के रूप में बंगाल के शासक को ही सर्वोच्च घोषित किया गया। वह नहीं चाहता था कि मराठों और अंग्रेजों में युद्ध चलता रहे। अतः उसने मराठा राज्य से सन्धि करने हेतु अपना एक दूत भी पूना भेजा। नाना की भी यह इच्छा थी कि उन्हें भारत के विभिन्न अंचलों में मराठा शक्ति के विरुद्ध उठ खड़े हुए उपद्रवों तथा विद्रोहों का दमन करने के लिए समय प्राप्त हो। अतः वे भी सन्धि करने के लिए तैयार हो गये। वे तो उपयुक्त अवसर की खोज में थे ही अतः उन्होंने तत्काल ही अंग्रेजों से सन्धि सम्पन्न कर ली। इस सन्धि की शर्तों के अनुसार यह निश्चय किया गया कि अंग्रेजों के सालसिट और भड़ौंच पर अधिकार को मराठा शासन द्वारा मान्यता दे दी जायगी और अंग्रेज राघोवा को मराठा शासन को सौंप देंगे।

अंग्रेजों का उपद्रव ज्यों ही शान्त हुआ नाना साहब ने महादजी शिन्दे को महाराष्ट्र में उभरने वाली विद्रोह की ज्वालाओं को दबाने

का उत्तरदायित्व सौंप दिया। इसके अतिरिक्त मराठों के राज्य पर आक्रमण करने वाले हैदर को दण्डित करने का भार फड़के तथा पटवर्धन सरीखे सेनापतियों को सौंपा गया।

किन्तु जहाँ विभिन्न मराठा सेनापति अलग-अलग उत्तरदायित्वों को ग्रहण कर उन्हें पूर्ण करने हेतु रवाना हुए वहाँ अंग्रेजों ने सन्धि की इस शर्त को ठुकरा दिया कि वे राघोबा को मराठों को सौंप देंगे। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह समझकर पुनः युद्ध का रणघोष कर दिया कि अन्य स्थानों पर गई हुई मराठा सेना के पूना प्रत्यावर्तन के पूर्व ही वे नाना को वहाँ पहुँच कर पराजित कर देंगे। अंग्रेजों ने मराठा साम्राज्य का तख्ता उलट देने की आकांक्षा अपने हृदय में सँजोकर १७७९ ई० में कर्नल इगरटन के नेतृत्व में पूना पर चढ़ाई करने के लिए एक अंग्रेज सेना को भेज दिया। मराठों ने भी पुरन्धर में संपन्न हुई सन्धि को हृदय से स्वीकार नहीं किया और महादाजी को सम्पूर्ण आन्तरिक विद्रोहों का भी शमन करने में सफलता प्राप्त हो गई थी। अतः इस चिन्ता से मुक्ति प्राप्त कर उन्होंने भी अंग्रेजी सेना को रण की चुनौती दे दी। उन्होंने अपनी परम्परागत छापामार युद्ध कला का अवलम्बन आरम्भ कर दिया। अंग्रेजी सेना को भ्रमित कर मराठे उन्हें इतनी दूर ले गए कि उनका सम्बन्ध बम्बई से पूर्णतः विच्छिन्न ही हो गया! भीवराव पान्से ने भी इस अवसर पर अपनी रणनीति की श्रेष्ठता का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया। वह अंग्रेजी सेना के साथ-ही-साथ आगे बढ़ता रहा और उसने अंग्रेजी सेना को ऐसी किंकर्तव्य-विमूढ़ सी स्थिति में डाल दिया जिसमें कि अंग्रेजी सेना मराठों पर आक्रमण करने में सक्षम न हो सकती थी। किन्तु मराठा सैनिक जब अंग्रेजी सेना को पर्वतीय तलहटियों में घिरे हुए देखते थे तो उस पर टूट पड़ते थे। जिससे अंग्रेजी सेना मराठों पर विजय पाना तो दुष्कर, आत्मरक्षा करना भी एक कठिन कार्य प्रतीत होने लगा। मराठा सैनिक अपनी युद्धनीति से अंग्रेज सेना

को बारम्बार तितर-बितर कर देते थे। उसको रसद आदि पहुँचने के मार्ग में भी अड़चनें आने लगी थीं। अन्ततः जब इगरटन दर्रों के छोर तक पहुँचा तो उसका सम्बन्ध बम्बई से पूर्ण रूपेण विच्छिन्न ही हो गया। इतने पर भी अंग्रेज सेनापति ने आगे बढ़ते रहने का क्रम भंग नहीं किया। शत्रु सैन्य को अपनी राजधानी के समीप पहुँचते देखकर मराठों का इरादा और भी दृढ़ हो गया और वे अपने प्राण हथेली पर धर कर शत्रु सेना को पराजित करने हेतु कृत-संकल्प हो उठे। उन्होंने यह भी निश्चय किया कि यदि आवश्यकता पड़े तो तोलेगाँव से लेकर पूना तक के सम्पूर्ण क्षेत्र को निर्जन कर दिया जाए तथा राजधानी को भी शत्रुओं के अधिकार में जाने देने की अपेक्षा जलाकर राख कर दिया जाए। मराठों की इस महान राष्ट्र निष्ठा से अंग्रेज भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। खण्डाला के युद्ध के वीर मराठा सैनिकों ने कर्नल कूले को गम्भीर रूप से घायल कर दिया तथा उन्होंने किर्की के समरांगण में कप्तान स्टुअर्ट को सदैव के लिए काल के कराल गाल में फेंक देने में सफलता प्राप्त कर ली। इन घटनाओं से अंग्रेज के समक्ष दुःख का सागर उमड़ उठा। अंग्रेजों को पग-पग पर भयंकर क्षति उठानी पड़ रही थी किन्तु इतने पर भी अनुशासन पालन में अद्वितीय अंग्रेजी सेना निरन्तर आगे ही बढ़ती रही। अन्ततः वह तोलेगाँव तक पहुँचने में सफल हो गई। परन्तु वहाँ उन्हें अपना प्रतिरोध करने के लिए खड़ी दिखाई दी वीर सेनापति हरिपन्त फड़के तथा महादजी शिन्दे के नेतृत्व में सुसंगठित मराठा सेना। फिर भी अंग्रेजों ने बड़े जोश सहित मराठों पर धावा बोला। किन्तु उन्हें यह देखकर अत्यधिक आश्चर्य हुआ कि मराठा सेना शीघ्र ही कई भागों में विभाजित होकर यत्र-तत्र बिखर गई। उसने सुरक्षित स्थानों पर अपनी स्थिति सँभाल कर अंग्रज सेना पर चारों ओर से आक्रमण करने जारी रखे। उन्होंने अंग्रेज सेना को ऐसी स्थिति में डाल दिया कि न तो सैनिकों को भोजन ही मिल पाता

था और नही उनके अश्वों के लिए चारा। मीलों तक के क्षेत्र में ऐसी ही स्थिति विद्यमान थी। अंग्रेजों को यह संपुष्ट समाचार भी पहुँचाया गया कि यदि उनकी सेना अब और आगे बढ़ी तो उसे इससे भी अधिक भयानक स्थिति का सामना करने पर विवश होना पड़ेगा। किन्तु इतने पर भी वीर, पौरुषवान तथा हठी अंग्रेजों ने आगे बढ़ना बन्द न किया। किन्तु चतुर और स्फूर्ति के जीवित जागृत स्वरूप मराठा सैनिकों ने उन्हें भलीभाँति घेर कर सुस्पष्ट शब्दों में यह चेतावनी भी दे दी थी कि वे अपनी राजधानी को शत्रुओं के हाथों में जाने देने की अपेक्षा उसे जलाकर क्षार-क्षार कर देंगे। अंग्रेज सेनापति को भी इस तथ्य की अनुभूति हो गई कि पूना पर विजय प्राप्त करना प्लासी पर विजय पा लेने के समान कोई सरल कार्य नहीं। उसे अपने को इस विपदा और दुविधा से निकाल पाने का एक ही मार्ग दिखाई दिया कि वह बम्बई की ओर पीछे लौटना प्रारम्भ कर दे। यद्यपि अंग्रेज सेनापति के मन में यह विचार करते समय अपमान का एक तीक्ष्ण शूल भी कसमसा रहा था, किन्तु उसके समक्ष ऐसा करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प भी तो नहीं रह गया था। किन्तु पीछे हटना भी तो कोई सरल कार्य नही था अतः अंग्रेज सेनापति ने अपनी सेना को मराठों पर आक्रमण करने के उपरान्त शनैः-शनैः पीछे हटने का आदेश दिया। परन्तु मराठों को ऐसी चालबाजियों से परेशानी में डालने की कल्पना भी उतनी ही भौंडी थी जितनी यह कि कोई शिशु अपनी दादी को दूध पिला सकता है यह कल्पना है। मराठे तो इस प्रकार की चालबाजियों से भलीभाँति अवगत थे।

ज्योंही अंग्रेज सेना ने मराठों पर आक्रमण किया उन्होंने अपना घेरा और अधिक तंग कर दिया और आदेश प्राप्त होते ही वे भूखे सिंहों के समान अंग्रेज सेना पर टूट पड़े। अंग्रेजों ने भी युद्ध में अपनी वीरता का जी-भर कर परिचय दिया, किन्तु मराठा सैनिक टस-से-मस न हो सके। अन्ततः वड़गाँव की समर भूमि में अंग्रेज सेना के ६ हजार सैनिकों को

वीर मराठों के समक्ष आत्म-समर्पण कर देने के लिए विवश होना पड़ा। मराठों ने अंग्रेजों को पूर्णतः पराजित कर देने का यश प्राप्त कर लिया। उसी समय नाना, बापू और शिन्दे ने अंग्रेजों को आदेश दिया कि राघोबा को शीघ्रातिशीघ्र हमें सौंप दिया जाए तथा पुरन्दर की सन्धि के अन्तर्गत जिन दुर्गों पर अंग्रेजों ने अधिकार जमा लिया है वे भी मराठा प्रशासन को वापस लौटा दिए जाएँ। उन्होंने दो अंग्रेज अधिकारियों को उस समय तक के लिए अपनी हिरासत में भी ले लिया, जब तक कि अंग्रेज उपरोक्त आदेशों का पूर्णतः पालन नहीं करते।

एक मास तक मराठों को बन्दी बना रहने के उपरान्त अंग्रेज सेनापति को मराठा सरदारों के इस आदेश को स्वीकार करने का वचन देने पर बाध्य होना पड़ा। जिससे कि येनकेन प्रकारेण वह अपनी सेना को बम्बई वापस ले जाने में सफल हो सके। मराठों की इस महान् विजय का समाचार महाराष्ट्र के ग्राम-ग्राम और नगर-नगर की डगर-डगर में विद्युत् गति की भाँति फैल गया। विशाल यूनियन जैक (अंग्रेजों का ध्वज) मराठों के स्वर्ण गैरिक (भगवा) ध्वज के समक्ष नतमस्तक हो गया। यद्यपि उस समय मराठा जाति गृह-कलह की विभीषिका और पारस्परिक संघर्षों से ग्रस्त थी किन्तु उसने समय पड़ने पर संगठित होने की अपनी अक्षुण परम्परा का पुनः प्रदर्शन कर दिखाया था। उनकी प्रजातन्त्रीय सरकार ने अंग्रेजों-जैसे बलवान और वीर शत्रुओं को पराजित कर देने का पौरुष और पराक्रम प्रदर्शित किया था। वस्तुतः अंग्रेज ही एकमात्र शत्रु था जिसने इससे पूर्व मराठों की सर्वोच्च शक्ति और सत्ता को चुनौती देने का दुस्साहस प्रदर्शित न किया था। किन्तु ज्यों ही उसने यह प्रश्न उठाया उसी समय उसे नतमस्तक होकर अपनी भूल का परिमार्जन करते हुए पुनः मराठा राज्य सत्ता को हिन्दुस्थान की सर्व श्रेष्ठ शक्ति के रूप में स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा। उस समय के पत्रों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि—"हमारे राष्ट्र ने

अंग्रेजों को ऐसा पाठ पढ़ाया जैसा कि उन्हें अन्य कोई भी पढ़ा पाने में समर्थ नहीं था। इससे पूर्व उन्हें कभी भी इतना अधिक अपमान सहन नहीं करना पड़ा था। वस्तुतः मराठों की अपने बाल पेशवा में अनुपम अनुरक्ति थे। वह ही जन-जन की आकांक्षाओं का केन्द्र था। मराठे उसी राजा बनने वाले शिशु के महान भाग्य को अपनी विजय प्राप्ति का वास्तविक कारण समझते थे। उनकी मान्यता थी कि—"हमारे प्रिय शिशु राजकुमार का जीवन भी बाल्यावस्था से ही उतना ही चमत्कार-पूर्ण है जितना चमत्कार गोकुल के बालक (योगेश्वर श्रीकृष्ण) का था। अब हमारे शत्रु पूर्णतः मिट गए हैं और उनकी शक्ति का उन्मूलन करने में सफलता प्राप्त करती गई है। परम पिता परमात्मा ने ही हमारी जाति के महान उद्देश्य की प्राप्ति तथा हिन्दू धर्म के लिए किए जा रहे महान संग्राम तथा संघर्ष में हमें आशीर्वाद प्रदान किया है।

१६

अंग्रेज भी नतमस्तक हुए

"प्रतापमहिमा थोरजलार्मधि परि जलचर वुडविला ॥
"नवि मोहिम दरसाल देउनी शाह टिपू तुडविला ॥"

(टीपू पराक्रम की दृष्टि से जलचर के समान शक्तिशाली था, किन्तु प्रतिवर्ष मराठों द्वारा की जाने वाली चढ़ाई ने उसे धूल में मिला देने का शौर्य प्रदर्शित कर दिखाया।) ।"

एक विशाल अंग्रेज वाहिनी के पराजित होकर शस्त्रास्त्र रखकर नतमस्तक हो जाने का समाचार जब कलकत्ता के अंग्रेज शासकों को मिला तो वे क्रोधाग्नि से दग्ध हो उठे। अंग्रेज सेना की वापसी की अनुमति प्राप्त करते समय उसके सेनापति ने बड़गाँव में जो सन्धि की थी अंग्रेज शासकों ने उसकी पुष्टि करना अस्वीकार कर दिया। मराठों के प्रति हृदय में उत्पन्न हुए विद्वेष के कारण वे शत्रुता की भावना से भर उठे। यदि राघोबा जैसा नराधम किसी अन्य देश में होता तो उसे देश द्रोह के अपराध में मृत्यु के घाट उतार दिया जाता। किन्तु उसके सब अपराधों की उपेक्षा करके महाराष्ट्रवासी उसे एक राजकुमार के तुल्य सम्मान देते रहते थे। नीच प्रकृति के इस प्राणवान पुतले ने उनकी इस उदारता का बार-बार लाभ उठाया और वह पुनः भागकर अंग्रेजों की ही शरण में पहुँच गया। पुनः युद्ध का घनघोर गर्जन हो उठा। अंग्रेज सेनापति गोडार्ड ने गुजरात से आकर बसीन की ओर बढ़ने का प्रयास किया किन्तु मार्ग में उसका अवरोध करने के लिए आ डटा मराठा सेनापति रामचन्द्र गणेश। भयंकर युद्ध की ज्वाला धधक उठी। मराठा सेनापति ने अपने प्रचण्ड रण-कौशल का ऐसा शानदार परिचय दिया कि उसके शत्रुओं के मुख

से भी धन्य-धन्य की ध्वनि मुखरित हो उठी। उसकी विजय सुनिश्चित थी किन्तु सहसा ही नियति का चक्र विपरीत दिशा में चल पड़ा और इस वीर सेनानी को शत्रु पक्ष की ओर से चली एक गोली आकर लगी। वीर सेनापति घायल होकर अपने अश्व से गिर पड़ा। विजय का इतिहास पराजय में बदल गया और इस भाँति १७८० ई० में अंग्रेज सेनापति गौडार्ड को बसीन पर अधिकार कर लेने में सफलता प्राप्त हो गई। इस विजय से अंग्रेज सेना का उत्साह अपनी सीमाएँ लाँघ गया और जिन अंग्रेजों ने बड़गाँव में अपने प्राणों की रक्षार्थ मराठा वीरों के समक्ष आत्म-समर्पण किया था वही अब मराठा साम्राज्य की राजधानी पूना पर ही अपना विजय-ध्वज फहराने का स्वप्न लेने लगे। यद्यपि उन्होंने इससे पूर्व भी पूना को जीत लेने का स्वप्न लिया था किन्तु उनकी आशा-वल्लरी पर कुसुम कुसुमित होने के स्थान पर वह समूल ही नष्ट हो गई थी। अब अंग्रेज सेना ने पूना की ओर प्रस्थान किया। उसे यह आशा थी कि नाना साहब और उनके साथी भयभीत होकर शस्त्र समर्पण कर देंगे। परन्तु महान् मराठा राजनीतिज्ञ नाना साहब ने इससे पूर्व ही अंग्रेजों को नाकों चने चबाने की सिद्धता कर सम्पूर्ण भारत में ही उनके विरुद्ध अपना जाल फैला दिया था।

नाना साहब ने हैदरअली से इस बात की प्रतिज्ञा ले ली थी कि वह मद्रास पर आक्रमण करेगा तो उन्होंने भौंसले को बंगाल पर धावा बोलने के लिए सन्नद्ध कर दिया था। उन्होंने बम्बई से अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ फेंकने का महान् दायित्व स्वयं अपने ऊपर लिया था। इसी योजना के अनुसार हैदरअली ने फ्रांसीसियों की सहायता से मद्रास में अंग्रेजी शक्ति का कचूमर निकाल कर उल्लेखनीय सफलता अर्जित की। इधर परशुराम भाऊ १२ सहस्र वीर मराठों को अपने साथ लेकर अंग्रेजी सेना पर चारों ओर से छापे मारता रहा और उसको पूना की ओर प्रयाण करने से रोकता रहा। इसी भाँति नाना, तुकोजीराव होल्कर

तथा हरिपन्त फड़के ने तीस सहस्र की विशाल वाहिनी लेकर अंग्रेजी सेना का प्रतिरोध किया। अब जनरल गोडार्ड को भी इस तथ्य की अनुभूति हुई कि वह भी इगरटन के समान ही विकट परिस्थिति में फँस गया है। उसने समझ लिया कि यदि उसने भी जनरल इगरटन के समान ही आगे बढ़ने की भूल की तो उसे भी विपदाओं के महासागर में फँसना होगा। किन्तु साथ ही उसके समक्ष भी एक विचित्र दुविधाजनक स्थिति निर्माण हो गई थी। क्योंकि वह इतना अधिक आगे बढ़ चुका था कि अब उसके लिए भी पीछे पग धरना अपमान की ज्वाला में तो जलने की दुर्भाग्यपूर्ण घड़ी उपस्थित करता ही साथ ही उसको भारी क्षति भी उठानी पड़ती। इसलिए उसने निश्चय किया कि उसी स्थान पर जमकर अपनी शक्ति को संचित करे। परन्तु इस स्थिति में भी वह अधिक समय तक जमा न रह सका।

मराठों ने कैप्टन मैके और कर्नल ब्राउन पर आंक्रमण करउन्हें आश्चर्यचकित कर दिया और ऐसी स्थिति में डाल दिया कि वे गोडार्ड को रसद पहुँचाने में असमर्थ हो गए। स्थिति इतनी विकट हो गई कि अंग्रेज सेना का सम्बन्ध ही बम्बई से पूर्णतः विच्छिन्न हो गया। अन्ततोगत्वा स्थिति इतनी वीभत्स हो गई कि गोडार्ड को पूना पर विजय प्राप्त करने का स्वप्न ही त्याग देना पड़ा। निराशा ने उसे ऐसा धर कर दबाया कि उल्टे पांव लौट जाने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही दिखाई न दिया। ज्यों ही अंग्रेज़ सेना ने निराश होकर पीछे पग धरा त्यों ही वीरवर तुकोजीराव होल्कर और भाऊ की सेनाओं ने उसे घेरकर उस पर धावा बोल दिया यद्यपि अंग्रेजी सेना ने अपना पराक्रम और रण-कौशल दिखाने में कोई कमी न की किन्तु मराठा सेना ने उसे पूर्णतः पराजित कर दिया। इतिहास चक्र ने उस अंग्रेज सेनापति के मुख पर एक चपत जड़ दी जो मराठों की राजधानी पर अपना विजय ध्वज फहराने की काल्पनिक उड़ानें लेता हुआ उस ओर बढ़ा था। उसका यह भी सौभाग्य ही था

कि येन-केन प्रकारेण वह अपनी प्राण रक्षा करने में समर्थ हो गया। किन्तु उस लगभग अपनी सम्पूर्ण विस्फोटक सामग्री, बन्दूकें, डेरे और हजारों तोपों के गोले तथा अन्य रसद सामग्री एवं सहस्रों बैलों को छोड़कर ही बम्बई जाना पड़ा। इस प्रकार पूना पर अपनी विजय-पताका फहराने का अंग्रेजों ने दो बार प्रयास किया और एड़ी से चोटी तक का जोर भी लगाया किन्तु उन्हें मिली केवल पराजय और अपमान। निराशा सघन घन उनके भाग्य पर मँडराए और अंग्रेज उल्टे पाँव बम्बई में ही सिर छपाने के लिए चले गए। उन्हें जो अपमान अपने इन दुस्साहसों के फलस्वरूप सहन करना पड़ा वैसा पहले कभी सहन न करना पड़ा था।

उत्तर भारत में भी अंग्रेज मराठों से जम कर मोर्चा न ले सके। पहले पहल गोहद के राणा की सहायता प्राप्त कर अंग्रेजों ने सिन्धिया के ग्वालियर दुर्ग को घेर लिया था किन्तु महादजी सिन्धिया के प्रचण्ड आक्रमण का प्रहार सहन कर पाने से असमर्थ होकर उन्हें दुर्ग को छोड़कर हटना पड़ा। यद्यपि करनल मूर भी अपने मित्र की सहायतार्थ वहाँ पहुँचा किन्तु उसकी सहायता भी किसी काम न आई। हैदरअली से दक्षिण में पराजित होकर तथा बम्बई में तुकोजी और पटवर्धन से परास्त होकर एवं उत्तर में सिन्धिया से मार खाकर अंग्रेजों ने निश्चय किया कि नाना साहब द्वारा स्थापित मैत्री-शृंखला को भंग किया जाए। इस दृष्टि से उन्होंने प्रयास भी आरम्भ किया और महादजी सिन्धिया को इस बात के लिए फुसलाया कि वह अंग्रेजों के साथ एक पृथक् सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर कर दे। नाना फड़नवीस के साथ भी ऐसा ही प्रयास किया गया किन्तु उन्होंने अंग्रेजों को सुस्पष्ट शब्दों में बता दिया कि हैदरअली की सम्मति के बिना वे किसी भी सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करने को तैयार नहीं हैं।

मराठा नौसेना ने भी उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। उनके सुयोग्य सेनापति आनन्दराव धुलप ने अंग्रेजी सेना पर एक उल्लेखनीय सफलता

तो प्राप्त की ही, साथ ही उनके रेंजर नायक जलयान (जहाज) को युद्ध की लूट में प्राप्त सम्पदा के रूप में अपने नियंत्रण में ले लिया। जिन दिनों सन्धि वार्ताएँ चल रही थीं उन्हीं दिनों हैदरअली का निधन हो गया। अतः नाना ने १७८३ ई० में सन्धि कर ही ली। सन्धि के अनुसार अंग्रेजों ने रघुनाथराव को मराठों को सौंप दिया तथा सालसिट के अतिरिक्त मराठा राज्य के जितने क्षेत्र पर अंग्रेजों ने अधिकार जमाया था वह भी उन्हें मराठों को सौंप देना पड़ा। अंग्रेजों ने उन्हें यह विश्वास भी दिलाया कि वे किसी भी राजा को सहायता न देंगे। इसके बदले में मराठों ने भी अंग्रेजों को यह आश्वासन दिया कि वे कोई भी ऐसा कार्य नहीं करेंगे जिससे अंग्रेजों को किसी भाँति क्षति उठानी पड़े। इस सन्धि की सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह थी कि अंग्रेजों ने मराठों से यह प्रतिज्ञा की कि दिल्ली के राजनैतिक मामलों में किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप नहीं करेंगे और उस पर मराठों का पूर्ण अधिकार स्वीकार करेंगे तथा उनके किसी कार्य में बाधा उत्पन्न न करेंगे। इस भाँति मराठों और अंग्रेजों का प्रथम युद्ध समाप्त हो गया। वस्तुतः मराठों ने यूरोप की इस शक्ति को इस तथ्य का साक्षातकार करा दिया था कि अब तक उसने जिन मराठा वीरों की जिन तलवारों का पानी नहीं देखा था वे कोई पानी के बुलबुले नहीं थे। मराठों ने उन्हें इस सत्य से अवगत करा दिया कि वे बंगाल तथा मद्रास में भले ही कितने भी शक्तिशाली क्यों न हो गये हों, किन्तु यदि उन्होंने सह्याद्रि दुर्ग पर अपनी कुदृष्टि डालने का दुस्साहस किया अथवा मराठों के हिन्दू साम्राज्य को आँखें दिखाने की दुरभिसन्धि की तो उन्हें पूर्णतः पददलित होकर अपमान ही सहन करना पड़ेगा।

सलवाई में सम्पन्न हुई इस सन्धि के सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर होने के कुछ दिन उपरान्त ही राघोबा ने भी अपनी कुटिल चालों का परित्याग कर दिया। उसने अब यही उचित समझा कि वह अपनी जाति और राष्ट्र के शत्रुओं के हाथों की कठपुतली अधिक दिन तक न बना रहे।

वास्तव में उसने अपने दुष्कर्मों और घृणित आकांक्षाओं के कारण महाराष्ट्र के उन उच्च आदर्शों पर ही कुठाराघात किया था जिनके लिए मराठों के पूर्वजों ने तुमुल संग्राम चलाया था और आज स्थिति इतनी विपरीत हो गई थी कि मराठों में गृह-युद्ध की ही ज्वाला भड़क उठी थी। सलवाई की सन्धि सम्पन्न होने के कुछ समय पश्चात ही राघोबा का देहान्त हो गया। किन्तु मर कर भी राघोबा अपने पीछे एक ऐसा कलंक छोड़ गया जो अपनी जाति के लिए अमंगलकारी ही सिद्ध हुआ। यद्यपि राघोबा भी महाराष्ट्र के लिए पानीपत की पराजय से कुछ कम बड़ा आघात सिद्ध न हुआ था किन्तु मराठों के दुर्भाग्यवश राघोबा ने एक पुत्र को जन्म दे दिया था जिसका नाम उसके पितामह के नाम पर ही रखा गया था बाजीराव द्वितीय। इस पुत्र ने भी अपने पिता के समान ही मराठा जाति के लिए विष बीज बोये।

वस्तुतः उसने अपने पिता के उस मार्ग का अवलम्बन किया जिससे उसके पिता को हटाने के लिए मराठा जाति को भारी प्रयास करने पड़े थे। इसी बाजीराव द्वितीय ने महाराष्ट्र की स्वाधीनता को कोड़ियों के मोल बेचकर उसके सर्वनाश की क्रूर बेला उपस्थित कर दी। परन्तु जब तक नाना फड़नवीस और महादजी शिन्दे जीवित रहे उसे इस कार्य की सफलता न मिल पाई।

लोकप्रिय पेशवा—सवाई माधवराव

दैन्य दिवस आज सरले सवाई माधोराव
प्रतापि कलयुगि अवतरले ॥ ध्रु० ॥
सुन्दर रूप रायाचें कुणावर नाहिं रागें भरणें ।
कलगितुरा शिरपेंच पाचुची पडत होति सुखावर किरणें ॥
महोत्साह घरोघर लागले लोक करायाला ।
परशुराम प्रत्यक्ष आले जणुं छत्र धरायाला ॥

(कलियुग में जब प्रतापी माधवराव अवतरित हुए तो हमारी दैन्यता के दिवस समाप्त हो गये । वह परम रूपवान तथा शान्त स्वभाव और प्रकृति के आगार थे । उनके शीश पर सुशोभित मणि जटित कलगी की द्युति सदैव उनके मुख-मण्डल पर आलोक प्रसारित करती रहती थी । प्रत्येक गृह में उनके अवतरित होते ही प्रसन्नता की पुनीत सरिता प्रवाहित हो उठी और जन-मानस में यह विश्वास जागृत होने लगा कि राज्य शासन का संचालन करने हेतु स्वयं भगवान परशुराम ने अवतार ग्रहण कर लिया है ।)

नाना और महादजी वस्तुतः हिन्दू धर्म के मस्तिष्क तथा तलवार के तुल्य ही थे । उनका जन्म ही इस विशाल साम्राज्य के भार को अपने सशक्त कन्धों पर उठाने के लिए हुआ था । इंग्लैंड, फ्रांस और पुर्तगाल द्वारा जितने भी कुशल राजनीतिज्ञों को भारत भेजा गया उनमें से एक भी अपने बल विक्रम अथवा बुद्धि से इन महान् नेताओं को नीचा दिखाने में सफलता अर्जित न कर सका । यहाँ तक कि हैस्टिंग्स, वैलजली तथा कार्नवालिस के समान कुशल राजनीतिज्ञों को इनके समक्ष मुँह की खाने

पर ही विवश होना पड़ा। इन दोनों ही महान् नेताओं को हिन्दू राज्य के वैभव और साम्राज्य विस्तार को भलि-भाँति देखने का सुअवसर उपलब्ध हुआ था। इन्होंने नाना साहब और सदाशिवराव भाऊ सरीखे सुयोग्य नीतिज्ञों और पराक्रमी पुरुषों से महाराष्ट्र की नीति, उद्देश्य तथा कर्तव्य निष्ठी की शिक्षा ग्रहण की थी। पानीपत के समराँगण को भी ये दोनों ही योद्धा अपनी आँखों देख चुके थे। उस रणभूमि से वापस आकर इन्होंने रक्तरंजित भूमि पर धराशायी वीर पुरुषों के पावन उद्देश्य की पूर्ति का सत्संकल्प भी ग्रहण किया था। किन्तु उन्हें ऐसे साम्राज्य का कार्यभार अपने ऊपर लेना पड़ा जो गृह-युद्ध की विनाशक ज्वालाओं से दग्ध होकर विनाश के कगार पर ही खड़ा हुआ था। जिस साम्राज्य का शासक था एक नाममात्र का राजा और सेनापति एक बालक। इस साम्राज्य को इस विपरीत अवस्था में पड़ा हुआ देखकर उसका प्रचण्ड शक्तिसम्पन्न यूरोपीय शत्रु उसके विनाश की दुर्भावना को अपने हृदय में स्थान देकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति को संचित कर उस पर प्रहार करने में संलग्न था। इतने पर भी इन दोनों महान् नेताओं ने निराशा को अपने पास न फटकने दिया तथा अपने दुर्दम्य उत्साह प्रचण्ड शौर्य एवं तीक्ष्ण बुद्धि और विवेक-शक्ति के बल पर इन सम्पूर्ण कठिनाइयों से उन्होंने लोहा लिया और अपने महान् शौर्य सहित उन्होंने सभी विदोहियों के हौंसले तोड़कर उनको शान्त किया तथा अपने प्रचण्ड भुज-बल और दूरदर्शिता-पूर्ण नीति सहित उन्होंने इन विदोहियों को ही नहीं अपितु अपने यूरोपीय तथा एशियावासी शत्रुओं को भी पराजित करने का शौर्य प्रदर्शित किया। अपने साम्राज्य की विपन्नावस्था का सुधार करने और उसे एक नवीन क्रान्तिकारी सम्बल प्रदान करने और नियन्त्रित रखने का एक महान किन्तु गुरुतर दायित्व उन्हें वहन करना पड़ा, जिसका परिणाम क्या होगा इसके सम्बन्ध में भी वे सुनिश्चित रूप से कुछ नहीं समझते थे। किन्तु उनकी यह क्रान्ति ज्वाला उनके

साम्राज्य के शत्रुओं की उमंगों को क्षार-क्षार कर देने में सफल सिद्ध हुई।

इसलिए यह तो सर्वथा स्वाभाविक होने के साथ राजनयज्ञता का भी परिचायक ही था कि वे अपनी इस महान विजय की अभिव्यक्ति किसी महान उत्सव का आयोजन करके करते। जिससे कि विश्व को भी उसकी अनुभूति हो जाती। उन्होंने बाल पेशवा माधवराव के विवाहोत्सव का आयोजन करना इस अभिव्यक्ति के लिए सर्वोत्तम हेतु समझा। उन्होंने विचार किया कि इस ढंग से ही वे इस वि योतत्व का परिपालन भली भाँति कर सकते हैं। बाल पेशवा प्रजा द्वारा मनोनीत था और उसी के लिए महाराष्ट्र ने युद्ध के साज ही नहीं सजाये थे अपितु समरभूमि में अपनी तलवारों के जौहर भी प्रदर्शित किये थे। जिस पेशवा की हत्या की दुरभिसन्धि को अपने हृदयों में संजोकर महाराष्ट्र के शत्रुओं ने केवल युद्धभूमि में ही दो-दो हाथ नहीं किये अपितु विष देकर भी उसके प्राण लेने के क्षुद्र प्रयास किये गये। अन्य अनेक गुप्त षड्यन्त्रों द्वारा जिसकी हत्या के प्रयास हुए थे, वह आज सब प्रकार के संकटों से सुरक्षित था। उसको सब भाँति सकुशल अपने मध्य पाकर महाराष्ट्र के जन-जन का आह्लाद की पुनीत गंगा में अवगाहन करना स्वाभाविक ही था। जिस भाँति अत्याचारी कंस के क्रूर अत्याचारों में भी कन्हैया को सर्वविधि सुरक्षित पाकर गोकुलवासियों ने आनन्दोत्सवों का आयोजन किया था उसी भाँति शत्रुओं के षड्यन्त्रों के बावजूद बाल पेशवा को पूर्णतः सुरक्षित देखकर महाराष्ट्र के घर-घर में भी मंगल गीतों के स्वर गूँज उठे थे। इस महान शाही महोत्सव में भाग लेने के लिए महाराष्ट्रवासियों के प्रचण्ड समूह एकत्रित होने लग गये थे। महाराष्ट्र के वीर राजकुमार, साहित्यकार, कवि लेखक, सेनापति तथा राजनयज्ञ सभी अपने प्रियप्रतापी राजकुमार के दर्शन करने तथा उसके विवाहोत्सव में सम्मिलित होने हेतु पूना में एकत्र होने लगे थे। विदेशी शत्रु यह दुराशा लगाये हुए थे कि महाराष्ट्र-मण्डल गृह-कलह की अग्नि में झुलसकर खण्ड

खण्डित होकर नष्ट हो जाने वाला है। उनकी इस आशा को निराशा में परिणत करने के लिए नाना ने प्रधानमन्त्री (पेशवा) के विवाह की शोभा बढ़ाने हेतु महाराष्ट्र के छत्रपति को भी आमन्त्रित किया। उन्होंने भी इस आमन्त्रण को स्वीकार किया और वे पूना पहुँच गये। जब वे महाराष्ट्र मण्डल की राजधानी में पधारे तो उनका नितान्त भव्य और शासकीय समारोहों सहित अभिनन्दन किया गया।

इस महान और एतिहासिक अवसर पर महाराष्ट्र के छत्रपति राज्य सिंहासन पर सुशोभित हो रहे थे और उनके चारों ओर बैठे हुए थे प्रमुख शासक सेनापति, राजनयज्ञ एवं राजकुमार। इनमें से कई शासक तो ऐसे थे जिनके द्वारा शासित प्रदेश दूसरे महाद्वीपों के एक-एक राज्य के बराबर थे। उस राजसभा में पटवर्धन, रास्ते और फड़के जाति के सरदार विद्यमान थे तो होल्कर, सिन्धिया, पंवार और भौंसले के प्रतिनिधि भी उस महान सभा की शोभा बढ़ा रहे थे। उस अवसर पर हरिद्वार से लेकर पुनीत रामेश्वर धाम तक के विद्वतजन उपस्थित थे। जयपुर, जोधपुर और उदयपुर के महाराजाओं को भी इस शुभ अवसर पर आयोजित सुसमारोह में भाग लेने के लिए निमन्त्रण दिये गये थे और उनके प्रतिनिधि भी इस दरबार में विद्यमान थे। इतना ही नहीं अपितु निजाम, मुगल राज्य और भारत में आई हुई यूरोपीय शक्तियों ने भी अपने राजकुमारों और प्रतिनिधियों को इस अवसर पर भेंट देने के लिए वहाँ उपस्थित रहने का निर्देश देकर भेजा था। महाराष्ट्र मण्डल की राजधानी से कई मील की दूरी तक अश्वों तोपों और पैदल सेनाओं के शिविर पड़े हुए दिखाई दे रहे थे। जिसको देखने मात्र से ही महाराष्ट्र की प्रचण्ड सैन्य शक्ति का दर्शक को भली-भाँति आभास हो जाता था। आंग्रे और धुलप जैसे विक्रमशाली नौसैनिक सेनापति भी वहाँ उपस्थित थे। पेशवा की ओर से अतिथि सत्कार की व्यवस्था सेनानायक आंग्रे ने नितान्त योग्यता सहित सँभाली थी। उस प्रचण्ड जनसमुदाय पर फहरा रही

थी स्वर्ण गैरिक (भगवा) पताका। यह ध्वज मानों सम्पूर्ण राष्ट्र को स्वधर्म, स्वराज्य अथवा हिन्दू-पद-पादशाही की स्थापना और उसके महान कर्तव्य का निर्देश दे रहा था। सुनिश्चित संकेत के होते ही पैदल, अश्वारोही और तोपों का संचालन करने वाली सेनाओं के वाद्यों से स्वर मुखरित होने लगे और गूँज उठी एक प्रचण्ड ध्वनि "प्रिय राजकुमार की जय,"। दशों दिशाएँ सहस्रों कण्ठों से उठते हुए इस प्रचण्ड नाद से गुंजित हो उठीं। ठीक उसी समय सौन्दर्य के मूर्तिमान स्वरूप कुमार पेशवा अपने अंगरक्षकों सहित नितान्त धूमधाम से राजभवन में प्रविष्ट हुए। सम्पूर्ण उपस्थित जनसमूह उनकी अभ्यर्थना और मानवन्दना हेतु खड़ा हो गया। सभी के मस्तक झुक गये और इस भाँति उन्होंने पेशवा के समक्ष अपनी राष्ट्रनिष्ठा और राज-भक्ति की अभिव्यक्ति की। किन्तु उपस्थित जन-समाज में उस समय आश्चर्य की लहर दौड़ गई जब उसने देखा कि भारत का वास्तविक शासक बाल पेशवा पुष्पहारों को अपने हाथों में लपेटे हुए सतारा के छत्रपति की ओर बढ़ रहा है जो सभा के मध्य सिंहासन पर विराजमान थे। बाल पेशवा ने हाथ जोड़े हुए थे। यही थी उस समय की सुनिश्चित व्यवस्था कि पेशवा महाराज के समक्ष करबद्ध होकर उपस्थित हो और यह अभिव्यक्ति करे कि वह महाराज के ही अधीन है। इस पावन दृश्य का अवलोकन करते हुए प्रचण्ड तेजस्वी और रणकुशल योद्धाओं के नेत्रों से भी आल्हाद का गंगाजल उछल-उछल कर उनके कपोलों पर प्रवाहित हो उठा। आनन्द और हर्षातिरेक से उनके हृदय भर उठे। शान्त और विरक्त मन्त्री के गम्भीर मुखमण्डल पर भी प्रसन्नता विस्फारित हो उठी और उनके नेत्रों से भी आनन्दाश्रुओं का स्रोत फूट पड़ा।

इस महान् उत्सव ने सम्पूर्ण महाराष्ट्र मण्डल में नवजीवन का सृजन कर दिया। अनेकता से ग्रस्त महाराष्ट्र आज पुनः एकता के पावन सूत्र में आबद्ध गया था। अन्यान्य भारतीय नरेश और योरोपीय

शक्तियाँ जो महाराष्ट्र में व्याप्त गृह-कलह पर अपने मन के लड्डू मन में ही फोड़ती रहती थीं नाना तथा महाराष्ट्र के अन्य नेताओं की इस महान् सफलता को निहार कर निराशा के महासागर में डूब गई। इस महोत्सव ने महाराष्ट्र के नेताओं के हृदय पर भी कम प्रभाव नहीं डाला। प्रजातन्त्र के पुनीत गौरव से उनमें आत्माभिमान की गौरवपूर्ण भावना जागृत हुई और उन्होंने इस तथ्य का भली भाँति दर्शन कर लिया कि पृथक्-पृथक् रहकर राज्य स्थापित करने की अपेक्षा सघबद्ध होकर प्रयास करना कितना श्रेष्ठ है।

ज्यों-ज्यों गृह-कलह की विद्रूप भावनाओं का शमन होता गया त्यों-त्यों महाराष्ट्र-मण्डल उन्नति और वैभव की ओर अग्रगामी होने लगा। नाना फड़नवीस तथा उनके अन्य सहयोगियों द्वारा प्रशासन, न्याय तथा आय-व्यय इत्यादि की इतनी सुदृढ़ व्यवस्था की गई कि सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में महाराष्ट्र की शासन व्यवस्था के सर्वोत्तम होने की धाक बैठ गई। भूमि कर के निर्धारण और उसकी उपलब्धि, न्यायालयों में धनी और निर्धन सभी को समान दृष्टि से न्याय की प्राप्ति और सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था व जनसाधारण को इस तथ्य की अनुभूति कि उस महान कर्तव्य की पूर्ति कितनी आवश्यक है, जिसके लिए उनके वीर पूर्वजों ने अपना रक्तदान दिया है भी इस प्रशासन ने करा दी थी। उन्होंने महाराष्ट्र के जन-जन में यह आत्म गौरव की भावना उत्पन्न कर दी थी कि उनका सम्बन्ध एक ऐसे वर्ग से है जो हिन्दू धर्म की रक्षा और स्वतन्त्रता हेतु अपने ऊपर एक महान् दायित्व ग्रहण किए हुए है। इन समस्त भावनाओं के जनमानस में बद्धमूल हो जाने के कारण महाराष्ट्र का प्रत्येक हिन्दू इस काल को अपने लिए सौभाग्यपूर्ण मानने लग गया था। राष्ट्र के जन-जन में इस गौरवपूर्ण भावनाओं का प्रसार हो रहा था। प्रतिदिन ही किसी-न-किसी विजय का शुभ समाचार एवं अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि की सूचना की प्राप्ति से जन मानस में उत्साह की

भावना और भी अधिक बलवती होती जा रही थी। सामान्यतम व्यक्ति के हृदय में भी यह विश्वास पनपता जा रहा था कि यह काल अपने देश के लिए एक गौरवपूर्ण युग है और इस सम्पूर्ण सुखद परिस्थिति के निर्माण का कारण है बाल पेशवा माधवराव के अच्छे ग्रह। महाराष्ट्र के जनमानस में यह "जनश्रुति फैल गई थी कि प्रथम माधवराव पेशवा ने ही मुस्लिम तथा अन्य विदेशी सत्ता धारियों की अपावन आकांक्षाओं को समूल नष्ट करने के लिए ही पुनः जन्म ग्रहण किया है, जिससे आसेतु हिमाचल पुनः शक्ति सम्पन्न हिन्दू साम्राज्य की स्थापना का पुनीत कार्य सम्पन्न किया जाए। वे समझने लगे थे कि जब से बाल पेशवा ने जन्म ग्रहण किया है तभी से राष्ट्र पताका पर स्वयं भाग्यदेवी आरूढ़ हो गई है। इस प्रकार के अन्य विश्वास और जनश्रुतियाँ भी यदा-कदा राष्ट्र की आत्मा की परोक्ष वाणी ही सिद्ध होती हैं और उनसे भी राष्ट्र-कार्यों एवं विजय अर्जित करने में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है।

सलबाई की सन्धि सम्पन्न होते ही नाना ने हैदरअली के उत्तराधिकारी तथा महाराष्ट्र के घोर शत्रु टीपू के होश ठिकाने लगाने के लिए परशुराम भाऊ एवं सेनापति पटवर्धन को आवश्यक निर्देश दिए थे। १७८४ ई० में युद्ध की पृष्ठभूमि भी निर्माण हो गई। उस समय टीपू ने नारगुन्ड के हिन्दू राजा को अपने उत्पीड़न और अत्याचारों से क्षुब्ध कर दिया था और उसने मराठों से सहायता प्राप्ति के लिए याचना की थी। सेनापति पटवर्धन और वीर होल्कर के अधिनायकत्व में मराठा रणवाहिनी ने टीपू के मुख पर भी पराजय की कालिख पोत दी और उसे भी महाराष्ट्र मण्डल के साथ सन्धि कर लेने पर विवश हो जाना पड़ा। टीपू ने वचन दिया कि वह भविष्य में नारगुन्ड के हिन्दू राज्य पर कभी कुदृष्टि डालने का दुस्साहस नहीं करेगा। उसे चौथ की बकाया राशि भी मराठा सरदारों को चुका देनी पड़ी। परन्तु ज्योंही मराठा सेना ने पीठ फेरी वह विषधर सर्प के समान फण हाथ से छूटते ही पुनः

फुफकार उठा। उसने दिए वचनों को भुलाकर अपने पूर्वजों का ही अनुगमन करते हुए नारगुन्ड के राजा ही नहीं अपितु उसके सम्पूर्ण परिवार का नितान्त निर्ममता सहित वध करा दिया और नरेश की कन्या को अपने हरमखाने (अन्तःपुर) में लिवा ले गया। तदुपरान्त उसकी लिप्सा और भी अधिक बढ़ गई। उसके मन में भी यह आकांक्षा बलवती हो गई कि मुसलमान मुल्ला मौलवियों द्वारा उसे भी गाजी, तैमूर, औरंगजेब आदि महान् पदवियों से विभूषित किया जाए। स्वर्गोपम सुखों का एकाधिकारी बनने की उसकी मानसिक भड़ास ने उसकी बुद्धि को इतना विकृत कर दिया कि उसने कृष्णा और तुंगभद्रा सरिताओं के मध्य क्षेत्र में रहने वाले हिन्दुओं को अपने दमन और प्रकोप की ज्वाला में दग्ध करना प्रारम्भ कर दिया। हिन्दू जनता को इस्लाम स्वीकार करने पर मजबूर करने के लिए उससे जितने भी जघन्य अत्याचार बन पड़े, उसने निस्संकोच किए। मराठों को अपनी रोषाग्नि का परिचय देने के लिए ही संभवतः उसने बलात् सहस्रों लोगों की सुन्नत करा दी और उन पर भाँतिभाँति के अकथनीय अत्याचार किए। इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी स्मरणीय है कि जो लोग मुस्लिम सेना से युद्ध करते-करते अपने प्राण विसर्जित कर गए उन्होंने यह बलिदान छत्रपति महाराज शिवाजी तथा समर्थ गुरु रामदास के आदेशों के अनुसार संगठित होकर नहीं किया किन्तु इतने पर भी यह तो कहना उपयुक्त ही होगा कि उन्होंने अपमानित होने के स्थान पर मृत्यु को ही गले लगाना श्रेयस्कर समझा था यह तथ्य उल्लेखनीय है कि उस समय लगभग दो सहस्र ब्राह्मणों ने टीपू के दमन चक्र के आगे नतमस्तक होकर मुसलमान बन जाने की अपेक्षा अपने धर्म की रक्षा करते-करते मृत्यु की डोरी को गले लगाने में ही गौरव का अनुभव किया।

यों तो महाराष्ट्र मण्डल का आन्दोलन प्रारम्भ होने से पहले से ही धर्म के लिए अपना बलिदान चढ़ा देने की धर्मनिष्ठों की एक परम्परा-सी

ही बन गई थी, किन्तु समर्थ स्वामी रामदास ने सह्याद्रि के पर्वत शिखरों पर चढ़कर एक ही गर्जना की थी कि ऐसा करना एक भयंकर भूल है। वे कहते थे कि "मुसलमान होने के स्थान पर अपना बलिदान चढ़ा देना तो श्रेष्ठ है किन्तु उससे भी अधिक श्रेयस्कर होगा ऐसी स्थिति का निर्माण करना कि हमें कोई मुसलमान बनाने की कल्पना ही न कर सके। हमें अत्याचारी शक्ति का ही समूलोच्छेद कर देना चाहिए। यह तो श्रेष्ठ है कि धर्म की रक्षार्थ अपने प्राणों का हँसते-हँसते बलिदान चढ़ा दिया जाए किन्तु उससे भी अधिक श्रेष्ठ है अपने प्राण विसर्जित करने के पूर्व शत्रुओं को भी मौत के घाट उतारना।"

समर्थ स्वामी रामदास के सैकड़ों शिष्यों ने उनके इस महान् सिद्धान्त का प्रचार मठों और मन्दिरों में भी गुप्त रीति से करना प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने घर-घर में जाकर यह सिद्धान्त समझाया कि केवल काँटों का ताज ही लेने की आकांक्षाएँ न रखो अपितु विजय का राजमुकुट धारण करने के लिए भी निरन्तर प्रयत्नशील रहो। इन सभी तथ्यों से अवगत होते हुए भी टीपू ने उस स्थिति में ही हिन्दुओं के बलात् धर्म-परिवर्तन का कार्य आरम्भ कर दिया जबकि छत्रपति शिवाजी के वंशजों की विजय पताका पूना में फहरा ही रही थी। आन्ध्र, कर्णाटक और तमिल प्रदेश के सहस्रों ब्राह्मणों तथा अन्य हिन्दुओं की करुण गुहारों से पूना भी गूँज उठा। उन्होंने मराठों से अनुरोध किया कि उन्हें मुस्लिम अत्याचारों से मुक्ति दिलाई जाए। क्या ब्राह्मणों द्वारा संचालित शासन इस करुण पुकार पर निश्चल रह सकता था? क्या कृष्णा नदी के इस तट पर स्थित मराठा हिन्दू राज्य अपने धर्मावलम्बियों के इस दमन और उत्पीड़न पर मौन धारण कर शान्त बैठ सकता था? नहीं, नहीं, ऐसा करना उसके लिए कदापि संभव न था। वस्तुतः टीपू की ये गतिविधियाँ मराठों के लिए एक प्रकार की चुनौती थी। उसने महाराष्ट्र-मण्डल को युद्ध के लिए ललकारा था। टीपू की इस चुनौती को मराठों ने

भी बड़ी प्रसन्नता सहित स्वीकार किया। यद्यपि मराठा सेना उन दिनों उत्तर भारत में युद्धरत थी, किन्तु नाना ने अपने धर्म-बन्धुओं के इस दुःख को मिटा देने का संकल्प ग्रहण कर प्रस्थान कर दिया। उसने निजाम को इस शर्त के साथ अपने साथ मिला लिया कि जितने प्रदेश पर विजय प्राप्त की जाएगी उसका तृतीयांश निजाम को दे दिया जाएगा। तदुपरान्त उन्होंने मराठा सेना को आदेश दिया कि पूर्ण शक्ति सहित टीपू पर मर्मान्तिक प्रहार किया जाए। इस निर्देश के अनुसार ही मराठा सेनापति पटवर्धन बेहरे तथा अन्य सैनिक एकत्रित हुए। मराठा सेना को कई भागों में विभाजित कर दिया गया और शत्रु के बडामी आदि दुर्गों पर अधिकार जमा कर उसे इतना अधिक अधीर और परेशान कर दिया गया कि उसे अपने प्राणों की रक्षार्थ पलायन कर पर्वत की खोहों में अपनी प्राण-रक्षा का साधन खोजना पड़ा। किन्तु गाजी बनने का स्वप्न लेने वाले उस टीपू को जिसने हिन्दू नारियों, बालकों और शान्त भाव वाले सन्यासियों को अपने अत्याचारों की आग में जलाया था, वहाँ भी नहीं छोड़ा गया। जब टीपू को इस तथ्य की अनुभूति हो गई कि यह विशाल और सुदृढ़ हिन्दू शक्ति उसे विश्व के किसी भी कोने में शान्ति सहित नहीं रहने देगी तो उसने विवश होकर उसके साथ सन्धि कर लेने का ही निश्चय किया।

जिस टीपू सुलतान की तलवार की तीक्ष्ण धार ने सहस्रों हिन्दुओं के रक्त से अपनी प्यास बुझाई थी, जिसने हिन्दू बालक-बालिकाओं तक को भी अपने अत्याचारों के बवण्डर में झोंका था, उसी के अत्याचारों ने हिन्दुओं के रक्षक को भी इस बात के लिए विवश किया था कि वह अपने धर्म-बन्धुओं की रक्षार्थ अपनी सेना भेजे। अब टीपू विवश था और उसे नारगुंड, कित्तूर तथा बडामी के राज्यों को मराठों को सौंप ही देना पड़ा। उसने अवशिष्ट राजस्व की ३० लाख रुपए की राशि भी तत्काल ही मराठों को चुका दी। साथ ही यह भी वचन दिया कि वह उसी

वर्ष में १५ लाख रुपए की राशि उन्हें और देगा। यदि मराठे इच्छा रखते तो वे भी उन मुल्ला मौलवियों को शिखाधारण करने पर विवश कर सकते थे जो टीपू के निर्देशानुसार हिन्दुओं की शिखाएँ काटते रहे थे, किन्तु न तो उन्होंने इनसे ऐसा दुर्व्यवहार किया और न ही उनकी किसी मस्जिद की ईंट तक को हटाया। न उन्होंने किसी मुसलमान को बलात् हिन्दू बनाया और न ही उनकी बालिकाओं को उनके घरों से निकालने का कृत्य किया। उन्होंने दूसरे धर्म का अवलम्बन करने वालों को बलात् हिन्दू बनाने का कदापि प्रयास न किया। ऐसी सभ्यता और शौर्य का प्रदर्शन मराठों के वश की बात न थी क्योंकि उन्होंने तैमूर, अल्लाउद्दीन, औरंगजेब अथवा टीपू के समान कुरान की शिक्षा प्राप्त नहीं की थी। वे ऐसे कार्यों को करने में भी अपना पतन मानते थे। धर्म के संरक्षक मुसलमानों के अतिरिक्त कोई काफिर (हिन्दू) भला ऐसा 'सत्कर्म' करने का साहस किस भाँति कर सकता है ?

जब मराठों को दक्षिण भारत की हिन्दू जनता को टीपू सुलतान के क्रोध से मुक्त करा लेने में सफलता प्राप्त हो गई तो उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सैन्य शक्ति का संचय कर उत्तर भारत के शत्रुओं का दमन करने का निश्चय किया। अब तक इन शत्रुओं के प्रतिरोध और अवरोध का कार्य अकेले महादजी सिन्धिया ही कर रहे थे। सलबाई की सन्धि सम्पन्न हो जाने के बाद महादजी उत्तर भारत में चले गए थे। अंग्रेजों की सुशिक्षित सेना का उनके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा था। इसलिए उन्होंने भी पानीपत के अमर सेनानी वीरवर सदाशिव राव भाऊ द्वारा अपनाए गए उपायों का अवलम्बन करना ही श्रेयस्कर समझा। उन्होंने ही सर्वप्रथम अपनी सेना को यूरोपीय-पद्धति के अनुसार प्रशिक्षित किया तथा उसे अनुशासन-बद्ध किया। महादजी ने इस कार्य के लिए डी० बोइन नामक एक फ्रांसीसी सेनापति की सेवाएँ प्राप्त कर ऐसी सुविशाल और सुशिक्षित सेना का संगठन किया कि वह किसी भी यूरोपीय सेना

का भलीभाँति सामना करने में समर्थ थी। अपनी इस सिद्धता के कारण वे इतने अधिक शक्ति-सम्पन्न हो गए कि उत्तर भारत के मराठों के सभी शत्रु उनकी शर्तों के अनुसार सन्धि कर लेने पर विवश हो गए। स्मरणीय है कि पराजित होने के उपरान्त अंग्रेजों ने दिल्ली की शाही राजनीति में हस्तक्षेप न करने का मराठों को वचन दिया था, किन्तु वे धीरे-धीरे असन्तोष की ज्वाला को सुलगाने में सक्रिय ही रहे और उन्होंने अपना यह प्रयास जारी रखा कि येन-केन प्रकारेण शाह आलम को अपने हाथों की कठपुतली बना लिया जाए। वे उसे मराठों के पास न जाने देने की चेष्टा करके महादजी का मार्ग अवरुद्ध करने में लगे ही रहे।

परन्तु इतना सब कुचक्र चलते रहने पर भी महादजी ने दिल्ली की शाही राजनीति की बागडोर को अपने हाथों में दृढ़ता सहित थामे ही रखा। उन्होंने वजीर के पद के लिए मुसलमान प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित किया तथा वे बादशाह को दिल्ली में ले आए। जब अंग्रेजों और मुसलमानों को यह विदित हुआ कि शाहआलम ने महादजी को ही अपना वजीर घोषित किया है तथा शाही सेना का संचालन भी उन्हीं के हाथों में रखने के साथ उन्हें दिल्ली और आगरा के दोनों प्रदेशों की शासन-व्यवस्था भी सौंप दी है, वे भी बादशाह की परवशता पर अत्यधिक दुखी हो उठे। इस भाँति महादजी ने मुसलमानी साम्राज्य के कफन में कील गाड़ देने का कार्य सम्पन्न कर दिखाया। उनके शौर्य का सिक्का यहाँ तक जमा कि मुगल सम्राट् ने उन्हें वजीर-ए--मुगल ही नहीं बनाया अपितु अपने नाम पर सम्पूर्ण राज्य-प्रबन्ध चलाने की स्वीकृति भी दे दी। महादजी को महाराधिराज स्वीकार कर लिया गया। इसके बदले में मुगल सम्राट् ने उससे माँगे अपनी जेब खर्च के लिये ६५,०००रुपये तथा यह भी कहा कि नाम-मात्र के लिए उसे बादशाह भी कहा जाता रहे। इस चौंका देने वाले संवैधानिक परिवर्तन से उत्पन्न स्थिति को उस समय के एक मराठा संवाददाता के शब्दों में इस भाँति व्यक्त किया गया है

"अब साम्राज्य हमारा हो गया है। वृद्ध मुगल अभी भी है, किन्तु वह इच्छापूर्वक ही हमारी पैंशन पर आश्रित हो गया है। उसे अभी भी बादशाह कहा जाता है, वह इतना ही चाहता भी है और हम भी उसे कुछ दिनों तक ऐसा ही प्रदर्शित करते रहना चाहते हैं।" अंग्रेजों ने भी जब अपने आपको ऐसी स्थिति में पाया तो उनके समक्ष भी यही विकल्प रहा कि वे १८५७ तक उसे बादशाह कह कर सम्बोधित करते रहे। महादजी भी इस घटना की अभिव्यक्ति समस्त हिन्दुओं को कोई नैतिक आह्वान् देकर करने के इच्छुक थे। अतः सम्पूर्ण भारत में गाय और बैलों की हत्या पर प्रतिबन्ध की घोषणा के रूप में हिन्दू प्रशासन की यह अभिव्यक्ति की गई। महादजी यह भी नहीं चाहते थे कि यह राजनैतिक सत्ता केवल मौखिक मात्र ही रहे। मराठों को बहुत दिनों तक केवल राजा कहलाना ही स्वीकार नहीं था। अतः उन्होंने उन सम्पूर्ण चित्रों आदि को हटाना आरम्भ कर दिया जो हानिकारक सिद्ध हो रहे थे। उन्होंने महाराष्ट्र मण्डल के नेतृत्व में गठित महान् और शक्तिशाली हिन्दू साम्राज्य के तत्वों को स्थान देना आरम्भ कर दिया जिससे किसी नवीन चेतना का प्रस्फुरण हो सके। महादजी ने सर्वप्रथम अंग्रेजों को ही राज्य तथा चौथ और सरदेशमुखी चुका देने का आदेश दिया जो उन पर बकाया थी तदुपरान्त उन्होंने उन जमीदारों तथा प्रशासकों पर राजस्व लागू किया जो वर्षों से स्वतन्त्र शासकों के रूप में अपना शासन चलाने लग गए थे। उनके इस पग से सम्पूर्ण उत्तरी भाग में ही एक प्रचण्ड बवण्डर उठ गया। इस कारण सभी अमरी और अमीर तथा खान मराठों के विरुद्ध अपने शस्त्र संभाल कर खड़े हो गये। इतना ही नहीं अपितु, राजा और रावों ने भी उस एकमात्र हिन्दू शक्ति के विरुद्ध मुसलमानों तथा अंग्रेजों से गठबन्धन कर लिया, जो हिन्दू साम्राज्य को स्थापित करने में सक्षम थी। यद्यपि यह नितान्त स्वाभाविक ही था किन्तु था दुर्भाग्यपूर्ण।

जयपुर और जोधपुर के दो राजपूत राज्यों ने मराठों के विरुद्ध इतना शक्तिशाली गठबन्धन किया, जितना शक्तिशाली मोर्चा वे कभी मुसलमानों और अंग्रेजों के विरुद्ध भी न बना सके थे। उन्होंने लालसोत के स्थान पर मुसलमानी सेनाओं को साथ लेकर सिंधिया की सेना से घोर संग्राम भी किया! युद्ध जिस समय विकराल रूप ले चुका था ठीक उसी समय सिंधिया के नेतृत्व में लड़ने वाली शाही मुस्लिम सेनाने भी पूर्ण निश्चित इंगित के मिलते ही महादजी का साथ छोड़ दिया और वह राजपूतों के साथ जा मिली। इस भाँति सहसा ही विश्वासघात की इस घटना ने मराठों को पराजित होने पर विवश कर दिया। किन्तु मराठा सेनापति का सुदृढ़ विश्वास इस घोर पराजय के फलस्वरूप भी डगमगाया नहीं। इस दृढ़ निश्चयी योद्धा ने पुनः अपनी सेना को संगठित करना आरम्भ कर दिया। उन दिनों आगरा के दुर्ग पर मराठा सेनापति लाखोंबा दादा का अधिकार था। उस पर भी मुसलमानों का दबाव बढ़ता ही जा रहा था। उन्होंने बड़े शौर्य सहित शत्रुदलों का सामना किया और इस प्रकार अपनी प्रचण्ड वीरता और रण-कौशल के बल पर महादजी के शत्रुओं के प्रभाव को अवरुद्ध कर देने में सफलता प्राप्त कर ली। उसी समय नजीबखाँ का पौत्र गुलाम कादिर जिसे न तो मराठे विस्मृत कर ही पाए थे और न ही उन्होंने उसे क्षमादान दिया था रंगमंच पर उपस्थित हुआ उसने पठानों और रुहेलों का नेतृत्व करते हुए महादजी के अधिकार से दिल्ली को छीन लेने का प्रयास किया। मूर्ख बादशाह से भी उसे प्रोत्साहन मिला और उसे दिल्ली में प्रवेश करने में सफलता मिल गई। उस समय महादजी मुसलमानों और राजपूतों की उस संयुक्त-शक्ति से आगरा के निकट संघर्ष करने में लगे हुए थे, जिसने चारों ओर से सशस्त्र विद्रोह की पताकाएं फहरादी थीं। महादाजी ने उत्तर भारत में घटित हुई इन सभी दुर्घटनाओं के सम्बन्ध में नाना को सूचित कर दिया था और उन्होंने यह भी बता दिया था कि

सम्पूर्ण आपदाओं का एकमात्र कारण अंग्रेजों की अतृप्त आकांक्षायें ही हैं। अंग्रेजों में मराठों के सामने खड़े होकर उनसे दो-दो हाथ करने का साहस तो था नहीं, उन्होंने जब भी कभी प्रयास किया तो उन्हें मुँह की ही खानी पड़ी। फिर भी वे इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे कि यदि मराठों को कुछ और समय तक शहंशाह (सम्राट्) का नाम और उसके अधिकारों का उपयोग करने का अवसर मिला तो यह सुनिश्चित ही है कि एक दिन वे उस झीने आवरण को भी उतार फेंकेंगे और तदुपरान्त वे खुले रूप में साम्राज्य शक्ति का सर्वेसर्वा अपने आपको घोषित कर स्वयं ही सम्राट् बन जाएँगे, किन्तु मराठे तो लगभग ऐसा कर ही चुके थे। इसलिए अंग्रेज मुगल बादशाह के अधिकारों को अपने हाथ में लेने के लिए अत्यधिक व्यग्र थे। वे नाममात्र के उस बादशाह की शक्ति को अपने हाथों में ले लेने के लिए लालायित हो उठे थे!

हमें उस पत्र का विस्मरण नहीं करना चाहिए जो उन्हों ने अपने-प्रदेश की जनता के लिए नाना साहब को लिखा था। उसमें उन्होंने कहा था कि हमें इस महान् उद्देश्य को कदापि विस्मृत नहीं करना चाहिए कि हम अपने महान् साम्राज्य की हित साधना के लिए ही जीवित हैं और उसी के लिए प्राण भी विसर्जित करेंगे। हमारी निष्ठा अपने राष्ट्र-मण्डल के एकमात्र आधिपति के प्रति ही है। हमें व्यक्तिगत द्वेष और मनोमालिन्य की भावनाओं को अपने हृदय में कदापि स्थान नहीं देना चाहिए। यदि आपमें से किसी को भी इच्छाओं के सम्बन्ध में सन्देह है तो वह उसे अपने हृदय में स्थान न दे। मैं आप सभी से विनयपूर्वक यह अनुरोध करता हूँ कि आप उन्हें अपने मन से निकाल दें। मैंने अपने इस राष्ट्रमडण्ल की जो सेवा की है, वह उन लोगों के मुख बन्द कर देने के लिए पर्याप्त है जो हमारे वास्तविक शत्रु हैं और हमें विभाजित रखकर अपने पंख फड़फड़ाना चाहते हैं। अब हम सभी को समय के अनुसार संगठित हो जाना चाहिए तथा राष्ट्रीय पताका

के तले एकत्र हो जाना चाहिए। हमें अपने पूर्वजों से जो महान् ध्येय धरोहर के रूप में प्राप्त हुआ है हमें उसे समग्र हिन्दुस्थान में पूर्ण करने हेतु संगठित होकर अपने महान् साम्राज्य को खण्ड विखण्डित होने तथा मिटने से बचाने का प्रयास करना चाहिए।"

राष्ट्र पर आये हुए संकट की इस संक्रमणपूर्ण घड़ी में इस सद्परामर्श की उपेक्षा करने का पातकी कार्य करने वालों में से तो नाना साहब भी न थे। जैसा कि हम पहले ही देख चुके थे कि वे स्वयं टीपू के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे और ज्योंही उन्होंने उसके साहस को भंग कर देने में सफलता अर्जित कर ली, उन्होंने होल्कर तथा आलीजा बहादुर को तत्-काल ही महादजी को सहायता पहुँचाने के लिए पहुँचने का आदेश दे दिया था। नाना इस स्थिति को देख कर अत्यधिक क्षुब्ध थे कि जब उनके महान् पूर्वजों द्वारा देखा गया हिन्दू-पद-पादशाही का पावन स्वप्न पूर्ण हो रहा था और सम्पूर्ण हिन्दुस्थान ही उसकी छत्रछाया में आने का इच्छुक था राजपूतों और मराठों में प्रारम्भ हुए संघर्ष ने उनके शत्रुओं को इस बात के लिए स्वर्ण-सन्धि प्रस्तुत कर दी कि वे हिन्दुत्व के इस शक्तिशाली संगठन के विरुद्ध अपने सिर उठा लें। अतः नाना ने राजपूतों से वार्ता आरम्भ करने की भी चेष्टा की और उन्होंने जयपुर नरेश को विशेष रूप से एक पत्र भी लिखा। उन्होंने पेशवा की ओर से उन्हें लिखा था कि वे हिन्दुत्व के शत्रुओं के साथ गठबन्धन न करें अपितु मराठों द्वारा स्थापित किये गये हिन्दू साम्राज्य से अपने विवादों को सुलझा ले क्योंकि हिन्दुओं के समान शत्रुओं से उनका समझौता करना एक भारी भूल होगी।

पूना से भेजी गई मराठा सेना की सहायता से महादजी ने शीघ्र ही शत्रु दलों पर अपनी विजय वैजयन्ती फहरा देने में सफलता प्राप्त कर ली। उन्होंने बादाखाँ, अप्पा खण्डेराव तथा अन्य मराठा सेनापतियों को तथा उनके साथ डी० बोइन के द्वारा प्रशिक्षित दो सेनाओं को पानीपत

के सूत्रधार नजीब खाँ के पौत्र गुलाम कादिर का प्रतिरोध करने के लिए भेजा। मुसलमान युद्ध करने के लिए कृत-संकल्प थे। दो तुमुल संग्राम हुए और मुसलमानों को ऐसी भयंकर पराजय सहन करनी पड़ी, जैसी कि इससे पूर्व उन्होंने कभी सहन नहीं की थी। वे इतने निराश हुए कि चारों ओर भाग निकले। इस्माईल बेग और गुलाम कादिर दिल्ली की ओर भागे। उनका भी मराठों ने पीछा किया। बादशाह भी काँप उठा। गुलाम कादिर ने उससे धन देने की माँग की। किन्तु बादशाह उसे कुछ भी दे पाने में असमर्थ रहा। इस पर कुछ रूहेला सरदारों ने अत्याचारों का नग्न ताण्डव ही प्रारम्भ कर दिया। उसने दमन चक्र नितान्त निर्दयता सहित चलाया। उसने बादशाह को राज सिंहासन से खींच कर भूमि पर पटक दिया और उसकी छाती पर घुटने अड़ा कर बैठ गया। उसने अपनी पैनी कटार से अकबर और औरंगजेब के इस असहाय वंशज के नेत्र ही निकाल लिये। इतने पर ही इस क्रूर सरदार का क्रोध शान्त नहीं हो सका। उसने बादशाह की बेगमों (पत्नियों) और पुत्रियों को भी उसके समक्ष ही बन्दी बनाकर घसीटते हुए लाकर डाल दिया। उसने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि वे उसके समक्ष ही उनसे बलात्कार करें। उसके इस वीभत्स क्रोध और आक्रोश का एक कारण यह भी था कि गुलाम कादिर को उसकी यौवनावस्था में बादशाह शाह आलम के आदेश से ही नपुंसक बना दिया गया था। राजधानी में लूट-खसोट और दंगों की आग भड़क उठी। मुसलमानों ने मुसलमानों पर ही इतने भयानक अत्याचार किये कि वे ऐसे अत्याचार कभी मुसलमान धर्म के नाम पर दूसरों पर भी नहीं कर सके थे। इस घटना से यह सिद्ध हो गया कि जो दूसरों पर अपने अत्याचारों की झड़ी लगाता है वह अवसर उपस्थित होने पर अपने घर वालों पर भी अत्याचार करने में किसी भाँति संकोच का अनुभव नहीं करता। इस भाँति यह सिद्ध होता है कि अत्याचार अत्याचारी को भी निगल ही जाता है। अब ऐसा

कौन था जो मुस्लिम साम्राज्य, नागरिकों और मुस्लिम कन्याओं की उनके अत्याचारों से रक्षा करता जो स्वयं इस्लाम के ही नाम लेवा और पानी देवा थे। काफिरों अर्थात् हिन्दुओं-मराठों के अतिरिक्त और कौन था? दिल्ली के राज सिंहासन के अधिपति इन मुगलों और इनसे भी पहले अन्य मुसलमानों ने हिन्दुओं के देवालयों को धूल-धूसरित किया था, उनकी मूर्तियों को खण्ड-खण्डित कर धूल में मिलाया था, उनकी रानियों और राजकुमारियों का बलात् अपहरण कर उन्हें अपने हरमों (रनिवासों) में रहने पर विवश किया था। उन्होंने ही हिन्दुओं की कन्याओं का सतीत्व भ्रष्ट किया था, उनके नवयुवकों को धर्मान्तरित किया था। उन्होंने माताओं को शिशुओं से और भाइयों को भ्राताओं से पृथक् कर हिन्दुओं के रक्त से अपने हृदय और हाथ रंग कर सक्रिय फाग खेला था। यह सब दुष्कृत्य उन्होंने इसीलिए किये थे कि उन्हें इस संसार में गाजी अर्थात् धर्मरक्षक होने की ख्याति प्राप्त हो सके तथा दूसरी दुनिया में वे असंख्य उपहारों को प्राप्त करने के अधिकारी सिद्ध हो सकें और अब वे हिन्दू ही दिल्ली पर चढ़े आ रहे थे। किन्तु वे मस्जिदों को भूलुंठित करने, चाँद तारा अंकित ध्वज को टूक-टूक कर पद-दलित करने, मकबरों को धूल धूसरित करने अथवा अपवित्र करने के लिए वहाँ नहीं आ रहे थे। वे मुस्लिम शाहजादियों (राजकुमारियों) अथवा निर्धन मुस्लिम युवतियों को सताने अथवा उन्हें हिन्दू बनाने या माताओं को शिशुओं से पृथक करने या पिताओं को पुत्रों से अलग कर उन्हें दारुण दुःख की अग्नि में दग्ध करने के लिए नहीं आ रहे थे। वे न तो आ रहे थे रक्तपात कर अपने सिर पर उन्माद को चढ़ाने हेतु और न अपनी सफलता का मापदण्ड और गौरव का मूल्यांकन अपने शत्रुओं के शीश काट-काट कर उनके ढेरों से लगाने के लिए नहीं आ रहे थे। उनका उद्देश्य राजधानी को अग्नि की ज्वालाओं में दग्ध कर क्षार-क्षार कर देना भी नहीं था। वे ऐसा कर पाने में तो समर्थ थे और यदि वे ऐसा करते तो

उन्हें कोई दोष भी नहीं दे सकता था। मुसलमानों को भी उन पर दोषारोपण करने का कोई अधिकार नहीं था। किन्तु हिन्दू तो इसलिए राजधानी की ओर आ रहे हैं कि वे उस राज सिंहासन के अधिकारी, उसके परिवार तथा राजधानी को मुसलमानों के हाथों ही नष्ट-भ्रष्ट होने से बचा सकें, उनको अन्याय और अत्याचार की आँधी से मुक्ति दिलाएँ। राजधानी के सभी निवासी करुणा भरी दृष्टि सहित परम पिता परमात्मा से प्रार्थना कर रहे थे कि मराठों का राजधानी में शीघ्रातिशीघ्र आगमन हो। मराठों के राजधानी में प्रवेश करते ही हिन्दू ही नहीं अपितु मुसलमान भी प्रसन्नता सहित उनका स्वागत करने हेतु उमड़ पड़े। आलीजा बहादुर, अप्पा खाण्डेराव, राणा खाँ और डी बोईन के नेतृत्व में जब हिन्दू साम्राज्य की सेनाएँ दिल्ली में प्रविष्ट हुईं तो उन्होंने अगणित कंठों से उठते हुए जयघोष की पावन ध्वनि के मध्य ही नगर पर अपना अधिकार जमा लिया। किन्तु उन्होंने देखा कि अपराधी गुलाम कादिर तो पहले ही राजधानी से पलायन कर चुका है। इससे उन्हें अत्यधिक क्षोभ हुआ, क्योंकि नजीबखाँ का यह पौत्र स्वभावतः ही मराठों का शत्रु था और उसको दण्डित कर पाने का सुयोग हाथ से निकल जाने का दुःख मराठों को होना भी स्वाभाविक ही था। यद्यपि औरंगजेब की सन्तानों ने ही और स्वयं बादशाह ने ही मराठों के सर्वनाश के लिए गुलाम कादिर को अपने साथ मिलाकर षड्यन्त्र का सूत्रपात किया था किन्तु फिर भी मराठों ने उनके संरक्षण और सुख-सुविधा की सम्पूर्ण व्यवस्था स्वयं ही की। गुलाम कादिर दिल्ली से पलायन कर मेरठ के दुर्ग में जाकर शरण ले रहा था तथा अपनी सुरक्षार्थ योजना बनाने में संलग्न था किन्तु मराठों ने भी उसका पीछा करने हेतु एक बड़ी सेना को भेज दिया।

गुलाम कादिर कुछ समय तक इस वीर वाहिनी का प्रतिरोध करता रहा। किन्तु अन्ततः उसके लिए मराठों का अधिक समय तक प्रतिरोध

करते रहना असम्भव हो गया। अतः वह एक अश्व पर सवार होकर अपने प्राण बचाने के लिए भाग निकला। किन्तु घबराया हुआ यह रूहेला सरदार एक खेत में घोड़े से गिर पड़ा और अचेत हो गया। उसी समय उसे वहाँ कुछ ग्रामीणों ने पड़े हुए देखा और वे उसे पहचान कर मराठों के सम्मुख ले गये। इस नीच और नराधम को दण्ड देने की जितनी प्रबल इच्छा मुसलमानों में थी उतनी सम्भवतः अन्य किसी की न थी। इस धूर्त को बन्दी अवस्था में शिन्दे के समक्ष उपस्थित किया गया और उसे उन सब शत्रुताओं का प्रतिकार चुकाना पड़ा जो शिन्दे तथा गुलाम कादिर की तीन पीढ़ियों के मध्य विद्यमान रही थी। गुलाम कादिर के किये का परिणाम उसके समक्ष आया। उसकी भी दुर्दशा हुई और क्योंकि वह अभी भी अपशब्द कहने से नहीं रुक पाया था अतः उसकी जीभ काट ली गई और उसके नेत्र भी फोड़ डाले गये। इस भाँति कादिर को यथोचित दण्ड देकर उसे मुगल सम्राट् के समक्ष खड़ा किया। मुगल सम्राट् की भी यही इच्छा थी कि कादिर की ऐसी ही दुर्दशा की जाए। उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया। इस भाँति जिस नजीब खाँ ने पानीपत के रणक्षेत्र में मराठों के सर्वनाश की प्रतिज्ञा की थी अब उसी के परिवार का संहार मराठों के हाथों इस भाँति हुआ कि उनके वंश और राज्य का समूलोच्छेद ही कर दिया गया।

इस भाँति १७८९ ई० तक महादजी ने अन्य मराठा सेनापतियों के सहयोग से अपने सभी शत्रुओं और विरोधियों पर विजय प्राप्ति की तथा मुसलमानों और उनको सहायता देने वाले राजपूतों को भी नत-मस्तक कराने में सफलता अर्जित कर ली। उनको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उन्होंने अपने प्रचण्ड पराक्रम के बल पर अंग्रेजों का भी भली-भाँति दमन किया कि वे भी उनकी वीरता के समक्ष नत-मस्तक होने पर विवश हो गये। वृद्ध मुगल शहंशाह पुनः महादजी के हाथ की कठपुतली बन गया और उसने उन्हें 'वकील-ए-मुतलिक' की पदवी प्रदान करने की

इच्छा व्यक्त की किन्तु महादजी ने पुनः वह पद अपने स्वामी अर्थात् पूना के युवा पेशवा के लिए ही अर्जित किया।

किन्तु जहाँ मराठा सेनाएं इस भाँति उत्तर भारत में संघर्षरत थी वहाँ टीपू पुनः अपना सिर उठाने के लिए हाथ-पाव मारने लगा था। उसने १७८९ में पुनः धमकी पूर्ण रुख अपनाया। किन्तु मराठों से आमने सामने होकर दो-दो हाथ करने का साहस वह अपने में न सँजो पाया। उसकी इच्छा थी येन केन प्रकारेण अपने राज्य का विस्तार करने की उसके मन में विचार आया कि मराठों के कारण मेरे लिए कृष्णा नदी की दिशा में तो अपने राज्य का विस्तार कर पाना संभव नहीं है, अतः मुझे त्रावणकोर के दुर्बल हिन्दू राजा पर आक्रमण करके अपने राज्य के विस्तार का सुयोग प्राप्त करना चाहिए। अतः नाना भी सचेत हुए और उन्होंने अंग्रेजों तथा निजाम के साथ गठबन्धन कर टीपू के विरुद्ध युद्ध का घोष आरम्भ कर दिया तथा पटवर्धन को उसके क्षेत्र पर आक्रमण करने के लिए भेज दिया। यह स्मरणीय है कि ज्योंही मराठों ने उसके राज्य की ओर प्रस्थान किया त्योंही टीपू के राज्य के दुख कातर नागरिकों ने उस अत्याचारी के विरुद्ध मराठा सेना को सहायता देनी प्रारम्भ कर दी। इतना ही नहीं अपितु उन्होंने टीपू के अधिकारियों का भी अपने अपने क्षेत्रों से निष्कासन आरम्भ कर दिया। मराठों को उस क्षेत्र से जो कर प्राप्त करने थे उनकी प्राप्ति में भी जनता सहयोग प्रदान करने लगी। हुबुडी तथा धाड़वाड़ तथा मिश्रीको पर अपनी विजय पताका फहराने में सफलता प्राप्त कर लेने के उपरान्त मराठे और भी उत्साह सहित आगे बढ़े। धारवाड़ जिस पर टीपू ने अधिकार कर लिया था उस पर मराठा सेनाओं ने घेरा डाल दिया। मुसलमान सेनापति बड़े शौर्य सहित प्रतिरोध किया। मराठों का परामर्श अस्वीकार कर अंग्रेजों ने यह योजना बनाई कि छापामार कर किले पर अधिकार कर लिया जाए। किन्तु उन्हें अपने इस प्रयास में असफलता ही प्राप्त हुई।

कुछ दिनों तक तो युद्ध बड़ा विकराल रूप धारण किए रहा, किन्तु अन्ततः मराठों के द्वितीय आक्रमण के फलस्वरूप टीपू की सेना पराजित हो गई और उस पर मराठों का विजयी ध्वज फहरा उठा। पानसे, रास्ते तथा अन्य सेनापतियों ने तुंगभद्रा सरिता को भी लांघ कर सान्ती, बदनूर, भाईकोडा, हापेनूर, चैंगिरी तथा शत्रु की कई अन्य चौकियों पर अधिकार कर लिया। मराठा नौसेना भी इस स्थिति में हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठी थी। उसने भी समुद्र तट की रक्षा का उत्तरदायित्व निभाने के साथ ही साथ धारवाड़ और हनिसार आदि क्षेत्रों में कई स्थानों से मुसलमानो अधिकारियों को पलायन कर जाने पर विवश कर दिया।

नरसिंहराव देवजी, गणपतराव महेन्दाले ने तथा अन्य मराठा सरदारों ने चन्दावार, होनावार, गिरिसप्पा, धारेश्वर, उद्गिनी आदि पर अधिकार जमा लिया और तदुपरान्त मराठा सेनाओं ने श्रीरंग पट्टण की ओर ही प्रस्थान कर दिया। वहीं दूसरी दिशा से कार्नवालिस के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना भी पहुँच रही थी। किन्तु उस समय तक वह टीपू की चालबाजियों से इतनी अधिक परेशान हो गई थी कि भूख प्यास के कारण बेहाल हो गई थी। इस परिस्थिति में अश्वारोही सेना तो स्वयंमेव ही पैदल सेना के रूप में परिवर्तित हो गई क्योंकि जब सैनिकों को ही भोजन दिलाना दुर्लभ हो गया था तो अश्वों के लिए चारे की व्यवस्था भी कहाँ से हो पाती। अतः अधिकांश अश्व दम तोड़ चुके थे। जब सम्पूर्ण सामग्री और शस्त्रास्त्रों से समृद्ध मराठा सेना को आते हुए अंग्रेज सेना ने देखा तो उसकी व्याकुलता हर्ष में परिणत हो गई। क्योंकि मराठा सेना के पास तो जीवनोपयोगी पदार्थों के साथ ही साथ सुख सुविधा के अन्य सब साधन भी उपलब्ध थे। हरिपन्त फड़के ने अपनी इस मित्र सेना को सम्पूर्ण आवश्यक वस्तुएँ देकर उसकी व्याकुलता को मिटा दिया। मराठों और अंग्रेजों की यह संयुक्त सेना १० दिन तक यहाँ विश्राम करती रही।

इस समय ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि यदि मराठे चाहते तो

टीपू का समूलोच्छेद कर देने में भी सफलता प्राप्त कर सकते थे किन्तु नाना की ऐसी इच्छा न थी। क्योंकि उनकी आकांक्षा थी कि टीपू अभी कुछ समय के लिए अंग्रेजों के मार्ग में कंटक बनकर अड़ा रहे और मद्रास में अंग्रेजों का सुख स्वप्न पूर्ण न हो सके। इसलिए युद्ध में विवश होकर जब टीपू ने मराठों और अंग्रेजों से सन्धि के लिए याचना की तो परशुराम पन्त और हरिपन्त फड़के की इच्छानुसार अंग्रेजों को भी सन्धि कर लेने पर ही विवश होना पड़ा। इस सन्धि की शर्तों के अनुसार टीपू ने मराठों को अपना आधा राज्य दे देने के साथ ही साथ युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में ३ करोड़ रुपया भी उन्हें देना पड़ा और इसके साथ ही साथ उसने यह वचन भी दिया कि वह भविष्य में त्रावणकोर के राजा से किसी भाँति भी दुर्व्यवहार न करेगा। अंग्रेजों तथा मराठों ने टीपू के दोनों पुत्रों को अपने संरक्षण में धरोहर के रूप में ले लिया। टीपू से जो कुछ भी प्राप्त हुआ था उसे मराठों, निजाम तथा अंग्रेज तीनों ने ही समान रूप से बाँट लिया। मराठों को एक करोड़ रुपया क्षतिपूर्ति के रूप में तथा नव्वे लाख रुपया वार्षिक-राजस्व का क्षेत्र प्राप्त हुआ। इस भाँति हुई टीपू के साथ तृतीय युद्ध की समाप्ति और यश और गौरव प्राप्त करने के उपरान्त मराठों को विजयी सेना ने पूना में बड़ी धूमधाम से प्रवेश किया।

इस भाँति मराठा सेना टीपू का सुख-स्वप्न क्षार-क्षार कर देने के उपरान्त १७९२ ई० में पूना वापिस लौटी थी। उसी समय उत्तरांचल स्थित मराठा सेना के सेनापति ने भी रुहेलों और पठानों का दम तोड़ कर महाराष्ट्र-मण्डल की राजधानी में प्रवेश किया। फड़के और रास्ते तथा महादजी की उन सेनाओं की त्रिवेणी का यहीं संगम हुआ जिन्होंने दक्षिण भारत में हिन्दुत्व की रक्षार्थ टीपू का मान-मर्दन किया था तो अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के होश भी ठिकाने लगाए थे और दिल्ली के मुगल सम्राट् को हिन्दू साम्राज्य से पैंशन देकर अपने हाथों का एक

खिलौना बनाकर रख दिया था। महाराष्ट्र-मण्डल के इन वीर सेनानियों का सम्मिलन भारत के शासकों और नरेशों की आशाओं पर तुषारापात करने ही लगा। इसने विदेशों के राजदरबारों को भय से त्रस्त कर दिखाया और उन सभी को अपने भविष्य के सुनहरे स्वप्न हिन्दू साम्राज्य के प्रचण्ड प्रकाश में तिरोहित होते हुए प्रतीत होने लगे। इन महान् पुरुषों के इस सम्मेलन के मूल में क्या उद्देश्य निहित था? अब हिन्दू-पद-पादशाही द्वारा कौन-सा कार्य संपन्न किया जायगा और किस-किस को उसके समक्ष नतमस्तक होना पड़ेगा? इन सभी बातों से अवगत होने के लिए सभी की दृष्टि पूना की ओर ही केन्द्रित होकर रह गई थी। वस्तुत: अब दिल्ली तो पूना का ही एक उपनगर मात्र बनकर रह गई थी। परन्तु परिस्थितियाँ करवट लेने लगीं और मराठों में पारस्परिक भ्रम की एक नई लहर प्रवाहित हो उठी। जिसका प्रवाह इतना तीक्ष्ण रूप धारण कर गया कि नाना और महादजी के हृदय में पारस्परिक शंका-कुशंकाएँ स्थान पाने लगीं। धीरे-धीरे वह तथ्य सभी के समक्ष आने लगा कि इन दोनों महान नेताओं में एक-दूसरे के प्रति विद्वेष की चिंगारी प्रस्फुटित होने लगी है। किन्तु "हिन्दू राष्ट्रकुल" की स्थापना का महान् लक्ष्य तथा देश-भक्ति इन दोनों ही नेताओं को अपनी भावनाओं पर अंकुश लगाने में सहायता पहुँचा रही थी। क्योंकि जितना प्रयास इन दोनों योद्धाओं ने हिन्दुओं के इस नवीन प्रजातन्त्र की स्थापना के पुनीत दायित्व को पूर्ण करने की दृष्टि से किया था उतना अन्य किसी द्वारा किया जाना सम्भव न हो सका था। दोनों ने ही इस साम्राज्य को अधिकाधिक प्रभावी रूप प्रदान करने में अपना खून-पसीना बहाया था। किन्तु जन-मानस में अब यह आशंका प्रबल होती जा रही थी कि क्या परस्परिक द्वेष की यह चिनगारी एक दिन गृह-कलह के रूप में न भड़क उठेगी? यदि ऐसा हो गया तो हिन्दू राज्य के लिए इससे अधिक दुखदाई घड़ी और कौन-सी होगी? सम्पूर्ण महाराष्ट्र ही इस कल्पना

से काँप उठा था। जन-साधारण चिन्ताग्रस्त होकर इन महान् राजनीति विशारदों की ओर ही टकटकी लगाये हुए निहार रहे थे।

यह उल्लेख तो पहले ही किया जा चुका है कि मुगल सम्राट् जो मराठों की दया पर ही बादशाह कहलाने का शौक पूरा कर रहा था वह महादजी को 'वकील-ए-मुतलिक' और महाराजाधिराज के पद से विभूषित करना चाहता था। किन्तु महादजी ने यह पद अपने लिए लेना अस्वीकार कर उसे बालक पेशवा के लिए ही स्वीकार किया था। यह कार्य कोरा प्रदर्शन मात्र नहीं था। यद्यपि एक परवश और अयोग्य व्यक्ति के लिए इन उपाधियों का उतना भी मूल्य न था जितने मूल्य के कागज पर ये लिखित थीं। किन्तु इस पर भी यह शब्द अपने आप में अर्थ रखते थे। इन पदों को प्राप्त करने वाला ही वस्तुतः सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य का वास्तविक शासक हो गया था और मुगल बादशाह ने तो एक दृष्टि से अपने हाथों से ही अपने अधिकारों का मर्सिया पढ़ दिया था। शाही राजमुकुट के लिए उस समय तीन प्रतिद्वन्द्वी थे। मराठे, अंग्रेज तथा अन्य विधर्मी। ऐसी स्थिति में यही उचित समझा गया कि नाममात्र के लिए ताज और शहंशाही वृद्ध मुगल बादशाह के सिर पर ही लदी रहने दी गई किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसे पूर्णतः अधिकार विहीन कर दिया गया। किन्तु अंग्रेज एवं अन्य मुसलमान शक्तियों को इस तथ्य की भली-भाँति जानकारी थी कि यदि यह पद एक बार मराठों के हाथ लग गया तो उनसे उसे छीन पाना सर्वथा दुष्कर कार्य हो जाएगा। अतः मराठों के प्रतिद्वेष बुद्धि के कारण चतुर अंग्रेजों ने मुगल सम्राट् को ही अपना बादशाह सिद्ध करने का प्रयास किया। सर्वसाधारण भी इस बात से अवगत हो सकें इसके लिए उन्होंने शाह आलम से यह अनुमति मांगी कि उत्तरी सरकार (जिस पर उन्होंने अपने बाहुबल से अधिकार कर रखा था) को उनके अधिकार में दिया जाए। परन्तु मराठे भी चुपचाप उनकी चालों को देखते रहने वालों में से

नहीं थे। उन्होंने बादशाह के नाम की आड़ मात्र लेकर सम्पूर्ण शासन व्यवस्था पर अप्रत्यक्षतः अपना अधिकार ही जमा लिया था। इस कारण ही महादजी ने शहंशाह से वकील-ए-मुतलिक और महाराजाधिराज की उपाधियाँ महाराष्ट्र मण्डल के प्रमुख के लिए प्राप्त की थीं। एक सुदीर्घ कालखण्ड के उपरान्त महादजी सिन्धिया अपने बाल सरदार के एक नवयुवक देवता के रूप में दर्शन करने के लिए तथा उसे उन महान उपाधियों से विभूषित करने के लिए आए थे। अतः अपने बाल सरदार को इन उपाधियों को प्रदान करने हेतु उन्होंने एक महान समारोह का आयोजन किया।

जिस समय मराठा सेनापति इस बात के लिए उत्कंठित था कि वह पेशवा को महाराजाधिराज की पदवी से विभूषित करे जो वस्तुतः उन्हें पहले से ही प्राप्त थी, तो ब्राह्मण मन्त्री नाना ने उन लोगों का नेतृत्व सँभाल लिया जो इस उपाधि को पेशवा को दिए जाने के विरुद्ध थे। उनका कथन था कि यह कार्य सतारा के मराठा नरेश के सम्मान के विरुद्ध होगा। ऐसी अनेक साक्षियां प्राप्य हैं जिनसे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि एक राज्य के निवासी दूसरे राज्य में अथवा उस राज्य के द्वारा संरक्षित राज्य के अन्तर्गत पद स्वीकार करते रहे हैं। इससे उनके राज्य को तो किसी प्रकार की क्षति हुई ही नहीं न ही उनके राज्य की हानि ही हुई। इतना ही नहीं इस प्रकार के उदाहरण भी उपलब्ध हैं जब कि एक राज्य के हित सम्पादन हेतु ही दूसरे राज्य में पद ग्रहण किया गया है। इतने पर भी महादजी यह नहीं चाहते थे कि राष्ट्रीय अभियान और आन्दोलन के मार्ग में किसी प्रकार से भी बाधा उत्पन्न हो। अतः उन्होंने सतारा नरेश से यह प्रार्थना की कि वे मराठों के छत्रपति के रूप में इस अवसर पर उपस्थित होकर पेशवा को महाराजाधिराज की पदवी से विभूषित करें। सतारा नरेश ने भी उनका यह अनुग्रह स्वीकार कर लिया। इस भांति इस संवैधानिक उलझन का निदान खोज लिया गया

और यह महान समारोह नितान्त धूमधाम सहित संपन्न हुआ। पेशवा को वकील-ए-मुतलिक अथवा महाराजधिराज की उपाधि से अलंकृत किया गया। यह पद उनके वंशजों के लिए भी सुरक्षित हो गया। अब पेशवा को यह अधिकार प्राप्त हो गया था कि वह मुगल सम्राट् के नाम से शासन चला सके, इतना ही नहीं अपितु उनके सेनापति महादजी को यह अधिकार भी मिल गया था कि वह सम्राट् के पुत्रों में से किसी को भी उत्तराधिकारी नियुक्त कर दें। अब सम्पूर्ण भारत में वह महान फरमान (घोषणा) पढ़कर सुना दिया गया था कि गऊ तथा बैलों का वध नहीं किया जा सकता। इस घोषणा पर सिन्धिया तथा नाना फड़नवीस एवं पेशवा के अन्य अधिकारियों ने उन्हें बधाई दी। मराठों को अब यह अधिकार प्राप्त हो गया था कि वे अपने उन सभी प्रतिद्वन्द्वियो को फिर वे चाहे यूरोपियन थे अथवा एशियावासी जो मुगल सम्राट् को ही वास्तविक बादशाह मानने की आड़ में उनका अपमान करने की ताक में रहते थे पदाक्रान्त कर सकें। इस भांति अब मराठे ही वास्तविक अर्थों में मुगल सम्राट् के नाम पर राज्य शासन चलाने लग गए थे। वे शाही सेनाओं के प्रधान सेनापति थे। उन्हें शासन के उत्तराधिकारी की घोषणा करने का भी अधिकार प्राप्त हो गया था और इससे भी बड़ा अधिकार यह था कि वे ही वकील-ए-मुतलिक अथवा महाराजाधिराज बन गए थे। उन्हें यह अधिकार भी वंश परम्परा भर के लिए प्राप्त हो गया था।

उत्सव की समाप्ति के उपरान्त प्रचण्ड जनसमूह उस विशाल चल-समारोह की राजमहल पर वापसी का दृश्य देखने के लिए एकत्र हो गया। सहस्रों कंठों से उठती हुई समवेत जयध्वनि, तथा तोप और बन्दूकों से उठती हुई प्रचण्ड गर्जना से धरा-गगन गूँज उठे। जब यह भव्य चल-समारोह राजमहल पर पहुँचा तो पेशवा ने इसके आयोजकों की भव्य अभ्यर्थना की। किन्तु भारतीय साम्राज्य के प्रधान सेनापति महादजी ने

अपनी सम्पूर्ण शक्ति और गौरव के अभिमान से सर्वथा मुक्त होकर आगे बढ़कर पेशवा की चरण पादुकाएँ (जूते) अपने हाथों में ले लीं और बड़ी ही धीमी वाणी में बोले "हे हिन्दू साम्राज्य अधिपति, आदरणीय महाराजाधिराज, राजकुमार और राज्य तथा राणा, मुगल और तुर्क एवं रूहेले व मुसलमान और फिरंगी सभी आपके चरणों में नतमस्तक हो जाने पर विवश कर दिए गए हैं। आज वे सभी आपकी आज्ञा का सहर्ष पालन करने लगे हैं। इस सेवक ने अपने जन्म से लेकर अब तक का अपने जीवन का स्वर्णिम काल अपने हाथों में तलवार थामकर इस हिन्दू राष्ट्र कुल की सेवा में ही व्यतीत किया है। दूर देशों में भी मैंने इस राष्ट्रकुल की ही सेवा की है। किन्तु यह सभी मान-सम्मान और राजाओं तथा महाराजाओं व शासकों पर प्राप्त की गई विजय की गौरवपूर्ण घटनाएँ भी मेरी इस क्षुधा को शान्त नहीं कर पाई कि मैं आपके श्रीचरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त करने तथा मैं शाही चरण पादुकाओं की सुरक्षा का वह पुनीत कार्य सम्पादन करूं जो मेरी परम्परागत थाती हैं। मेरी यही आकांक्षा है कि मैं मुगल राज्य का वजीरे आला (प्रधान मन्त्री) कहलाने के स्थान पर महाराष्ट्र का एक सामान्य 'पटेल' कहा जाऊं। अतः कृपा करके मुझे यह आज्ञा प्रदान कीजिए कि मैं सुदूर प्रदेश में जाकर कार्य करने की अपेक्षा आपके चरणों में रहकर ही सेवा कर सकूं जिस प्रकार मेरे पूर्वज आपके विश्वासपात्र सेवकों के रूप में करते आए हैं।

महादजी वार्ता करने में नितान्त ही निपुण थे। उदार पेशवा सवाई माधवराव नितान्त ही सौम्य प्रकृति तथा सहृदय नवयुवक थे। किन्तु इसके साथ ही साथ वे राजनीति धुरन्धर भी थे। महादजी तो युवक पेशवा के भक्त थे ही किन्तु शीघ्र ही पेशवा भी उनकी ओर आकृष्ट हो गए। इससे प्रभावित होकर उनके हृदय में भी पेशवा का मुख्यमन्त्री बनने की लालसा जाग्रत हो उठी और वे उस सम्पूर्ण सत्ता को अपने

हाथों में ग्रहण करने के लिए उत्कंठित हो उठे जो अभी तक नाना फड़नवीस के हाथों में थी। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया उन्होंने स्पष्ट रूप से ही कई ऐसे मामलों में हस्तक्षेप भी किया जिनके सम्बन्ध में मन्त्री द्वारा निर्णय दिया जा चुका था। एक दिन सुअवसर समझ कर महादजी ने नाना के विचारों का खुलकर विरोध किया किन्तु उन्हें सुहृदय पेशवा के ये शब्द सुनकर आश्चर्य हुआ कि "नाना और महादाजी दोनों ही मेरे साम्राज्य की दो भुजाएँ हैं। इनमें से प्रथम मेरा दायां हाथ है तो दूसरा बायां। प्रत्येक अपने-अपने कार्य को करने में पूर्णतः समर्थ है। उनकी संयुक्त सहायता से ही साम्राज्य समृद्ध हो रहा है। उनमें से न तो किसी को पृथक ही किया जा सकता है और न ही स्थानान्तरित। यदि ऐसा हुआ तो मैं अकर्मण्य हो जाऊँगा।"

वार्तालाप करते समय महादजी पूर्णतः सावधान और सतर्क रहे थे किन्तु फिर भी नाना के सुसंगठित गुप्तचर विभाग से यह वार्त्ता छिपी न रह सकी। इस वार्ता के समाचारों से नाना, हरीपन्त फड़के तथा पूना में मन्त्रिमण्डलीय पक्ष के सभी लोग नितान्त सतर्क हो गये। उन्हें यह आशंका होने लगी कि उनके जीवन का यह महान् उद्देश्य ही संकट में पड़ गया है कि पेशवा के नेतृत्व में सम्पूर्ण हिन्दुस्थान को पेशवा के संरक्षण में महाराष्ट्र के हिन्दू सम्राज्य के अन्तर्गत संगठित किया जाए तथा जो लोग स्वतन्त्र रहने के लिए प्रयत्नशील हैं उनका भी दमन किया जाए। वे नहीं चाहते थे कि उनके जीवित रहते ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण घड़ी उपस्थित हो। वे इस तथ्य से सुपरिचित थे कि अपने पदों से पृथक् होने की समस्या का समाधान तो हम त्यागपत्र देकर नितान्त सरलता सहित कर सकते हैं, किन्तु इसके परिणामस्वरूप जनता में उत्तेजना मात्र का ही सृजन नहीं होगा अपितु गृह-युद्ध की ज्वाला भी भड़क उठेगी। अतः नाना तत्काल ही पेशवा के समक्ष स्पष्टीकरण के लिए उपस्थित हो गए और उन्होंने अपनी बाल्यावस्था से पेशवा तथा राज्य के लिए की गई

सेवाओं का सांगोपांग वर्णन किया। उन्होंने यह भी कहा कि यदि आपने सिन्धिया की आकांक्षाओं की पूर्ति करते हुए उनके हाथों का खिलौना बनना स्वीकार कर लिया तो आपकी स्थिति मुगल बादशाह के तुल्य ही हो जाएगी। उन्होंने बताया कि यदि आपने शीघ्रतावश महाराष्ट्र मण्डल के संविधान में कोई संशोधन कर दिया तो उसका परिणाम निश्चित रूप से ही गृह-युद्ध होगा और इस भयानक गृह-युद्ध के फल-स्वरूप मुसलमानों को एक सुअवसर प्राप्त हो जायगा जो अभी भी हैदराबाद में हिन्दू शक्ति को छिन्न-भिन्न कर देने की दुरभिसन्धि में संलग्न हैं और विपुल तैयारियाँ करने में लगे हुए हैं। महाराष्ट्र के महान् हिन्दू साम्राज्य का विनाश करना ही उनका एकमात्र लक्ष्य है। इसके साथ ही साथ अंग्रेज भी इसी दृष्टि से सक्रिय हैं। उन्होंने अश्रुपूरित नेत्रों से कहा "किन्तु यदि मुझे पदच्युत करने मात्र की ही बात है और युवक पेशवा केवल नाना से ही अपना पिण्ड छुड़ाने को आकुल हैं तो मैं अपना त्यागपत्र आपके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ। यदि मेरे त्यागपत्र से ही साम्राज्य की रक्षा हो सकती है और गृह-युद्ध टल सकता है तो हे महाराज, मुझे आप अनुमति प्रदान करें कि मैं सभी सांसारिक बातों से विरक्त होकर काशी में वास करने के लिए चला जाऊँ।"

युवक पेशवा माधवराव अपने मन्त्री के इन शब्दों को सुनकर द्रवित हो उठे। उन्होंने महाराष्ट्र के इस महान् साम्राज्य के नियन्ता नाना को कहा "आप किस कारण ऐसी कल्पना करने लगे हैं? आप मेरे केवल मन्त्री मात्र ही नहीं है अपितु एक मित्र तथा परामर्शदाता ही नहीं अपितु राजनैतिक पथ-प्रदर्शक भी हैं। आप ही तो इस महान् साम्राज्य के निर्माता हैं। यह साम्राज्य आपके हटते ही छिन्न-भिन्न हो जायगा।" नाना द्रवित हो उठे और उन्होंने भावपूर्ण वाणी में कहा, "हे महाराज, आपके जन्म से ही नहीं; अपितु उससे भी पूर्व से मैं इस साम्राज्य के पवित्र लक्ष्य की पूर्ति हेतु सचेष्ट रहा हूँ और मुझे अगणित व्यक्तियों से

शत्रुता मोल लेनी पड़ी है। किन्तु आज मेरी उन सम्पूर्ण सेवाओं पर पानी फेरा जा रहा है और उन्हें विस्मृत कर शत्रुओं को ही प्रोत्साहन दिया जाने लगा है।"

उनके इन शब्दों को सुनकर युवक पेशवा का हृदय भर आया और वे इतने अधिक द्रवीभूत हुए कि इस बात को भी भूल गए कि वे साम्राज्य के स्वामी हैं और उनसे वार्ता करने वाला है उनका मन्त्री। उनकी हिचकियाँ बँध गईं और आत्म-विभोर होकर उन्होंने अपनी भुजाएँ नाना की ग्रीवा में डाल दी और कहने लगे "आप मुझे न त्यागिए। आप किसी प्रकार से भी दुखित न हों, आप मेरे मन्त्री ही नहीं हैं अपितु मेरे लिए पिता तुल्य भी हैं और अपनी अबोध अवस्था से ही मुझे आपका पितृ-तुल्य पावन स्नेह प्राप्त हुआ है। यदि मुझ से कोई भूल हुई है तो मुझे क्षमा प्रदान करें। मैं न तो आपको त्यागपत्र ही देने दूँगा और न ही पृथक् होने दूँगा। मैं आपको कदापि अलग नहीं कर सकता।"

पेशवा के इन भावपूर्ण आश्वासनों से नाना, हरिपन्त फड़के तथा मन्त्रिमण्डलीय दल के अन्य नेताओं को तो बल मिला ही किन्तु महाद जी की व्यक्तिगत आकांक्षाएँ चाहे कुछ भी क्यों न थीं किन्तु यह तथ्य असन्दिग्ध है कि वह हिन्दू साम्राज्य के प्रति उतनी ही अटूट निष्ठा और अनुरक्ति रखते थे जितने कि उनके अन्य सहयोगी कार्यकर्ताओं की थी। हिन्दू साम्राज्य को पराजित अथवा पराभूत करने के लिए उत्कण्ठित किसी भी अहिन्दू शक्ति का प्रतिरोध करते हुए अपने प्राण विसर्जित कर देने की महान् सिद्धता भी उनमें थीं। इस कार्य में अग्रिम पंक्ति में रहने वालों में ही थे महाद जी। वे राघोबा दादा तो थे नहीं। यह सत्य है कि महाराष्ट्र के शासन-प्रबन्ध को अपने हाथों में लेने की आकांक्षा उनके मन में उत्पन्न हो गई थी किन्तु वे इस बात के कदापि पक्ष में न थे कि उसके लिए गृह-युद्ध की ज्वाला को धधका दिया जाय। अतः उन्होंने बड़े हर्ष सहित पेशवा की इच्छा के समक्ष नतमस्तक होते हुए

उनके निर्देशानुसार कार्य करने पर अपनी सहमति व्यक्त कर दी। जब सहसा ही हरिपन्त फड़के तथा मन्त्रिमण्डलीय पक्ष के अन्य लोगों ने उन्हें सूचित किया कि क्योंकि आपकी इच्छा है कि मन्त्रिमण्डल की सम्पूर्ण सत्ता को अपने हाथों में केन्द्रित करे किन्तु इस इच्छा का परिणाम प्रतिद्वन्द्विता के रूप में समक्ष आना अनिवार्य है और इससे उस महान् हिन्दू साम्राज्य को ही क्षति पहुँचेगी जो उन सभी के लिए प्रिय है तथा शत्रु पक्ष को प्रोत्साहन मिलेगा। अतः नाना साहब ने यह निश्चय किया है कि वे अपने राष्ट्र को गृह-युद्ध की ज्वाला में झुलसाने के स्थान पर स्वेच्छा सहित प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र ही दे दें। महादजी उनसे यह सब वृत्तान्त सुनकर अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्होंने यह विश्वास भी दिलाया कि वह नाना जी और उनके दल का किसी भी भाँति विरोध न करेंगे। इस बार भी मराठा इतिहास का वही पुराना उदाहरण साकार हो गया अर्थात् जब भी कभी राष्ट्र के समक्ष संक्रमण की बेला उपस्थित हो जाती है महाराष्ट्र के पुरोधा अपने पारस्परिक मतभेदों को भुलाकर संगठित हो जाते हैं। आज पुनः राष्ट्रहित के समक्ष अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं को तिलांजलि देकर दो बड़े नेताओं से सहयोग सहित कर्म क्षेत्र में उतरने को निश्चय कर लिया। उन दोनों ने ही पेशवा के चरणों में उपस्थित होकर यह शपथ ग्रहण की कि अब वे अपने पुराने विवादों और पारस्परिक वैमनस्य को पूर्णतः विस्मृत कर उस लोकतन्त्र तथा पेशवा की सेवा में ही अपना सम्पूर्ण जीवन लगा देंगे जो हिन्दुत्व के संरक्षक हैं।

जब इन दोनों महान् नेताओं के पारस्परिक संघर्ष की इतिश्री का समाचार महाराष्ट्र की जनता ने सुना तो उसके हर्ष का पारावार न रहा। उस समय महाराष्ट्र में जो प्रसन्नता की पुनीत धारा प्रवाहित हुई थी उसका प्रमाण गोविन्दराव काले के एक पत्र से मिल सकता है। गोविन्दराव काले अपने समय के एक सुयोग्य राजनीतिक विद्वान् तथा

महान् देशभक्त थे और मराठा साम्राज्य की ओर से निजाम राज्य में राजनैतिक प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त थे। यह पत्र उन्होंने नाना फड़नवीस को लिखा था। उन्होंने लिखा था "आपका पत्र प्राप्त कर मुझे नितान्त प्रसन्नता हुई। उससे मुझे असीम आनन्द की अनुभूति हुई। इस पत्र को पढ़कर मेरे हृदय में विचारों का प्रवाह हिलोरें लेने लगा। अटक से लेकर हिन्दू महासागर तक फैला यह देश हिन्दू भूमि हिन्दुस्थान है तुर्कों की भूमि अथवा तुर्किस्तान नहीं। पाण्डवों से महाराज विक्रमादित्य पर्यन्त यही हमारे देश की सीमाएँ रही हैं। उन महान् पुरुषों ने विदेशी आक्रान्ताओं से स्वदेश की रक्षा करने का महान् पराक्रम प्रदर्शित किया था और उसे सुदृढ़ प्रशासन व्यवस्था प्रदान की थी! किन्तु उनके उत्तराधिकारियों की अयोग्यता और पौरुषहीनता का ही यह परिणाम हुआ कि भारत का राज्य-शासन उनसे यवनों ने छीन लिया और इस प्रकार हमारी स्वाधीनता पराधीनता में बदल गई। बाबर के वंशजों ने हस्तिनापुर और दिल्ली पर ही अपने विजय ध्वज नहीं गाड़े अपितु औरंगजेब के राज्य शासन के समय तो हमारा इतना दमन कर दिया गया कि यज्ञोपवीत धारण करने की हमारी धार्मिक स्वतन्त्रता का भी अपहरण कर लिया गया। उस समय हमें विवश होकर धर्मपालन के लिए भी जज़िया चुकाना पड़ा और अभक्ष्य पदार्थों को भी भक्षण करने पर विवश होना पड़ा।

हमारे इतिहास ऐसी संक्रमण वेला में नवयुग निर्माता और हिन्दू धर्म के रक्षक महाराज शिवाजी अवतीर्ण हुए। उन्होंने हमारे भूखण्ड के एक अंचल को स्वतन्त्र कराया और उससे हमारे धर्म को संरक्षण प्राप्त हुआ। तदुपरान्त महान् पराक्रमी पुरुष नाना साहब और सदाशिवराव भाऊ अवतरित हुए। जिनकी महानता का पावन प्रकाश जन-जन के समक्ष सूर्य के प्रकाश की भाँति जगमगा उठा। हमने जो कुछ खोया था उसे हमने प्रचण्ड पराक्रमी पटेल महादजी सिन्धिया के महान् पुरुषार्थ के

फलस्वरूप महान् पेशवा के इस शासन-काल में पुनः प्राप्त कर लिया। यह सम्पूर्ण कार्य किस भाँति सम्पन्न हुआ यह विचार करके ही हम आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। एक बार की सफलता प्राप्त करते ही अहंकार का अन्धकार छा जाता है। हम उसके भयानक परिणाम को भी भुला बैठते हैं। यदि मुसलमानों को कभी ऐसी सफलता प्राप्त हुई होती तो कई इतिहास ग्रन्थ इस सफलता का गुणगान करते हुए लिख दिए जाते। मुसलमान अपनी एक सामान्यतम क्रिया को भी असाधारण तथा महान् सफलता की घटना के रूप में प्रस्तुत करते हैं। किन्तु इसके सर्वथा विपरीत हम हिन्दू कितना भी महान कार्य क्यों न सम्पन्न कर लें उसकी चर्चा मात्र करने में संकोच का अनुभव करते हैं। किन्तु अब एक अपूर्व कार्य सम्पन्न हो गया है। जो अजेय था उस पर भी विजय प्राप्त कर ली गई। मुसलमान स्पष्टतः ही यह कहने लग गये हैं कि साम्राज्य काफिरों के हाथों में चला गया और काफिरशाही स्थापित हो गई है।

वस्तुतः उस प्रत्येक व्यक्ति का सिर महादजी ने नत कराने में सफलता प्राप्त करली है जो हमारे विरुद्ध माथा उठाकर खड़ा होना चाहता था। हमें जो सफलता अर्जित हुई है वह मानव के लिए प्राप्त करना संभव ही नहीं है। आज हम भी प्राचीन सम्राटों के तुल्य ही सत्ता के स्वामी हैं। किन्तु अभी भी बहुत कुछ करना अवशिष्ट है। कोई भी यह नहीं बता सकता कि हमारे अवगुण कब और कहाँ हमें नतमस्तक होने पर विवश कर दें और शत्रुओं की क्रूर दृष्टि का हमें शिकार होना पड़े।

हम लोगों का लक्ष्य केवल-मात्र एक गौरव वैभवशाली साम्राज्य की स्थापना मात्र तक ही सीमित नहीं है। भौतिक सुखों की उपलब्धि मात्र से ही हम सन्तुष्ट नहीं हो सकते। अपितु वेद, शास्त्र और अन्य धर्म-ग्रंथों की रक्षा तथा हिन्दू सभ्यता की अभिवृद्धि एवं गौ ब्राह्मण का प्रतिपालन करना भी हमारा पावन दायित्व है। इस महान् उद्देश्यों की पूर्ति में सफलता प्राप्त करने का सूत्र आपके तथा महादजी के हाथों में

ही सुरक्षित है। आप दोनों के मध्य उत्पन्न हुआ साधारण-सा मतभेद भी राष्ट्र के शत्रुओं को शक्ति सम्पन्न होने का अवसर प्रदान कर देगा। किन्तु अब आप दोनों के मनोमालिन्य की समाप्ति से हमारे हृदय में उठने वाली सभी शंकाओं का शमन हो गया है। हमारे शत्रुओं को यह प्रतीत हो रहा था कि हम गृह-युद्ध की ज्वाला में ही दग्ध होकर क्षार-क्षार हो जाएँगे। किन्तु अब उनकी आकांक्षाओं पर तुषारापात हो गया है। उचित ही है कि अब मुझे अवर्णनीय शान्ति और आनन्द की अनुभूति हो। आज मैं सभी चिन्ताओं से पूर्णतः मुक्त हो गया हूँ। उस समय के एक कार्यकुशल तथा ध्येयवादी कार्यकर्ता का यह एक पत्र ही हमारे इतिहास की भावनाओं की सत्य अभिव्यक्ति है और यह एक पत्र ही नीरस इतिहासों के कई खण्डों की अपेक्षा भी सर्वश्रेष्ठ है।

किन्तु आशाओं और आशंकाओं के इस संघर्ष के मध्य ही महादजी ज्वरग्रस्त हो गये। प्रचण्ड ज्वर के प्रकोप के कारण ही १२ फरवरी १७६४ ई० को पूना के समीप स्थित बनवादी में महाराष्ट्र के इस महान् पुरोधा ने अपनी इहलीला समाप्त कर दी। इस रणशूर सेनानी ने सैन्य-शिविर में ही सर्वदा के लिए अपनी आँखें मूँद लीं।

मराठा सेनापतियों में सर्वाधिक शक्तिशाली इस सेनापति के निधन के समाचार से महाराष्ट्र मण्डल के शत्रुओं का प्रोत्साहित होना तो स्वाभाविक ही था। उन्होंने उसे नष्ट-भ्रष्ट करने के षड्यन्त्र और आक्रमण करने के प्रयत्न प्राण-प्रण सहित प्रारम्भ कर दिए। इन शत्रुओं में अग्रगण्य था हैदराबाद का निजाम। जिसके नखदन्त मराठों ने तोड़कर उसे पिंजड़े का शेर बनाकर रख दिया था। अब उसे भी मराठों से प्रतिशोध लेने की उपयुक्त घड़ी और अवसर प्रतीत हुआ और वह उत्तेजना से दग्ध हो उठा। उसने अपनी सेना भी दो नियमित बटालिनों से बढ़ाकर लगभग १२ गुनी अधिक कर ली और उसका नेतृत्व एक सुयोग्य तथा दक्ष फ्रांसिसी अधिकारी के हाथों में दे दिया उसका मन्त्री

मशरुल मुल्क एक महत्वाकांक्षी मुसलमान था। उसे महादजी द्वारा अपने पेशवा के लिए प्राप्त किये गए शाही अधिकार असह्य हो उठे। राज्य की सम्पूर्ण मुस्लिम जनता पर ही युद्ध का भूत सवार हो गया था और वे गली कूचों और बाजारों में यह घोषणाएँ करते हुए घूमने लग गए थे कि वह दिन सन्निकट है जब पूना पर मुसलमानों की विजय पताका फहरायेगी तथा वहाँ से काफिरशाही अर्थात् हिन्दू शासन को समाप्त कर दिया जायगा। निजाम के मन्त्री की हठ और ढिठाई इतनी अधिक बढ़ गई थी कि जब मराठा राज्य के प्रतिनिधि ने उससे चौथ माँगी तो उसने उत्तर में कहा कि नाना स्वयं यहाँ आकर इस बात का स्पष्टीकरण दें कि उसे चौथ लेने का क्या अधिकार प्राप्त है ? वह इतना कह कर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ अपितु उसने यह भी कहा कि "यदि नाना यहाँ स्वयं उपस्थिति न हुआ तो उसे शीघ्र ही यहाँ ले आया जायेगा।" संभवतः यह समझ कर कि इतने अपमान मात्र से ही मराठे युद्ध के लिए तैयार न हों उसने एक शाही समारोह भी आयोजित किया। इसमें उसने अन्य प्रदेशों के राजदूतों को भी जान-बूझकर निमन्त्रित किया। इस समारोह के अवसर पर उसने अपने दो दरबारियों को नाना और पेशवा के रूप में भी उपस्थित किया और उनका हर प्रकार से अपमान किया। इस दृश्य को देखकर निजाम के दरबार में उपस्थित दोनों मराठा राजदूत गोविन्दराव पिंगले और गोविन्दराव काले खड़े हो गए और उन्होंने इस अभद्रतापूर्ण व्यवहार की तीव्र भर्त्सना की उनमें से एक मराठा वीर ने निजाम के मन्त्री को ललकारते हुए कहा कि "ऐ मशरुल मुल्क तूने अपनी शक्ति के गर्व में चूर होकर नाना को अपमानित करने का प्रयास किया है और तू चाहता है कि उन्हें हैदराबाद आने के लिए विवश कर दें। किन्तु अब तक तुझे स्वयं ही नतमस्तक होना पड़ा है। इस बार तूने अपने राज-दरबार में हमारे स्वामी का अपमान अपने दरबारियों के माध्यम से कराने का दुस्साहस किया है। मैं तुझे आज ही सुस्पष्ट शब्दों में यह बताए देता हूँ

कि यदि मराठे तुझे जीवित ही बन्दी बनाकर हिन्दू साम्राज्य की राजधानी की गलियों में तुझे घूमने पर विवश न कर दें तो मेरा नाम भी गोविन्दराव काले नहीं।" इन ओजपूर्ण शब्दों का उच्चारण करने के उपरान्त मराठा प्रतिनिधि निजाम के राजदरबार से बाहर निकल आये और उन्होंने युद्ध घोषणा करने के लिए पूना की ओर प्रस्थान कर दिया। अंग्रेज मराठों तथा निजाम के हितचिन्तक होने का ढोंग रचकर दोनों पक्षों में सन्धि कराने का नाटक करने लगे। किन्तु मराठा सरदारों ने उन्हें डपट कर कहा कि तुम्हें महाराष्ट्र के कार्यों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। तुम इस प्रकार का दुस्साहस करने से दूर रहो। अंग्रेजों ने मराठों की मनोभावनाओं को समझ लिया और वे इतने अधिक भय संकुल हो गए कि जब निजाम ने उनसे सहायता प्राप्ति की याचना की तो उनमें निजाम का सहयोग करने का साहस ही उत्पन्न न हो सका। निजाम ने अपनी पूर्ण शक्ति और क्षमता सहित युद्ध की तैयारी प्रारम्भ कर दी। अपने राज्य की मुस्लिम जनता में उसने यह प्रचार कराया कि काफिरों के विरुद्ध धर्मयुद्ध आरम्भ किया जा रहा है। उसकी भावनाओं को भड़काने में कोई कसर न छोड़ी गई। प्रत्येक मुसलमान को बताया गया कि इस धर्मयुद्ध में भाग लेना उसका पावन कर्तव्य है और उसे पूर्ण किया जाना चाहिए। पूना को अग्नि की ज्वालाओं में दग्ध कर राख के ढेरों के रूप में परिणत कर देने के प्रलाप भी किए गए। निजाम का मन्त्री मशरुल मुल्क स्वयं भी यह चीत्कार करता हुआ घूमता दिखाई देने लगा कि मैं मराठों की पराधीनता से मुगल साम्राज्य को मुक्त कराने के उपरान्त ही सन्तोष की सांस लूँगा। वह घोषणाएँ कर रहा था कि मैं नवयुवक पेशवा को भिक्षुक बनाकर काशी की गलियों में भीख माँगने के लिए विवश कर देने के बाद ही सुख की साँस लूँगा।

जहाँ एक ओर निजाम का मन्त्री ऐसी दर्प पूर्ण घोषणाएँ कर अपनी मानसिक भड़ास निकालने में लगा हुआ था वहाँ हिन्दू साम्राज्य का मन्त्री नितान्त गम्भीरता सहित अपनी सेनाओं की गणना करने तथा युद्ध की

तैयारी करने में लगा हुआ था। अपने महान सेनापतियों और प्रमुखों से भी प्रमुखतम महादजी के निधन के बावजूद भी मराठे हतोत्साहित नहीं हुए थे। नाना साहब की प्रतिभा इससे पूर्व कभी इतनी अधिक तेजस्वी रूप में प्रकट नहीं हुई थी। अब महाराष्ट्र की जनता ने भी उन्हें जिस भाँति अपने विश्वास का भाजन इस समय बनाया इससे पूर्व कभी न बनाया था। उसके शब्दों में वह प्रभाव उत्पन्न हो गया था कि देश के सुदूर अंचलों में स्थित मराठा साम्राज्य की सेनाएँ भी एकत्रित होने लगीं। उनकी बुद्धिमत्ता पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता और विरोध की भावनाओं से ग्रस्त मस्तिष्कों में भी एकता और बन्धुत्व भावना के तार झंकृत कर दिए। देश के दूरस्थ प्रदेशों तक में फैली हुई मराठा सेनाओं को हिन्दू-पद पादशाही की आशा ने पूना की ओर आकर्षित करना आरम्भ कर दिया। महादजी के उत्तराधिकारी दौलतराव सिन्धिया को भी आगरा के रक्षक जीवबादादा तथा उत्तर में पठानों, रुहेलों और तुर्कों का मानमर्दन करने में सफलता अर्जित करने वाले सेनाओं सहित वहाँ आमन्त्रित किया गया। तुकोजी-राव होलकर तथा उनकी सेनाएँ तो पूना में उपस्थिति थी हीं, नागपुर से एक विशाल वाहिनी सहित राघोजी भौंसले ने भी पूना की ओर प्रस्थान कर दिया। समान उद्देश्य की उपलब्धि किए जाने वाले इस पुनीत संघर्ष में योगदान देने के लिए बड़ौदा से गायकवाड़ भी अपनी सशक्त सेना सहित चल पड़े। पटवर्धन और रास्ते, राजबहादुर तथा विंचूरकर, घाटगे एवम् चव्हाण, दाफले व पवार थोराट और पाटणकर अन्य बहुत से सरदारों और सेनापतियों ने भी इस आह्वान पर पूना की ओर पग बढ़ाया। पेशवा ने भी अपने महान मन्त्री और प्रचण्ड सैन्य वाहिनी सहित प्रस्थान कर दिया। यह प्रथम अवसर ही था जब युवक पेशवा ने स्वयं रणदेवी का आह्वान कर समर भूमि की ओर पग बढ़ाया था। अपने लोकप्रिय राजकुमार को अपने मध्य पाकर मराठा सैनिकों का उत्साह और भी प्रचण्ड हो उठा था और अपने हृदय सम्राट की उपस्थिति ने उनको इस

नवीन अभियान के लिए एक नवीन आकर्षण प्रदान कर दिया था। निजाम तो पहले से ही रणभूमि में सन्नद्ध खड़ा था। उसकी सेना में १ लाख १० हजार अश्वारोही और पैदल थे तथा साथ ही था एक आधुनिकतम तोपखाना भी। उसकी सेनाओं ने अपनी सैनिक क्षमता का जो प्रभावी प्रदर्शन किया था उससे मुगलों में अपनी विजय का विश्वास जम गया था। यद्यपि मराठों की बहुत सी सेना देश भर में विस्तृत उनके विशाल साम्राज्य की सीमाओं की सुरक्षार्थ तैनात थी किन्तु फिर भी १ लाख ३० हजार सैनिकों पर आधारित मराठा सेना इस समर भूमि में कूदने के लिए एकत्रित हो गई थी। परान्दा नामक महाराष्ट्र के सीमान्त स्थान पर ये दोनों विपुल सेनाएँ एक दूसरे के समक्ष आ डटीं। नाना ने अपनी सभी सेनाओं से युद्ध की विस्तृत और श्रेष्ठतम योजना को लिखित रूप में देने को कहा था और उनमें से उन्हें जो सर्वोत्तम प्रतीत हुई उसी का उन्होंने चयन किया। उन्होंने परशुराम भाऊ पटवर्धन को सम्पूर्ण मराठा सेना का सरसेनापति नियुक्त किया। ज्यों ही दोनों प्रतिद्वन्द्वी दल एक दूसरे के इतने समीप आ पहुँचे कि गोलियाँ सरलता से विपक्षी पर दागी जा सकें त्योंही युद्ध के मारू बाजे बज उठे। प्रारम्भिक मुठभेड़ों में मराठों को कई बार पठान सेना ने पीछे धकेल दिया। पराजित होने वाले सेनापतियों में परशुराम भाऊ पटवर्धन भी सम्मिलित थे। अतः मुगल शिविर में प्रसन्नता का पारावार न रहा और अपनी इन प्रारम्भिक सफलता पर हर्ष व्यक्त करने के लिए उन्होंने एक दरबार का ही आयोजन कर दिया। किन्तु निजाम को शीघ्र ही अपनी भूल की उसी समय अनुभूति भी हो गई जब कि अन्य मराठा सेना वहाँ आ पहुँची। अहमद अलीखाँ ने अपने ५०,००० चुने हुए सैनिकों सहित मराठा सेना का प्रतिरोध कर उस पर वीरता का प्रचण्ड प्रदर्शन करते हुए प्रहार प्रारम्भ कर दिया। भौसले के नेतृत्व में संघर्षरत मराठा वाहिनी ने भी शत्रुओं पर गोले बरसाने प्रारम्भ कर दिए। उसके कुछ समय पश्चात

ही सिन्धिया की तोपों ने भी एक ओर से गोले उगलने आरम्भ कर दिए। युद्ध ने वीभत्स रूप ग्रहण कर लिया। 'अल्ला हो अकबर' की गगन गुँजा देने वाली घोषणाएँ करने पर भी मुसलमानी सेना बहुत देर तक जमी न रह सकी। वह छिन्न-भिन्न हो गई और उसे पराजय का कलंक अपने माथे लगवाकर अपना मुख छिपाने के लिए भागने पर विवश होना पड़ा। मराठा सैनिक आगे ही बढ़ते गये और उन्होंने विपक्षी सेना को पूर्णतः नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। निजाम को भी अपना दुर्दैव सामने खड़ा हुआ दिखाई दिया और उसने भी रणभूमि से पीठ दिखाकर रात्रि के अंधकार में छिप जाने में ही अपने जीवन का प्रकाश देखा। अनियमित युद्ध तो रात्रि भर ही चलता रहा। मराठा सेना के वज्र प्रहारों से मुगल-सेना अपनी चेतना इतनी खो बैठी कि मौलवियों द्वारा उभारा गया धार्मिक उन्माद भी उन्हें ठहरने में सहारा न दे पाया और उन्होंने भागते हुए अपने ही शिविर को लूटना आरम्भ कर दिया। लूटमार करते हुए मुगल सैनिक सिर पर पैर रखकर ही अपनी प्राणरक्षार्थ भाग निकले। किन्तु मराठा शिविरों में तैनात सैनिकों ने इन भगोड़े मुगलों को लूट का माल भी लेकर न भागने दिया।

भगवान भुवन भास्कर प्राची दिशा में उदित हुए और उनकी किरणों के प्रथम प्रकाश में दिखाई दिया कि निज़ाम की सेना ने भाग कर खारदा नामक ग्राम के दुर्ग में मोर्चाबन्दी की है और वहाँ भी रह गये हैं केवल १० हजार सैनिक। मराठों ने भी अपनी तोपें आगे बढ़ा दीं और उस दुर्ग के चारों ओर स्थित पर्वतों और शैलमालाओं से मराठों की तोपों ने अग्नि वर्षा प्रारम्भ कर दी। युद्ध ने भयानक रूप ग्रहण कर लिया था। दो दिन तक तो मुगल इस प्रचण्ड प्रहार को सहन करते रहे। उसकी दाढ़ी ही नहीं अपितु उसके साहस को भी मराठों की तोपों के गोलों ने झुलसा दिया। किन्तु तीसरे दिन प्यास से सूखे हुए गलों, धुएँ से अटी हुई आँखों और अवरुद्ध कणों से विचलित शत्रु-पक्ष ने युद्ध रोक देने की

याचना की। मराठों ने इसका एक ही उत्तर दिया कि पहले मशरुल मुल्क को हमारे समक्ष प्रस्तुत करें। उसके बाद ही किसी अन्य बात पर विचार किया जा सकता है। उनका स्पष्टतः कहना था कि उसने महाराष्ट्र के राजपूतों का जो अपमान किया है उसको उसकी इस भूल का दण्ड तो निश्चित रूप से ही सहन करना होगा। मुसलमानों ने अपने विश्वास-पात्र मन्त्री मुशरुल मुल्क को मराठों के समक्ष उपस्थित कर दिया। उन्होंने यह भी प्रकट किया कि जो भी शर्त मराठों द्वारा प्रस्तुत की जाएँगीं उनका पूर्णतः पालन किया जायगा। अब पराण्डा और तापी के मध्य स्थित सम्पूर्ण भूखण्ड मराठों को सौंप दिया गया। चौथ की अवशिष्ट राशि के रूप में ३ करोड़ रुपये प्राप्त करने के अतिरिक्त भौंसले ने उनसे युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में २६ लाख रुपये की एक और राशि भी प्राप्त की इन शर्तों पर ही मराठों ने उस व्यक्ति को जीवित वापस जाने दिया जो पूना को भस्मीभूत करने, लूट-मार कर नष्ट-भ्रष्ट करने तथा पेशवा को काशी में द्वार-द्वार पर भीख माँगने के लिए विवश कर देने की प्रतिज्ञा ग्रहण करने के उपरान्त आया था।

मशरुल मुल्क को चारों ओर से विजेता काफिरों ने घेर लिया था। और उसे एक बन्दी के रूप में सम्पूर्ण मराठा शिविर में घुमाया जा रहा था। जब वह एक शिविर से दूसरे शिविर में ले जाया जाता तो सहस्रों मराठा सैनिकों के कंठों से गूंज उठती थी हर-हर महादेव की पावन जयध्वनि। मराठों ने उस व्यक्ति को बन्दी बनाया था जो नाना को बन्दी बनाने की दर्प पूर्ण घोषणाएँ करता रहता था। उन्होंने अपने राजदूत के शब्दों को सार्थक कर दिखाया। किन्तु ऐसा करने के उपरान्त भी उदार हृदय मन्त्री और लोकप्रिय पेशवा ने अपने इस पराजित शत्रु को और अधिक अपमानित करना उचित न समझा। वे चाहते तो उसे उससे पूना के द्वार-द्वार पर भिक्षाटन भी करा सकते थे किन्तु नाना ने उसे क्षमा प्रदान कर यह दिखा दिया कि मराठों में जहाँ अपने शत्रुओं को

नाकों चने चबवा देने की क्षमता है वहाँ वे क्षमादान देना भी जानते हैं।

पेशवा ने अपने सभी अधिकारियों सहित नितान्त धूमधाम से महाराष्ट्र की राजधानी में प्रवेश किया। अपने लोकप्रिय युवक पेशवा और वीर सैनिकों की मान-वन्दना करने हेतु प्रचण्ड जनसमुदाय उमड़ पड़ा। अपने विजयी सपूतों और योद्धाओं का स्वागत करने के लिए पूना नगर पूर्णतः सजाया गया। नारियाँ हिन्दुस्थान की इस सर्वाधिक धनी राजधानी के राजमहलों की छतों और झरोखों से विजयी सेनापतियों, कुशल राजनीतिज्ञों और वीरता के साक्षात् प्रतीक सेनानियों पर पुष्पवर्षा कर रही थीं। कुमारी कन्याएँ और सुहागिनियाँ अपने-अपने गृह-द्वारों के बाहर खड़ी आरती के थाल सजाकर नितान्त श्रद्धा और भक्ति सहित अपने युवक पेशवा की आरती उतार रही थीं। अपनी श्रद्धालु जनता के इस स्वागत सत्कार को ग्रहण करते हुए पेशवा अपने राजमहल की ओर शनैः-शनैः बढ़ रहे थे। प्रमुख सेनापतियों में से कई तो अपनी मीलों तक फैली विशाल सेनाओं सहित बहुत दिनों तक राजधानी के चारों ओर शिविर डाले रहे और इस भाँति एक बार हिन्दू साम्राज्य के वे अतीत के दिवस पुनः साकार हो उठे जब महान् पराक्रमी नाना साहब शासन करते थे और वीर भाऊ के हाथों में सेना का सफल सेनापतित्व था।

अब हम उन्हें कुछ समय के लिए यहीं छोड़ दें। नवयुवक और सौभाग्यशाली और प्रसन्न मन राजकुमार को अपनी प्रजा की असीम भक्ति भावना का आनन्द भोगने दें, महान् शक्ति-सम्पन्न मन्त्री को उस राज्य का उचित विभाग और विभाजित करके सुप्रबन्ध की व्यवस्था करने के लिए जिस पर उन्होंने अपनी विजय पताका फहराई है, भविष्य का कार्यक्रम सुनिश्चित करने हेतु, प्रदेशों के शासकों और प्रतिनिधियों तथा सेनापतियों से विचार-विनिमय करने के लिए, जिस महान् हिन्दू साम्राज्य का उन्होंने निर्माण किया है उसके विस्तार और सुशासन की व्यवस्था करने के लिए, महाराष्ट्रवासियों को अपनी उस महान् विजय

का आनन्द मनाने के लिए जो उन्होंने अपने प्रचण्ड पौरुष के बल पर अर्जित की है, चारणों और राजकवियों को अपने महान् पूर्वजों और सन्ततियों के अतुलनीय शौर्य और वीरता का गान करने हेतु, जिन्हें सुनकर आज भी मानव के नेत्रों में श्रद्धा का पुनीत गंगाजल छलक उठता है, भुजाएँ उनकी वीरता का स्मरण मात्र होते ही फड़क उठती हैं, ग्रामीणों को छोड़ दें खारदा की विजय-भूमि के वीर सेनानियों के शौर्य और वीरता के बल्लड़ सुनने के लिए। किसानों को छोड़ दें अपने हलों को चलाते हुए अपने वीरों की इस महान् विजयगाथा की पुनीत गाथाओं का संगीत गाने के लिए, इस विश्वास की महान् भावना के साथ कि जब तक नाना का राज्य है तब तक उसकी ओर कोई वक्र-दृष्टि भी नहीं डाल सकता और हम दृष्टि डालें उन देवालयों पर जो अब पुनः गर्व से अपने शिखरों को उठा रहे हैं और जिनमें पूजा के थाल और भेंट लेकर सहस्रों नर-नारी पूजा करने में मग्न हैं तथा एकत्र हैं। हरिद्वार से रामेश्वर तक की यात्रा करने वाले संन्यासियों, तीर्थ यात्रियों और सन्तों को इस देश में यात्रा करते समय अपने-अपने सिद्धान्तों और उपदेशों को प्रसारित करने दें और पूजा वन्दना करने दें। सामन्त और विद्वानों तथा छात्रों को उन महाविद्यालयों और मठों में अध्ययन-रत रहने दें जिन्हें धनी लोग करोड़ों रुपये की राशि देते हैं। जिससे कि अध्ययन करने वाला व्यक्ति भोजन और वस्त्र की चिन्ताओं से सर्वथा मुक्त रहे। हम चलें उस ओर जहाँ केवट और सैनिक अपनी जलीय और स्थलीय यात्राओं का उल्लेख अपनी प्राणप्रियाओं और अपनी वीर जननियों से कर रहे हैं, अपनी विजय गाथाओं की साक्षी के रूप में लूटे गये हीरे, जवाहिरात वे उन्हें दिखा रहे हैं। आज सम्पूर्ण महाराष्ट्र को स्वतन्त्रता के मधुर फलों का स्वाद लेने दें और आनन्द सागर की तरंगों पर तरंगित होने दें।

हम प्रजा को एक ऐसे आनन्द के वायुमण्डल में ही छोड़ना चाहते हैं जिससे कि वह स्वतन्त्रता और राष्ट्र की महानता के फलों का रसा-

स्वादन करने में सफलता प्राप्त कर सकें, जो कि उन्होंने कई पीढ़ियों के कठोर परिश्रम के फलस्वरूप अर्जित की। यद्यपि उसे परमात्मा ने इस तथ्य का भी ज्ञान कराया है कि सुख क्षणिक हैं तथापि वह सदैव ही वैभव के सर्वोच्च शिखिर पर अधिष्ठित होने के लिए प्रयास-रत रहता है। अतः जितने दिन तक उसके लिए सुखों का उपभोग संभव है वह करता रहे।

इसी बीच हम महाराष्ट्र के वर्तमान इतिहास के सम्बन्ध में जो कुछ भी संक्षेप में लिख चुके हैं उसी का सिंहावलोकन करेंगे। हम महाभारत के इतिहास को हिन्दुस्थान के इतिहास से संबद्ध करने का प्रयास करेंगे और साथ ही यह स्पष्ट करने का भी कि महाराष्ट्र का इतिहास भारत के इतिहास का ही एक अविभाज्य, महत्त्वपूर्ण तथा अनुपेक्षणीय अंग ही नहीं अपितु उल्लेखनीय अध्याय भी है।

द्वितीय भाग

●

एक सिंहावलोकन

१

आदर्श

महाराष्ट्र की छत्रछाया में एक भारतव्यापी हिन्दू साम्राज्य

स्वामी हिन्दू राज्य कार्य धुरंधर : राज्याभिवृद्धिकर्ते : तुम्हा लोकांचे आंगे जणीमे पावले, संपूर्ण हिन्दुस्थान निरुपद्रवी राहे तें, संपूर्ण देश दुर्ग हस्तवश्य करुन वाराणशीस जाऊन, श्री विश्वेश्वर स्थापना करितात' ।।

(हे हिन्दू राज्य के कुशल शासन संचालक तथा राज्य की प्रति अभिवृद्धि करने वाले महाराज ! आपके आशीर्वाद के फलस्वरूप सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना का महान् कार्य पूर्ण हो गया । अभी दुर्गों पर हमारी विजय पताका फहरा उठी है तथा वाराणसी में पुनः भगवान् विश्वेश्वर की स्थापना का पुनीत कार्य भी सम्पन्न हो गया है ।

—रामचन्द्र पन्त अमात्य

मराठा इतिहास के सिंहावलोकन की पृष्ठभूमि में हमारा लक्ष्य यही रहा है कि हम विस्तृत विवरण के भ्रम की अपेक्षा उन घटनाओं का चयन इस भाँति करें कि अखिल हिन्दू आन्दोलन की दृष्टि से महाराष्ट्र के इतिहास का मूल्यांकन संभव हो सके तथा उनकी समुचित प्रशंसा भी की जा सके । घटनाओं के चयन का हमारा एक उद्देश्य यह भी रहा कि हम यह व्यक्त कर सकें कि यह घटनाएँ चाहे स्वयं में कितनी ही जाज्वल्यमान और गरिमापूर्ण क्यों न रही हों किन्तु ये सब हिन्दू राष्ट्र के इतिहास का ही एक अध्यायमात्र हैं । अतः यह आवश्यक ही नहीं अपितु

अनिवार्य ही था कि हम मराठा आन्दोलन का यथासंभव संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करते और साथ ही उसके प्रेरणा स्रोत, मूल कारण और प्रेरक शक्ति को भी निश्चित रूपेण अभिव्यक्त करते जिनसे प्रोत्साहन प्राप्त कर महाराष्ट्र की जनता एक शक्ति सम्पन्न हिन्दू साम्राज्य की स्थापनार्थ कर्म क्षेत्र में अवतरित हुई और उसने त्याग और बलिदानों की झड़ी ही लगा दी। यह तो स्पष्ट ही है कि इस इतिहास के प्रथम खण्ड से महाराष्ट्र के बाहर के रहने वाले लोग सुपरिचित ही नहीं है अपितु उसकी प्रशंसा इस इतिहास के उत्तरार्द्ध की अपेक्षा अधिक ही करते हैं जिसका प्रारम्भ बालाजी विश्वनाथ तथा महाराष्ट्र मण्डल की स्थापना के पश्चात् से होता है। यद्यपि इस उत्तरार्द्ध की जानकारी जनसाधारण को पर्याप्त नहीं है फिर भी श्री रानाडे सरीखे विद्वानों ने इसके साथ न्याय किया है। उन्होंने छत्रपति शिवाजी और राजाराम के वंशजों की कृतियों का वर्णन समुचित रूप से एवं सही ढंग से किया है। हमने भी प्रथम भाग की कुछ ही घटनाओं का वर्णन विस्तृत रूप से किया है किन्तु जहाँ तक मराठा इतिहास के द्वितीय भाग का सम्बन्ध है हमने उसे अधिक पूर्ण रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, यद्यपि उसे भी विस्तृत विवरण की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वस्तुतः द्वितीय भाग के प्रारम्भ से ही यह इतिहास केवल महाराष्ट्र का इतिहास ही नहीं रह जाता अपितु उसका महत्व इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह भारतीय इतिहास का रूप ही ग्रहण कर लेता है।

अखिल हिन्दू दृष्टिकोण से इस सम्पूर्ण गाथा पर दृष्टिपात करते हुए हमारा लक्ष्य यही रहा है कि हम उन सिद्धान्तों को भी सुनिश्चित रूप से प्रस्तुत करें जो महाराष्ट्र की एक के पश्चात् दूसरी पीढ़ी को अनुप्राणित किया है। किन्तु इस संबंध में अपनी अभिव्यक्ति के स्थान पर इस गौरवपूर्ण इतिहास के निर्माताओं और विचारकों तथा आन्दोलन के नेताओं के द्वारा ही उनके उद्देश्यों का विवरण प्रस्तुत कराया है। यद्यपि ये बीर पुरुष

अपने मुख से अपने उद्देश्यों के संबंध में विशेष कुछ न कह सके किन्तु उन्होंने अपने वीरतापूर्ण कार्यों से ही अपने उद्देश्यों की जनता जनार्दन के समक्ष व्याख्या की थी। राष्ट्र को एकता के सूत्र में आबद्ध करने के महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व को सँभाल कर कर्मभूमि में पदार्पण करने वाले इन वीर सेनानियों को इतना अवकाश ही कहाँ मिलता था कि वे अपने सम्बन्ध में कुछ कह पाते, किन्तु फिर भी जो थोड़ा बहुत उनके मुख से मुखरित हुआ उसका प्रभाव भी उनके कार्यों की अपेक्षा न्यून कदापि न रहा। उनकी कृतियों और कथनों की सहायता से ही हमने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इस महान् वीर-काव्य का मूल विषय, इस प्रचण्ड राग की टेक और वह पावन लक्ष्य जिसने महाराष्ट्र के जन-जन को नवोत्साह प्रदान कर इस आन्दोलन में अपने जीवन समिधा के रूप में समर्पित करने की पावन प्रेरणा प्रदान की थी वह एक ही थी "अहिन्दुओं और विदेशियों की राजनैतिक दासता तथा धार्मिक उत्पीड़न से समग्र हिन्दू राष्ट्र को मुक्ति दिलाकर एक ऐसे सुदृढ़ और शक्ति-सम्पन्न हिन्दू साम्राज्य की स्थापना, जिसकी छत्रछाया में हिन्दू धर्म और हिन्दू सभ्यता को संरक्षण तो प्राप्त हो ही साथ ही वह विदेशियों के आक्रमणों और विनाशक इरादों को भी धूल-धूसरित कर देने में पूर्णतः समर्थ हो सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु छत्रपति शिवाजी और समर्थ स्वामी रामदास ही सचेष्ट नहीं थे अपितु उनके उपरान्त की वीर पीढ़ियों ने भी इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु अभियान को गतिमान रखा। शिवाजी के स्वधर्म राज्य के स्वप्न की पूर्ति हेतु उनके सहयोगियों ने भी हिन्दी स्वराज्य की स्थापना को ही अपना लक्ष्य माना। बाद में वीरवर बाजीराव ने भी हिन्दू पद-पादशाही की स्थापना को ही अपने जीवन का मूल-मन्त्र माना और १७९५ में विचारवान् राजदूत गोविन्दराव काले के मुख से भी वही ध्वनि गूंज उठी कि यह हिन्दुओं का हिन्दुस्थान (हे हिन्दुस्थान आहे) तुर्कों की भूमि नहीं (तुर्कस्थान नव्हे)। हम इस तथ्य को सुस्पष्ट रूप से

देखते हैं कि देश और धर्म की सेवा में समर्पित हिन्दू साम्राज्य की स्थापना ही इस महान् आन्दोलन को गति प्रदान करने की चिरन्तन सूत्र रही। स्वतन्त्रता का भौतिक सिद्धान्त ही एक बाज के समान स्वराज्य और स्वधर्म के रूप में दो पंखों को फैलाकर एक शताब्दी तक इस देश रूपी अंडे को सेता रहा और उससे जन्म हुआ एक ऐसी शक्तिशाली जाति का, जिसने इस उद्देश्य को साकार रूप प्रदान करने में सफलता प्राप्त कर ली।

द्वितीय महत्त्वपूर्ण तथ्य जो हम महाराष्ट्र प्रदेश के बाहर निवास करने वाले लोगों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते हैं वह यह है कि इस कार्य को पूर्ण करने हेतु एक दो व्यक्ति नहीं, एक दो पीढ़ी ही नहीं अपितु सम्पूर्ण राष्ट्र ही उठकर खड़ा हो गया था। यद्यपि हिन्दू जाति की स्वतन्त्रता का यह संग्राम छत्रपति शिवाजी और समर्थ स्वामी रामदास के वंशजों ने छेड़ा था, किन्तु इसकी उन्हीं के साथ इतिश्री नहीं हो गई अपितु उनके बाद की सन्ततियों ने भी इन पावन सिद्धान्तों का अनुसरण मात्र ही नहीं किया अपितु उसकी सफलता के लिए भी वे प्राण-प्रण सहित जुटी रहीं। इस महान् राष्ट्रीय वीरगाथा और आन्दोलन को उन्होंने सुविस्तृत किया। महान् वीरता के कार्य सम्पन्न किये गए और उसका सुदूरगामी प्रभाव प्रस्तुत हुआ। चरित्र सम्पन्न पुरुषों, महिलाओं, राजनीतिज्ञों, रणशूरों और लेखकों ने सहस्रों ही नहीं अपितु लाखों की संख्या में इस कार्य की पूर्ति हेतु अपने कदम बढ़ाए और यह कार्य एक शताब्दि तक अबाध गति से गतिमान रहा। ये सब एक ही पताका की छत्रछाया में प्रेरणा पाते रहे और वह पताका ही हिन्दुत्व की प्रतीक स्वर्ण गैरिक पताका अर्थात् परम पवित्र भगवा ध्वज।

इस तथ्य के साथ ही जब हम उस विशिष्ट राजनैतिक संगठन पर दृष्टिपात करते हैं जिसके अन्तर्गत मराठा राज्यों ने परस्पर एकता के सूत्र में आबद्ध होकर महाराष्ट्र मण्डल की स्थापना की थी तो हम इस निष्कर्ष

पर पहुँचते हैं कि मराठा आन्दोलन केवलमात्र एक जन आन्दोलन ही नहीं था, अपितु उससे भारतीय जीवन में राजनैतिक विचार और व्यवहार को भी एक नवीन दृष्टिभंगी प्राप्त हुई थी और गति भी मिली थी। भारत के वर्तमान इतिहास में ऐसा अन्य एक भी उदाहरण प्राप्य नहीं है जब कि एक राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत इतने बड़े साम्राज्य का संचालन सुचारु रूप से हो पाया हो। महाराष्ट्र मण्डल का सुचारु शासन-प्रबन्ध किसी व्यक्ति विशेष के सहारे नहीं चलता था अपितु वह वास्तविक अर्थों में ही एक ऐसा राष्ट्रमण्डल था कि जिसके विभिन्न घटक अपना उत्तदायित्व समान रूप से वहन करते थे और उन सब को एक राष्ट्रीय मण्डल का सिद्धान्त और तदनुसार व्यवहार करना ही अभीष्ट था। इसी सिद्धान्त से इस आन्दोलन के सभी सेनानी प्रेरणा ग्रहण कर रहे थे। महाराष्ट्र मण्डल के प्रत्येक प्रमुख अभिनेता के कार्य, उत्तरदायित्व और अधिकार सुनिश्चित थे। जिन लोगों की शिक्षा संघबद्ध राष्ट्रीय शासन के अन्तर्गत हुई हो वे गणतन्त्रात्मक संयुक्त राज्य पद्धति की ओर उन लोगों की अपेक्षा सरलता और तत्परता सहित आकृष्ट हो जाते हैं जो एकतन्त्रात्मक शासन के अधीन रहे हों। एक संघबद्ध प्रजातान्त्रिक राज्य का दूसरा उदाहरण वर्तमान इतिहास में सिखों के शासन के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। किन्तु वह एक बहुत ही छोटा राज्य था और उसकी शासन-व्यवस्था भी अपेक्षाकृत कम संगठित और नियमित थी। इसी कारण बहुत थोड़े दिनों तक ही स्थिर रह पाया। किन्तु क्योंकि वह भी इसी प्रकार की देशभक्ति पूर्ण भावनाओं सिद्धान्तों से अनुप्राणित और प्रेरित था तथा हिन्दू शक्ति के द्वितीय लोकतन्त्रवादी शासन के रूप में उसका भी गौरवपूर्ण उल्लेख आवश्यक है।

किन्तु मराठा आन्दोलन के राष्ट्रीय तथा अखिल हिन्दू स्वरूप को इस पुस्तक में उपस्थित करते हुए भी हम यह नहीं कह रहे कि इस आन्दोलन में भाग लेने वाले सभी व्यक्ति अखिल हिन्दू हित अथवा जन-

साधारण की भलाई के पावन उद्देश्य से ही प्रेरित थे। ऐसा कहना न्याय-संगत न होगा। हिन्दू हितों और राष्ट्र रक्षा के इस पुनीत लक्ष्य के साथ-ही-साथ गृह-युद्ध और पारस्परिक संघर्ष भी चल ही रहे थे। क्योंकि मराठे भी पहले तो हिन्दू ही थे और बाद में मराठा। अतः हिन्दू जाति के जीवन में व्याप्त दोषों से भी वे सर्वथा मुक्त किस भाँति हो सकते थे। उनमें भी तो हिन्दू जाति के सभी गुण और अवगुण विद्यमान थे। उनमें भी व्याप्त थीं हिन्दू जाति के जीवन से संलग्न दुर्बलताएँ और सामूहिक तथा व्यक्तिगत हितों की अच्छी और बुरी सभी भावनाएँ। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। मुसलमान अपने प्राथमिक आक्रमणों में जिस कारणों से विजयी हुए थे वे थे उनके धार्मिक भाव, सामाजिक संगठन तथा वीरतापूर्ण उत्साह। ये गुण हिन्दू जाति में बहुत ही कम मात्रा में उपलब्ध थे। यहाँ हमारा उद्देश्य महाराजा पृथ्वीराज और गौरी के समय में दोनों पक्षों में विद्यमान गुणों अथवा अवगुणों या दुर्बलता अथवा सबलता का तुलनात्मक विवेचन करना नहीं है किन्तु फिर भी उन कारणों का उल्लेख करना तो अनिवार्य ही है कि राजनैतिक विस्तार और धार्मिक विजयों की दृष्टि से मुसलमानों में कौन-कौन से गुण और अवगुण विद्यमान थे। मुसलमानों को अपने धर्म प्रचार के लिए यह खतरनाक सिद्धान्त समझाया गया है कि उसके धर्म से भिन्न अन्य सभी धर्मों को मानने वालों को नरक में स्थान मिलेगा तथा अन्य धर्मों को किसी भी प्रकार के अन्याय और छल-कपट द्वारा धराधाम से मिटा देना ही सबसे बड़ा पुण्य है। अन्य बातों में समानता होने पर भी उपरोक्त भावनाओं के कारण वे अपने प्रतिद्वन्द्वियों अर्थात् हिन्दुओं को पराजित कर उन पर अपनी सत्ता स्थापित करने में सफल हो गये थे। क्योंकि हिन्दू स्वभाव से ही शान्तिप्रिय थे। अहिंसा को ही परम धर्म मानने की भावना के अतिरिक्त हिन्दू समाज उन लोगों को भी पुनः अपनी जाति में सम्मिलित करने के लिए तैयार नहीं था जिन्हें बलात्

धर्मान्तरित कर लिया गया था। संगठन शक्ति की दृष्टि से भी वे नितान्त दुर्बल थे अतः उन पर विजय प्राप्त करना इन विधर्मियों के लिए नितान्त ही सरल था। यदि हिन्दुओं में मातृभूमि के प्रति समान भक्ति भावना अथवा समान जाति, समान राज्य सत्ता और एक सुदृढ़ साम्राज्य स्थापित करने और शुद्धि की वर्तमान में उपलब्ध भावनाएँ विद्यमान होतीं तो वे भी अपने शत्रुओं के समान ही एक सुसंगठित स्वरूप को ग्रहण कर अपने गौरव और सम्मान की रक्षा कर पाने में सफलता उपलब्ध कर सकते थे। मुसलमान जब भारत में आये तो उन्होंने यह अनुभव किया कि एकेश्वरवाद का उनका सिद्धान्त एक अपराजेय शक्ति रखता है और इससे उनकी धार्मिक एकता भी अत्यधिक समृद्ध हुई है। इसके साथ ही उनमें यह भी भावना हिलोरें ले रही थी कि सम्पूर्ण संसार को एक ही अल्ला के शासन की छत्रछाया में लाना उनका पावन कर्तव्य है। इसके विपरीत हिन्दुओं में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण का ही प्रचार था। तत्वज्ञान के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करने के भ्रमजाल में पड़कर ही वे किंकर्तव्य-विमूढ़ बनकर रह गये थे। इतना ही नहीं विदेश यात्रा को महान् पातक समझने की भ्रमपूर्ण प्रवृत्ति ने भी उन्हें अपने देश की सीमाओं से बाहर निकल कर अपने साम्राज्य का विस्तार करने की आकांक्षा को पनपने से रोका था। इसी कारण वे सदैव ही विदेशियों के आक्रमणों का लक्ष्य बने रहते थे। उनमें व्यक्तिगत रूप से उद्धार की भावनाओं ने ऐसा घर कर लिया था कि वे राजनैतिक और सामाजिक उन्नति की दिशा में प्रवृत्त ही न हो सके थे। स्वाभाविक रूप से ही अपनी उपरोक्त दुर्बलताओं के फल-स्वरूप वे छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित होकर रह गये थे। मत-मतान्तर प्रदेश और वर्णों की भावनाओं के कारण उनकी एकता का सूत्र भी ढीला पड़ गया था। उनमें एक राष्ट्रपुरुष के रूप में संगठित होकर खड़े होने की आकांक्षाएँ ही न पनप पाती थीं। उनमें एकता का एक ही

सामान्य-सा आधार था, वह थी उनकी समान सभ्यता। किंतु हिन्दुत्व के आधार पर सम्बद्ध होने की भावना भी उनमें बल न पकड़ पाती थी। यद्यपि सम्पूर्ण हिन्दू जाति को एक ही पावन पताका के नीचे संगठित करने के कई प्रयास हुए थे किंतु वे सभी एक-एक करके असफल हो जाते थे। धर्मान्ध और वीरता का प्रदर्शन करने वाले विदेशियों के समक्ष उन्हें पराजय ही स्वीकार करनी पड़ रही थी। यदि व्यक्तिगत रूप से विचार किया जाए तो कोई भी हिन्दू वीरता अथवा धर्मनिष्ठा में किसी मुसलमान की अपेक्षा कम न था, किन्तु एक जाति अथवा समुदाय के रूप में मुसलमान एक अल्ला और एक ही धर्म के नाम पर संघबद्ध थे और इनके लिए बलिदान चढ़ाने में भी वे किसी प्रकार के संकोच का कदापि अनुभव न करते थे। वे अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पावन धर्म युद्ध करने और साम्राज्य का विस्तार करने के लिए संगठित होकर निरन्तर संघर्ष करते रहे। उन्होंने विधर्मियों को अपनी दासता की शृंखला में आबद्ध करना ही अपना सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य समझा। किंतु सैकड़ों वर्षों तक समान रूप से ही विपदाओं और दमन का आहार बनने के उपरान्त हिन्दुओं की बुद्धि भी ठिकाने लगी। समय की ठोकरें खाकर उन्हें इस सत्य की अनुभूति हुई कि वे भी विभिन्न गुटों का समूह न होकर एक ही माता के पुत्र हैं और एक ही राष्ट्र के अभिन्न अंग। उन्होंने भी इस बात का अनुभव करना आरम्भ कर दिया कि वे पहले हिन्दू हैं और तत्-पश्चात् कुछ और। उन्हें अपनी असंगठित अवस्था और उसके कारण उपस्थित होने वाली दासता की शृंखला के कारण का पता लग गया। अतः उनमें भी एकता की पुनीत धारा प्रवाहित हुई और उनके हृदयों में भी जातीय भावनाएँ उत्पन्न हुईं और राष्ट्र के प्रति गौरव के विचार भी उनके मन में उदित हुए। अब वे भी व्यक्तिगत विचारों और मान्यताओं में उलझे रहने को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। उन्होंने मुसलमानों की सफलता के कारणों को समझने की भी चेष्टा की। उन्हें सफ-

लता भी प्राप्त हुई। और उन्होंने भी सकल हिन्दु बन्धु-बन्धु की भावनाओं से प्रेरित हिन्दू साम्राज्य की स्थापना का संकल्प ग्रहण कर अपना अभियान कर दिया। तात्कालिक हिन्दू जगत की राजनैतिक स्थिति और आन्दोलनों पर दृष्टिपात करने वाला प्रत्येक व्यक्ति इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि उस समय अकेला महाराष्ट्र ही इस आन्दोलन का अग्रगण्य नेता बनने और हिन्दू स्वातन्त्र्य के पुनीत आन्दोलन को साफल्य-मण्डित करने में समर्थ था। सम्पूर्ण भारतवर्ष का भ्रमण करने के उपरान्त समर्थ स्वामी रामदास जब वापस लौटे तो उन्होंने भी दुःख से कातर मुद्रा में किंतु आशापूर्ण शब्दों में यह घोषणा की थी कि "आज सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में कोई भी हिन्दू इतना शक्तिशाली और साहसी नहीं रहा जो इस पावन भूमि और राष्ट्र को मुसलमानों की राजनैतिक दासता की शृंखला से मुक्ति दिला सके, किंतु केवल महाराष्ट्रवासियों से ही आशा की एक किरण प्रस्फुटित होती दिखाई देती है।" अपनी इसी धारणा के साथ उन्होंने तथा उनके शिष्यों ने महाराष्ट्र को ही सर्वप्रथम संगठित करने तथा उसकी शक्ति के बल पर ही हिन्दुस्थान की स्वतन्त्रता तथा स्वधर्म एवं स्वराज्य की स्थापना का महान् संघर्ष चलाने का संकल्प किया। जिससे कि हिन्दू मन्दिरों और हिन्दू राज्य सिंहासनों को विदेशियों की दासता से मुक्ति दिलाकर विभिन्न प्रदेशों में बिखरी हुई हिन्दू शक्ति को सुसंगठित कर एक ऐसे शक्तिशाली महाराष्ट्र की स्थापना की जा सके कि जिसकी छत्रछाया में हिन्दू जाति रक्षित रह सके तथा हिन्दू धर्म की भी सुरक्षा हो। किंतु वे हिन्दू जाति और मराठों में विद्यमान उन प्रवृत्तियों का महाराष्ट्र से भी पूर्णतः उन्मूलन नहीं कर सके थे जिसके कारण हिन्दू जाति दुर्बल हुई थी। अभी भी सर्वसाधारण में व्यक्तिगत रागद्वेष और स्वार्थ की वे भावनाएँ किसी-न-किसी मात्रा में विद्यमान ही थीं जिनके कारण गृह-कलह और विवाद उत्पन्न हुआ करते हैं। इसी कारण हमें महाराष्ट्र के इतिहास में भी यदा-कदा

गृह-कलह का विस्फोट होने की घटनाएँ उपलब्ध होती हैं। किंतु फिर भी उन्हें ऐसी भावनाओं का निर्माण कर पाने में सफलता अवश्य ही मिल गई थी कि जहाँ कहीं और जब भी हिन्दू जाति अथवा हिन्दू राष्ट्र को आघात लगाने की आशंका उत्पन्न होती थी मराठे अपने व्यक्तिगत मान-अपमान निष्ठा तथा स्वार्थों की भावनाओं का दमन कर लेते थे। इस भाँति अखिल हिन्दू आन्दोलन के प्रति उत्पन्न हुए उत्साह, हिन्दू स्वातन्त्र्य के पावन लक्ष्य और देशभक्ति की प्रेरणादायी भावनाओं ने महाराष्ट्रवासियों के तुच्छ स्वार्थों का तो दमन और शमन किया ही साथ ही उन्होंने अपनी दुर्बलताओं का भी परित्याग कर दिया। अब वे भी इस योग्य हो गये थे कि अपने राष्ट्र तथा धर्म के हित को ही सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से प्रमुखता प्रदान करें। मराठों में ये गुण बढ़ी तेजी सहित उभरे और वे अपने इन गुणों में मुसलमानों को भी मात देने में सफल हो गये तथा सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में यह विश्वास घर करने लगा कि केवल मराठे ही हैं जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को तिलांजलि देकर भी हिन्दू जाति के हितों और राष्ट्रीयता को सबल स्वरूप देने के आकांक्षी हैं और उन्हीं के द्वारा हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना और सफल संचालन सम्भव है।

इस बात में कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू पद-पादशाही की स्थापना का पुनीत लक्ष्य मराठा जाति के प्रबल प्रयासों और अपराजेय भावनाओं का ही प्रतिफल था अतः उसे मराठा-पद-पादशाही भी समझा ही जा सकता है। हिन्दू-पद-पादशाही के रूप में एक सुदृढ़ हिन्दू साम्राज्य की स्थापना किए बिना हिन्दुओं में हिन्दू-धर्म के प्रति अपने हृदय में घृणा के भाव रखने वालों और विदेशियों के आक्रमणों से अपनी रक्षा करने का संकल्प हिन्दू जाति के हृदय में उत्पन्न हो ही नहीं सकता था। उस समय महाराष्ट्र को छोड़कर एक भी ऐसा सुदृढ़ संगठन नहीं था जो हिन्दू जाति के स्वातन्त्र्य संग्राम को साफल्यमंडित कर हिन्दू जाति की परा-

धीनता के पाश काट देने में सफल हो पाता। यद्यपि मराठों में देशभक्ति और स्वधर्म तथा राज्य की स्थापना का उत्साह तथा हिन्दू स्वातन्त्र्य का पुनीत संग्राम चलाने की आकांक्षा अन्य जातियों की अपेक्षा ही नहीं अपितु मुसलमानों की तुलना में भी अधिक थी। फिर भी इस सत्य को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अंग्रेजों की अपेक्षा उनमें जन साधारण की हितचिन्तना और संगठन दुर्बल ही था। यही कारण है कि अन्ततः मराठों को अंग्रेजों के समक्ष पराजित होना पड़ा। यह सही होने पर यह भी एक अकाट्य सत्य है कि मराठे ही हिन्दू आन्दोलन का संचालन सूत्र संभालने और अपने आपको हिन्दू पद-पादशाही का प्रतीक और पुरोधा बनाने में सफल हुए।

सर्वप्रथम मराठों में ही इतना साहस उत्पन्न हुआ। उन्होंने ही इस कार्य के लिए अपने स्वार्थों को होम देकर आत्मसमर्पण का महान उदाहरण प्रस्तुत किया। अतः यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि उनके द्वारा उस स्थिति में सम्पूर्ण हिन्दुस्तान को अपने संरक्षण और पावन पताका की छाया में लाने का जो प्रयास किया गया वह सही ही था। उन्होंने ही हिन्दू धर्म की रक्षा का पुनीत उत्तरदायित्व ग्रहण किया था। अखिल हिन्दू आन्दोलन की दृष्टि से भी उनका यह पग सामयिक और सर्वोत्तम था। किन्तु हमने संक्षेप में जो विवरण प्रस्तुत किया है उससे यही सिद्ध होता है कि मराठों में ही हिन्दू धर्म की सुरक्षा और उसके लिए अपेक्षित शक्ति विद्यमान थी। यदि मराठों के अतिरिक्त किसी अन्य हिन्दू जाति के अंग ने अर्थात् सम्प्रदाय ने यह कार्य संपन्न किया होता तो वह भी मराठों को यह कहने में पूर्णतः न्याय पथ पर होता कि वे उसकी अधीनता स्वीकार कर ले। यह बात विशेष महत्व की नहीं है कि हिन्दू-पद-पादशाही, हिन्दू साम्राज्य राजपूतों, सिखों, तामिलों अथवा बंगाली आदि किस जाति की पादशाही है। यह पादशाही चाहे किसी की भी होती किन्तु जिस किसी ने भी सामाजिक

अथवा जातीय किसी भी रूप में हिन्दू धर्म की रक्षा का पुनीत संकल्प ग्रहण कर सम्पूर्ण हिन्दुस्थान को एक विशाल हिन्दू साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का दृढ़ निश्चय व्यक्त किया होता वह ही हिन्दू भूमि के विभिन्न अंचलों में निवास करने वाले हिन्दुओं की श्रद्धा भावना का अधिकारी अवश्य ही बन जाता।

२

सर्वश्रेष्ठ मार्ग

उपाधीचें काम ऐसें । कांहीं साधे कांहीं नासे

(कठिन कार्यों में कुछ तो संपन्न हो जाते हैं और कुछ नहीं हो पाते)।

—रामदास

काहीं दिवस भयरहित सदोदित स्वराज्य चालविलें
दरिद्र अटकेपार जनांचे ज्यांनी घालविलें
जलचर हैदर नवाब इंग्रज रण करतां थकले
ज्यांनी पुण्याकडे विलोकिले ते संपत्तीला मुकले

(कुछ दिनों तक निर्भयता सहित स्वज्य का कार्य संचालन किया गया। प्रजा की निर्धनता को अटक के दूसरी ओर भगा दिया गया। जलचर के सदृश हैदर, नबाव तथा बड़े-बड़ फिरंगियों को भी युद्ध में पराजित कर देने में सफलता अर्जित की गई तथा जिसने भी पूना की ओर दृष्टिपात किया उसे अपनी संपत्ति से भी हाथ ही धोना पड़ा।

—प्रभाकर

लोगों को अपनी शक्ति के आधार पर एक राष्ट्रमण्डल निर्माण करने पर विवश करने के स्थान पर यदि मराठे उन्हें समझा-बुझाकर एक राष्ट्रमण्डल की स्थापनार्थ तैयार कर लेते और ऐसे राष्ट्रमण्डल की स्थापना कर ली जाती जिसमें मराठे, बंगाली, और पंजाबी ब्राह्मण अथवा महार अपने-अपने जातीय भेद-भावों का परित्याग कर हिन्दू जाति के रूप में ही संगठित हो जाते तो क्या मराठों का यह कार्य अधिक देशभक्ति पूर्ण और प्रेरक न होता ? निश्चय ही यदि ऐसा संभव हो पाता तोवह

कार्य अधिक देशभक्ति पूर्ण और प्रेरणाप्रद सिद्ध होता। किन्तु यदि हिन्दुओं में राजनीतिक एकता की ऐसी भावना विद्यमान होती और संगठन शक्ति का अभाव न होता तो मुस्लिम आक्रमणकारियों के घोड़े सिन्धु सरिता को कदापि पार न कर पाते। हमें तथ्यों को उनके वास्तविक रूप में स्वीकार करते हुए उस काल के लोगों की परिस्थितियों और वायुमण्डल के आधार पर ही विचार करना चाहिए। कोई भी व्यक्ति अथवा राष्ट्र अपने समय की परिस्थितियों की पूर्णतः उपेक्षा नहीं कर सकता और न ही उसके लिए उन परिस्थितियों से पूर्णतः ऊपर उठकर कुछ कर पाना ही संभव हो पाता है। यदि कोई व्यक्ति यह दावा करे कि मराठों के नेतृत्व में प्रारम्भ किया गया हिन्दू आन्दोलन सर्वथा त्रुटि रहित और दोषों से मुक्त था तो ऐसा कहना एक भ्रामक कथन तो होगा ही साथ ही उससे सत्य का भी गला घुट जाएगा। थे तो मराठे भी सामान्य मानव ही, वे कोई देवलोक के देवदूत तो थे नहीं। उन्हें भी मानव के रूप में मानवों के मध्य ही रहना पड़ता था देवताओं के मध्य तो उनका निवासस्थान नहीं था। एतदर्थ हमने पहले ही यह स्वीकार कर लिया है कि उनमें भी किसी न किसी सीमा तक वे राजनीतिक दुर्बलताएँ विद्यमान थीं जो सम्पूर्ण हिन्दू समाज में ही व्याप्त थीं। इसी कारण वे अपने पावन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अन्य कोई देशभक्तिपूर्ण मार्ग नहीं खोज पाए थे। हिन्दू समाज का अन्य कोई वर्ग भी किसी नवीन मार्ग का अवलम्बन नहीं कर पाया था। इतना ही नहीं अपितु हिन्दू समाज के अन्य वर्गों में से तो किसी ने उतना कार्य सम्पन्न करने की सिद्धता भी प्रदर्शित नहीं की थी जितनी कि मराठों ने दिखाई थी।

इतने पर भी यह कहना सर्वथा अनुपयुक्त होगा कि हिन्दू साम्राज्य की स्थापना के पुनीत आन्दोलन में उन्होंने अन्य किसी की सहायता प्राप्त करने का प्रयास ही नहीं किया था। अन्य हिन्दुओं से भी इस महान् यज्ञ में समिधा समर्पित करने की याचना की गई थी और इसके फलस्वरूप

कतिपय उत्तर और दक्षिण के वीर हिन्दुओं जिनमें राजपूत, बुन्देले और जाट आदि उल्लेखनीय हैं, ने योगदान भी किया था। ऐसे उदाहरणों का उल्लेख इससे पूर्व किया ही जा चुका है और उनके सम्बन्ध में हम अपनी टिप्पणियाँ भी प्रस्तुत कर चुके हैं अतः उनकी पुनरावृत्ति मात्र करके हम पाठकों को उकताहट की स्थिति में लाने के पक्ष में नहीं हैं।

यदि राजनैतिक विचारों और प्रशिक्षण के प्रसार के लिए समुचित समय उपलब्ध हुआ होता तो यह सुनिश्चित ही है कि महाराष्ट्र-मण्डल ही विस्तार पाकर एक विशाल हिन्दू साम्राज्य अथवा हिन्दू-गणराज्य का स्वरूप ग्रहण कर लेता। क्योंकि महाराष्ट्र-मण्डल ने अपनी इस प्रवृत्ति का परिचय दिया था। उसमें उदारता की भावनाएँ भी बढ़ती ही गई थीं। उत्तर और दक्षिण के कई छोटे और बड़े राज्य जो महाराष्ट्र-मण्डल की पताका तले एकत्रित हुए, उन्हें इस विशाल साम्राज्य में सम्मिलित तो कर लिया गया, किन्तु साथ ही उनके अधिकारों और उत्तरदायित्वों में किसी भाँति भी न्यूनता नहीं आने दी गई। मराठों ने अन्य हिन्दू-राज्यों को अपने साथ सम्मिलित होने का आह्वान भी किया था। जिससे कि उन सब के सहयोग से एक विशाल राष्ट्र-मण्डल की स्थापना का कार्य सम्पन्न हो सके। वस्तुतः नाना फड़नवीस के निधन (१८००) तक सम्पूर्ण भारत में पुनः हिन्दू साम्राज्य की विजय वैजयन्ती फहरा उठी थी और नेपाल से लेकर त्रावणकोर तक सम्पूर्ण देश हिन्दू राजाओं के अधीन ही था। जिसकी व्यवस्था और प्रशासन न्यूनाधिक रूप में महाराष्ट्र-मण्डल के निर्देशन में ही संचालित किया जाने लगा। यदि उस नितान्त ही अनुपयुक्त समय में मराठा तथा अन्य भारतीय जातियों से देश-भक्ति और राष्ट्रीयता तथा शक्ति एवं सुदृढ़ता की दृष्टि से श्रेष्ठ अंग्रेज का हिन्दुस्थान के रंगमच पर उदय न होता तो यह सुनिश्चित था कि महाराष्ट्र का हिन्दू साम्राज्य केवल महाराष्ट्र तक ही सीमित न

रह पाता अपितु समग्र हिन्दुस्थान में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना हो जाती। वस्तुतः उसका स्परूप प्रान्तीय राज्य का ही न होकर उसे एक सुसंगठित और संघीय हिन्दू साम्राज्य का रूप प्राप्त हो जाता। मुसलमानों से पराजित होते-होते भी जिस भाँति हिन्दुओं, विशेष रूप से मराठों और सिखों ने उनके दाव-पेच भली-भाँति समझकर एक ऐसी चातुर्यपूर्ण नीति का उपयोग किया था कि मुसलमानों के विजय स्वप्न धूल में मिला दिए गये। उनके श्रेष्ठतम हथियार भी मराठा सेनाओं से टकराकर कुंठित हो गए, उसी भाँति यदि उन्हें कुछ समय और प्राप्त हो जाता तो वे यूरोपवासियों के सम्पूर्ण गुणों को भी आत्मसात् कर पाने में सफल हो जाते। जिस भाँति पराजित होने के बाद जापान ने पुनः सन्नद्ध होकर यूरोपियनों की आकांक्षाओं को धूल-धूसरित कर दिया था उसी भाँति वे भी हिन्दुस्थान में यूरोपियनों की अपवित्र आकांक्षाओं को धूल में मिलाकर एक महान् हिन्दू साम्राज्य की स्थापना के सत् संकल्प का स्वप्न साकार कर पाने में साफल्यमण्डित हो जाते। मराठों ने तो यूरोपवासियों की युद्ध कला की एक महत्वपूर्ण विधि को भली-भाँति अंगीकार भी कर लिया था और उन्हें सफलता भी प्राप्त होने लग गई थी। उन्होंने भी अपने सैनिकों में सैनिक व्यायाम और अभ्यास की पद्धतियों को प्रचलित कर उन्हें अनुशासन-बद्ध सैनिकों के रूप में सुसंगठित करने में सफलता प्राप्त करनी प्रारम्भ कर दी थी। उन्होंने महादजी सिन्धिया तथा बख्शी सरीखे अपने सुयोग्य नेताओं के नेतृत्व में यूरोपवासियों द्वारा उपयोग में लाए जाने वाले शस्त्रास्त्रों का उपयोग करना मात्र ही नहीं सीखा था अपितु वे उन्हें बना लेने में भी सफलता प्राप्त कर चुके थे। ये सभी तथ्य इस एक सत्य की ही साक्षी प्रस्तुत करते हैं कि महाराष्ट्र मण्डल उन्नति के पथ पर बढ़ता हुआ शनैः-शनै हिन्दू साम्राज्य का रूप ग्रहण करता जा रहा था। उन सभी गुणों को आत्मसात् कर लेने में सफलता अर्जित कर लेता, जो यूरोपियनों में थे। जिस भाँति

मराठों ने मुसलमानों का अहंकार घट फोड़ा था और उन्हें पराजित करने में सफलता प्राप्त की थी उसी भाँति वे यूरोपियनों को पराजित कर हिन्दुस्थान में एक संयुक्त-राज्य मण्डल का गठन वैसे ही हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त कर लेते जिस प्रकार के साम्राज्य की स्थापना विभिन्न जर्मन राज्यों ने संघबद्ध होकर एक जर्मन साम्राज्य के रूप में की थी।

किन्तु हमें इन सभी कल्पनाओं को एक ओर रख कर वस्तुस्थिति और इतिहास के ठोस सत्यों की ही अभिव्यक्ति करनी है। इसी के अनुसार हम उस समय की परिस्थितियों और वायुमण्डल के संदर्भ में ही उन घटनाओं का मूल्यांकन करेंगे। इन एतिहासिक परिणामों को दृष्टिगत रख कर जब हम विचार करते हैं तो हम हिन्दू साम्राज्य की स्थापना के पावन कार्य में असफल रहने के लिए हिन्दुओं के किसी भी वर्ग और उनमें भी मराठों को दोषी नहीं ठहरा सकते। यदि हम उन्हें दोषी ठहराना ही चाहें तो वह प्रक्रिया ठीक इसी प्रकार की होगी कि जैसे कोई शिवाजी को इस बात के लिए दोष दें कि वे मोटरकार पर सवारी क्यों न करते थे अथवा कोई जयसिंह को इस बात के लिए दोषी ठहराता हो कि उसने अखिल हिन्दू आन्दोलन के प्रचार के लिए समाचार-पत्रों का प्रकाशन क्यों नहीं किया। ऐसा अपराध या तो हिन्दुस्थान के सभी हिन्दुओं द्वारा किया गया है अथवा किसी ने भी नहीं किया। अतः यदि हम उस समय की परिस्थितियों के संदर्भ में इस सम्बन्ध में विचार करते हैं तो यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि हिन्दुओं में अखिल हिन्दू बन्धुत्व भावना का उदय इसी सीमा तक नहीं हो पाया था कि वे अपने व्यक्तिगत, प्रादेशिक तथा अन्य संकीर्ण हितों को बलि चढ़ाकर अपने-आपको केवल हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना के पावन आदर्श की परिणति के लिए ही लगा देते। यह भी एक तथ्य है कि यद्यपि हिन्दुओं के अन्य वर्गों की तुलना में मराठों का सामाजिक और राष्ट्र-जीवन अधिक प्रभावी और

संगठित था और उनमें देशभक्ति की पुनीत भावनाएँ भी अपेक्षाकृत अधिक थीं किन्तु उनमें भी वे गुण पूर्णरूपेण विद्यमान नहीं थे जिनके कारण देशभक्ति की उस पुनीत ज्वाला का प्रस्फुरण हो जाता हैं जिसमें स्वार्थों के तत्व जलकर राख हो जाते हैं। हाँ, यह सत्य है कि राष्ट्रीयता और देशभक्ति के उस आदर्श की ओर वे द्रुतगति से बढ़ अवश्य ही रहे थे। वस्तुत: अन्य हिन्दुओं की अपेक्षा महाराष्ट्रवासियों में ही हिन्दू जीवन का प्रसार अधिक था और महाराष्ट्र मण्डल ही एकमात्र ऐसी शक्ति थी जिसकी छत्रछाया में संगठित होकर सम्पूर्ण हिन्दू राज्य एक संघ के रूप में किसी भी शक्तिशाली-से-शक्तिशाली शत्रु को धूल चटा सकते थे। जब हम अखिल हिन्दू सिद्धान्त को दृष्टिगत रखकर विचार करते हैं तो हमें छत्रपति शिवाजी और समर्थ स्वामी रामदास की सन्ततियों के वे सिद्धान्त तथा प्रयास न्यायसंगत ही प्रतीत होते हैं जिनके अनुसार उन्होंने प्रथमत: सम्पूर्ण महाराष्ट्र को हिन्दुत्व की पावन पताका के नीचे संगठित कर दक्षिण में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की थी। उनकी यह योजना थी कि पहले इस राज्य को सुदृढ़ रूप दे दिया जाए और तदुपरान्त हिन्दू-धर्म की स्वतंत्रता के पावन संग्राम का कार्यक्षेत्र उत्तर में नर्मदा से अटक तक तथा दक्षिण में तुंगभद्रा से सागर की उत्ताल तरंगों में फैले हुए विस्तृत भू-खण्ड तक बढ़ाया जाए। वे चाहते थे कि ज्यों-ज्यों उनकी शक्ति सुदृढ़ होती जाय वे अपने राज्य को विस्तृत करने के साथ अन्य हिन्दू शक्तियों को भी संगठन सूत्र में आबद्ध करते चले जायँ और इस भाँति ऐक विशाल हिन्दू साम्राज्य की स्थापना का पावन लक्ष्यपूर्ण किया जाय। वस्तुत: यही एक ऐसा मार्ग भी प्रतीत होता है जिसे क्रियात्मक रूप दिया जा सकता था और समग्र हिन्दू जाति को दासता की अपावन श्रृङ्खलाओं से मुक्ति दिलाकर हिन्दू-पद-पादशाही की स्थापना का लक्ष्य-पूर्ण हो सकता था।

यद्यपि घटनाओं ने यह सिद्ध भी कर दिया था कि यही एकमात्र

व्यावहारिक योजना थी जिसे क्रियान्वित किया जा सकता था किन्तु यह भी एक सुनिश्चित तथ्य है कि मराठों को अपनी इस योजना के क्रियान्वयन के मार्ग में हिन्दू राजाओं का ही विरोध सहन करना पड़ा। इनमें से कुछ तो ऐसे थे कि जिन्होंने अपने गौरव का पूर्णतः विस्मरण कर मुस्लिम शक्ति की दासता की बेड़ियों को ही कंठ का हार समझना प्रारम्भ कर दिया था। उन्हें इसी में अपना जीवन कृतकृत्य प्रतीत होने लगा था। ये लोग अपने-आपको मुसलमानों, नवाबों और निजाम का प्रजाजन और आश्रित ही नहीं अपितु दास कहलाने में भी गर्व का अनुभव करने लग गये थे। किन्तु जब मराठे जो स्पष्ट रूप से हिन्दू जाति की मान-मर्यादा और गौरव की पुनर्स्थापनार्थ कृत-संकल्प होकर कार्यक्षेत्र में अवतरित हुए थे उनसे सहयोग की याचना करते थे और हिन्दू-साम्राज्य के प्रति आस्था की भावनाओं को जागृत करने के लिए प्रेरित करते थे तो उनके लिए इस बात पर ध्यान देना भी असह्य हो जाता था। मराठों को तब तक ऐसे लोग अपना शत्रु ही मानते रहते थे जब तक कि महाराष्ट्र के हिन्दू साम्राज्य संस्थापकों के विजयी अश्वारोही अपनी विजय पताका उनके क्षेत्र पर न फहरा देते थे अथवा उनके स्वामी मुसलमानों को नतमस्तक होने पर विवश न कर देते थे। वे स्वेच्छासहित मराठों के साथ सहयोग करने को कदापि उद्यत न होते थे। किन्तु कतिपय ऐसे हिन्दू बन्धु भी मराठों से संघर्षरत हुए जिनके हृदय में अखिल हिन्दू आन्दोलन की चिनगारी मराठों के समान ही प्रज्वलित हो रही थी। वे भी विदेशी शत्रुओं को हिन्दुस्थान से समूल नष्ट कर देने के लिए उतने ही कटिबद्ध थे जितने कि मराठे। किन्तु उनमें ऐसी भावना विद्यमान थी कि मराठों को इस बात का क्या अधिकार है कि वे ही हिन्दुस्थान के स्वातन्त्र्य संग्राम के अगुआ बनें और अन्य राजाओं को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत आने के लिए बाध्य करें। किन्तु भला उन्होंने ऐसा प्रयास क्यों नहीं किया कि वे अपने आपको सर्वाधिक शक्तिशाली, क्षमतावान और

पौरुषवान सिद्ध कर पाने में सफल हो जाते ? इनमें से कतिपय ऐसे राजा भी थे जिनके पूर्वजों ने हिन्दू धर्म की रक्षा उन संकटापन्न परिस्थितियों में की थी जब कि भारतवर्ष के भाग्य गगन पर विपत्तियों के बादल इन दिनों की अपेक्षा भी अधिक भयानक रूप में छाए हुए थे। वस्तुतः मुगल साम्राज्य के पराभव के दिनों में सभी को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार हिन्दू राज्य की स्थापना का सुअवसर उपलब्ध हुआ था। अतः मराठे भी अपने राज्य की स्थापनार्थ सचेष्ट और सक्रिय थे। भला उन्हें ऐसा प्रयास क्यों न करना चाहिए था ? यद्यपि अन्य राजाओं का दावा भी सही ही था किन्तु मराठों के दावे को भी गलत किस आधार पर कहा जा सकता है। अतः प्रत्येक को ही इस दृष्टि से समान अधिकार प्राप्त था किन्तु साथ ही साथ उन पर एक कर्त्तव्य का दायित्व भी था और वह यह कि वे मुस्लिम शक्ति को अपने पूर्ण प्रयास द्वारा छिन्न भिन्न करने का प्रयास करते। यदि उन्हें विशाल हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त न होती तब भी उनको छोटे-बड़े हिन्दू राज्यों की स्थापनार्थ तो प्रयत्नशील रहना ही आवश्यक था। किन्तु जब छोटे-छोटे राज्यों को संघबद्ध कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना का महत्वपूर्ण प्रश्न उनके समक्ष उपस्थित हुआ तो उनमें उस समय के राजनैतिक वायुमण्डल और परिस्थितियों के प्रभाव के फलस्वरूप एक दूसरे की नियत पर सन्देह करने और हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की निष्ठा, व योग्यता पर शंका करने की भावनाएँ बलवती हो उठीं।

मराठों में यह भावनाएँ प्रबल हुई कि उन्होंने ही मुगलों, अंग्रेजों पुर्तगालियों को पराजित कर हिन्दू धर्म की रक्षा का पावन दायित्व पूर्ण कर अपनी शक्ति का परिचय दिया है अतः उन्हीं को हिन्दुओं का नेतृत्व करने का अधिकार प्राप्त है। किन्तु दूसरे हिन्दुओं को उनकी यह युक्ति न्यायसंगत प्रतीत न हुई। उन्हें यह तो स्वीकार था कि मराठों ने विदेशियों को पराजित कर हिन्दुत्व की रक्षा का कार्य सम्पन्न किया है,

किन्तु वे यह स्वीकार करने को तैयार नहीं थे कि केवल इसी आधार पर अन्य सभी हिन्दू राजा उनकी आधीनता स्वीकार कर उन्हें चौथ चुकाना आरम्भ कर दें। उन्हें मराठों का यह कार्य अनुचित ही नहीं अपितु अनधिकार चेष्टा भी जान पड़ता था। इस प्रकार के संघर्ष और मतभेदों का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। वस्तुत: मराठे उपरोक्त विचार बनाने में इस दृष्टि से न्यायसंगत थे कि वे बहुत-सी सफलताएँ प्राप्त कर चुके थे और अन्य सफलताओं की उपलब्धि की दिशा में सचेष्ट और सक्रिय थे। उन्हें ऐसा विश्वास हो गया था कि वे ही हिन्दुओं की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा कर पाने में समर्थ हैं किन्तु यह स्वतन्त्रता उसी स्थिति में अक्षुण्ण रह सकती है जब कि वे अन्य सभी राजाओं को अपनी अधीनता में लाकर एक केन्द्रीय शासन की स्थापना के लक्ष्य को पूर्ण करें। ऐसे केन्द्रीय राज्य की स्थापना तभी संभव हो सकती थी कि जब कि सभी अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं को जाति हित के पावन यज्ञ में भस्मसात् कर देते। मराठों का ऐसा विचार इस दृष्टि से सही ही प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने ही अपने प्रचण्ड रणकौशल, पौरुष और पराक्रम के बल पर परकीय आक्रान्ताओं को परास्त करने के महान अभियान का सफलता सहित संचालन किया था। यह तथ्य भी सभी के समक्ष स्पष्टत: आ चुका था कि हिन्दुओं में मराठे ही सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न हैं और अन्य किसी भी हिन्दू राजा में यह शक्ति नहीं है कि वह विदेशी आक्रान्ताओं का मुँह तोड़कर सफलता सहित राज्य शासन का संचालन कर सके। अत: मराठों की आकांक्षाओं को दूसरे राजाओं द्वारा चुनौती देना असंगत ही था। यह स्पष्ट ही है कि उस समय परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि हिन्दुओं में जो सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न हो वही हिन्दू राज्य का स्वामी स्वीकार किया जाय। किन्तु हिन्दू राजा अपनी स्वार्थबुद्धि के कारण मराठों की अपेक्षा शक्तिहीन होने पर भी स्वयं ही हिन्दू साम्राज्य का अधिपति पद पाने के लिए

उतावले थे। उनसे मराठों का संघर्ष छिड़ जाना अनिवार्य ही हो गया था। राष्ट्रीय एकता और राजनैतिक संगठन को बलशाली बनाने के मार्ग में ऐसे अवसर आने अनिवार्य ही हैं।

यदा-कदा राष्ट्र हितार्थ देशभक्ति की पावन भावनाओं में तरंगित होते हुए मनुष्य को अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्णतः उपेक्षा करके कतिपय ऐसे कार्य भी सम्पन्न करने पर विवश होना पड़ता है जिनको करने की व्यक्तिगत रूप से उसकी कभी इच्छा नहीं होती।

हम सर्वप्रथम इस संदर्भ में मराठों के सम्बन्ध में ही विचार करें। उनमें भी कतिपय ऐसे हिन्दू भूमिधर, सरदार तथा राजकुमार विद्यमान थे जिन्हें दासता की शृंखलाओं को काट कर स्वतन्त्रता का स्वर्ण विहान देखने की अपेक्षा पराधीनता के पाश में जकड़े रहकर अन्धकार में रहने में ही आनन्द की अनुभूति होती थी। इसके विपरीत बहुत से जमींदार और राजकुमार विदेशी सत्ता की शृंखलाओं को काटकर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापनार्थ उत्कंठित थे। किन्तु जब छत्रपति शिवाजी और उनके वीर सहयोगियों ने महाराष्ट्र के संगठन और स्वराज्य स्थापना का पुनीत कर्म प्रारम्भ किया तो उन्हें उपरोक्त दोनों ही वर्गों के लोगों का विरोध सहन करना पड़ा। क्योंकि उन्हें शिवाजी की निष्ठा पर ही सन्देह था। उनमें से कुछ ने तो यहाँ तक कहा कि वस्तुतः भौंसला हिन्दू एकता और राष्ट्रीय संगठन की आड़ में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए सक्रिय है। वे प्रायः यह प्रश्न उठाते थे कि यदि शिवाजी हिन्दू राज्य स्थापना के ही इच्छुक हैं तो उन्होंने किसी अन्य शासक को अपना महाराज स्वीकार कर उसके नेतृत्व में कार्य करने की उदारता क्यों प्रदर्शित नहीं की। यदि भौंसला का उद्देश्य स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना मात्र ही है तो वह हमें अपने अधीन लाने का प्रयास करने की अपेक्षा हमारे अधीन ही क्यों नहीं हो जाता। वे तो शिवाजी के छत्रपति पदवी धारण को भी चुनौती देते थे।

क्षुद्रता, संकीर्णता और दासता की मनोवृत्ति रखने वाले इन लोगों ने हिन्दुओं के पुनरुत्थान की इस गम्भीर योजना को समाप्त करा देने के लिए मुस्लिम शक्तियों से हाथ मिलाने में भी आनाकानी नहीं की। किन्तु वे लोग जो इन विदेशियों को आमन्त्रित करने वालों के समान नीच मनोवृत्ति के नहीं थे, उन्होंने एक दूसरे ही मार्ग का अवलम्बन किया, जो उतना घातक और भयानक न था। उन्होंने परकीयों के समक्ष नतमस्तक होकर शिवाजी को कुचलने की दुरभिसन्धि के स्थान पर स्वयं ही शिवाजी से दो-दो हाथ करने का मार्ग अपनाया। इसीलिए शिवाजी को कई बार अपने ही बन्धु-बान्धवों के विरुद्ध भी अपनी तलवार उठानी पड़ी। इतिहास इस कार्य के लिए शिवाजी को कदापि दोषी न कह सकेगा और न ही वह शिवाजी को हिन्दू कुल शिरोमणि, हिन्दू जाति रक्षक और हिन्दू राज्य-संस्थापक की सम्मानित उपाधियों से विभूषित करने में संकोच का अनुभव करेगा। वस्तुत राष्ट्र हित की ही यह पुकार थी कि छोटे-छोटे राज्यों का उन्मूलन कर एक महान साम्राज्य की स्थापना की जाती। जो लोग स्वयं हिन्दुस्थान के अधिपति बनने की आकांक्षाएँ अपने हृदयों में सँजोए हुए थे उनके लिए एक ही मार्ग था कि वे शिवाजी के कार्यक्षेत्र में पदार्पण करने के पूर्व ही मुस्लिम दासता की शृंखलाओं को टूक-टूक कर देने के लिए कण्टकाकीर्ण पथ का अवलम्बन करते और स्वयं को शिवाजी की अपेक्षा सुयोग्य हिन्दू राज्य संस्थापक सिद्ध करने में सफलता अर्जित कर लेते। यदि वे ऐसा कर पाने में सफल हो जाते तो हिन्दु इतिहास में उन्हें भी हिन्दू आन्दोलन के प्रमुखों के रूप में ही स्मरण किए जाने का सौभाग्य अवश्य ही प्राप्त होता। किन्तु मराठा सरदार तथा अन्य लोग अपनी दुर्बलताओं अथवा अन्य कारणों वश यह कार्य सम्पन्न करने में सफल नहीं हो सके थे, अतः उनके लिए यही उपयुक्त थी कि वे शिवाजी को इस कार्य के सम्पन्न करने में योगदान देते और वे उन्हें इस महान राष्ट्र कार्य के सम्पन्न करने के लिए सक्षम समझ कर उन्हें ही यह

गुरुतर दायित्व स्वेच्छा सहित सौंप देते और अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं का दमन कर शिवाजी को सम्पूर्ण महाराष्ट्र का महाराजा स्वीकार कर लेते। राष्ट्रहित कीं दृष्टि से जिसे भी महाराज बनाना अपेक्षित हो बनाया जाना चाहिए किन्तु वह इतना योग्य अवश्य ही हो कि महाराजा बन सके।

वस्तुत: जिन परिस्थितियों में छत्रपति शिवाजी को अपने ही मराठा बन्धुओं के विरुद्ध शस्त्र उठाने पड़े, जिन अनिवार्य कारणों ने महाराजा रणजीतसिंह को कई सिख 'मिसलों' को परास्त करने पर विवश किया वैसी ही परिस्थितियों के फलस्वरूप महाराष्ट्र मण्डल को भी कई हिन्दू राजाओं की हठ के कारण उनके विरुद्ध संग्राम करना पड़ा था। जिस भाँति छत्रपति शिवाजी और महाराजा रणजीतसिंह को दोषी नहीं कहा जा सकता उसी भाँति महाराष्ट्र मण्डल पर दोषारोपण भी सर्वथा निराधार ही है। यह तथ्य भी स्पष्टत: समझ लिया जाना चाहिए कि मराठों के विरोधियों में कुछ ही ऐसे थे जिन्हें मराठों की प्रभुसत्ता को चुनौती देने के लिए दोषी ठहराया जा सकता है। उनमें से तो अधिकांश ऐसे ही थे जो अखिल हिन्दू भावना से प्रेरित होकर ही अपने स्वतन्त्र हिन्दू साम्राज्य की स्थापनार्थ प्रयत्नशील थे। मराठों के विरुद्ध उनका शस्त्र ग्रहण करना इस कारण अनुचित भी नहीं था। किन्तु यह तथ्य तो सुस्पष्ट है ही कि हिन्दू जाति, सभ्यता और हिन्दू धर्म की रक्षा हेतु एक विशाल हिन्दू साम्राज्य की स्थापना किया जाना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी था, फिर चाहे ऐसा साम्राज्य एकतन्त्र अथवा संघ-शासन किसी भी प्रणाली का अनुगमन करता, बंगाली या किसी अन्य प्रदेश के निवासियों का इसमें प्रभुत्व होता अथवा हिन्दुओंकी राजपूत अथवा तामिल या तेलगू जातियां शासन सूत्र को अपने हाथों में लेकर शासन करती। यदि हिन्दू साम्राज्य की स्थापना के इस पुनीत कार्य की दिशा में मराठे ही प्रवृत्त हुए और उन्हें अपने ही कतिपय धर्म-बन्धुओं के विरुद्ध शस्त्र भी

उठाने पड़े तो इस कार्य के लिए उन्हें दोषी घोषित करना सर्वथा अनुचित है। हमने इससे पूर्व ही लिखा है कि यदि इस स्थिति के लिए कोई दोषी है ही तो सम्पूर्ण हिन्दू समाज ही है अन्यथा कोई भी नहीं है। मराठों ने अपने प्रचण्ड प्रताप और शौर्य के बल पर एक हिन्दू स्वतन्त्रता के संग्राम को बड़ी सफलता सहित लड़ा भी और एक शक्तिशाली हिन्दू साम्राज्य की स्थापना भी कर ली थी। अतः उनका अन्य हिन्दुओं से व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं को तिलांजलि देकर उनकी अधीनता में कार्य करने के लिए प्रस्तुत होने की अपेक्षा करना स्वाभाविक ही था। किन्तु यदि वे ऐसा नहीं कर रहे थे तो मराठों को यह नैतिक अधिकार भी प्राप्त ही था कि वे उन्हें अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य कर देते।

३

प्राचीन और आधुनिक इतिहास के प्रकाश में एक विश्लेषण

'ज्या प्रकारें वानरांकरवीं लंका घेवविली त्या प्रकारें हेगोष्टझाली. सर्व कृत्यें ईश्वरावतारासारखीं आहेत, जे सेवक—हे पराक्रम पाहत आहेत—त्यांच जन्म धन्य आहेत, जे कामास आले त्यांनीं तो हा लोक-आणि परलोक-साधिला ! हे तर्दुद, हे मर्दुमकी, या समयांत हे हिंमत, ही गोष्ट मनींहि – कल्पवत नाही !'

(जिस भाँति वानर-सेना ने लंका को परास्त किया था उसी भाँति यह कार्य भी सम्पन्न हो गया। सभी कार्य ईश्वरावतारों के सदृश ही हुए हैं। जो सेवक इस महान् पराक्रम को देख रहे हैं उनका जन्म भी धन्य है। जिन्होंने इस कार्य के लिए अपने जीवन समर्पित किये हैं उनके इहलोक और परलोक दोनों ही सुधर गये हैं। उस समय के महान् योद्धाओं की वीरता और युद्ध कला की तो आज की स्थिति में हमारे लिए कल्पना कर पाना भी असंभव ही है।

—ब्रह्मेन्द्रस्वामी का पत्र-व्यवहार)

इसी कारण हमारे पूर्वजों की यह मान्यता रही है कि अन्य सभी राजाओं पर अपनी विजय पताका फहराकर जो भी पराक्रमी पुरुष सम्पूर्ण राज्य शासन का संचालन सूत्र अपने बलिष्ठ हाथों में थाम लेता है उसके द्वारा भारत के राज्यमुकुट को अपने शीश पर धारण करना तथा चक्र-वर्ती की उपाधि को अंगीकार करना न्याय-संगत ही नहीं अपितु एक पावन कर्तव्य भी है। जहाँ चक्रवर्तित्व प्रणाली के कतिपय दोष थे वहाँ

उसमें कई विशेषताएँ भी थीं। सम्पूर्ण जाति को एकता के सूत्र में आबद्ध कर राजनैतिक तथा सामाजिक समानता का सुअवसर उपलब्ध कराने तथा सार्वजनिक जीवन में एकता की शिक्षा-दीक्षा को सम्पूर्ण करने का यही मार्ग उन्होंने सर्वश्रेष्ठ समझकर इस पद्धति को स्वीकार किया था। केवल वही लोग देश का संचालन सूत्र अपने हाथों में संभालने का उपक्रम किया करते थे जिनमें संगठन-कौशल के साथ-ही-साथ राजनैतिक सूझ-बूझ भी होती थी। राज्यकुल में जन्म लेने मात्र के आधार पर ही यदि कोई अयोग्य व्यक्ति इस पद की प्राप्ति कर प्रयास करता था और राष्ट्र के धार्मिक तथा योग्य-जनों को उसके द्वारा धर्म और जाति का अहित होने की आशंका होती थी, तो वे ऐसे व्यक्ति का सहयोग न कर योग्य व्यक्ति को ही सिंहासन को सुशोभित करने की परिस्थितियाँ निर्माण करने की दिशा में सक्रिय हो जाते थे। इसी कारण हिन्दू राज्य-शक्ति का केन्द्र कभी हस्तिनापुर रहा तो कभी पाटलिपुत्र। कभी प्रतिष्ठाथान में राजनैतिक शक्ति केन्द्रित हुई तो कभी कन्नौज में। जब कभी कोई गहन राजनैतिक संकट राष्ट्र के समक्ष उपस्थित हो जाता था सभी नरेश पारस्परिक शत्रुता की भावनाओं को तिलांजलि देकर चक्रवर्ती सम्राट् की पताका के नीचे एकत्रित हो जाते थे। उन्हें यह विश्वास होता था कि उसी के नेतृत्व में हिन्दुस्थान एवं हिन्दू धर्म की सुरक्षा संभव है। अपनी पराजय के क्षणों का स्मरण कर वे विजेता राज्य से बदले चुकाने की घृणित मनोभावनाओं का कदापि शिकार न बन पाते थे इसके स्थान पर वे उस परम-प्रतापी नरेश की पताका तले संगठित होना ही अपना आवश्यक कर्तव्य मानते थे। वे इस तथ्य को ही स्मरण रखते थे कि उस वीर पुरुष ने उन्हें समरांगण में पराजित कर यह सिद्ध कर दिखाया है कि राष्ट्र के सफल नेतृत्व में वही सक्षम है। उसी के हाथों में हिन्दुस्थान की सुरक्षा और देश तथा धर्म की उन्नति का दायित्व सुरक्षित है।

महाराज हर्ष और पुलकेशिन द्वारा जब तक अपने सहधर्मी प्रतिद्वन्दियों पर अपना विजय केतु नहीं फहरा दिया गया तब तक उनके द्वारा उत्तर और दक्षिण में अपने साम्राज्य के विस्तार और सुशासन की आकांक्षा पूर्ण न हो सकी। उनके प्रतिद्वन्दी शासकों में कई तो उनके अपने कुल और वंश के ही व्यक्ति थे। इनके परिवार अथवा जाति के जिन लोगों ने इन विजेताओं की अधीनता को बिना युद्ध किये स्वीकार न किया वस्तुतः वे भी वीर पुरुष ही थे। यह संघर्ष मोल लेकर उन्होंने कोई घृणित कर्म नहीं किया था क्योंकि दासता को स्वीकार न करना और स्वतन्त्र रहने की आकांक्षा रखना ही मानवीय प्रकृति है। जिन्होंने पराधीनता के तौक को स्वेच्छा सहित अपने गले में धारण नहीं किया वस्तुतः वे सभी प्रशंसा के पात्र हैं।

दो शक्तिशाली साम्राज्यों की स्थापना के रूप में महाराज हर्ष और पुलकेशिन द्वारा राष्ट्र और देश की जो महान् सेवाएँ की गईं उनके लिए हिन्दू-समाज उनका सदैव ही कृतज्ञ रहेगा। इन दो सुदृढ़ राज्यों की स्थापना के फलस्वरूप हिन्दू जाति के जीवन में कर्मठता का संचार तो हुआ ही साथ-ही-साथ उसके राजनैतिक विचारों को भी दृढ़ता प्राप्त हुई। कुछ समय उपरान्त अपने बल-विक्रम के परीक्षण हेतु हर्ष और पुलकेशिन दोनों ही समरभूमि में कूद पड़े। उनके द्वारा युद्ध में प्रदर्शित किये गये रणकौशल की विवेचना उसी ढंग से करनी अपेक्षित है, जिस भाँति पिता अपने पुत्रों तथा गुरु अपने शिष्यों की तुलना इस आधार पर करता है कि समय आने पर इनमें से कौन अपने प्रतिद्वन्दी को पराजित करने में सफलता की देवी का वरण कर पाने में सक्षम है।

हिन्दू जाति में आज भी वंश, जाति, भाषा तथा सभ्यता की समानता की जो भावनाएँ विद्यमान हैं उनको अक्षुण रखने का श्रेय इन चक्रवर्ती सम्राटों को ही है जिनके चक्रवर्ती साम्राज्यों की राजधानियाँ अयोध्या अथवा इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर और पाटलिपुत्र, काश्मीर या कन्नौज

एवं मथुरा तथा कल्याण सरीखे नगर रहे हैं। जिस समय राजधानी का स्थानान्तरण एक से दूसरे स्थान पर होता था उस समय एक प्रान्त के सुयोग्य, बुद्धिमान, विद्वान् और शूरवीर पुरोधा उस प्रान्त अथवा स्थान पर ही पहुँच जाते थे, जहाँ नवीन राजधानी की स्थापना का पुनीत कार्य सम्पन्न होता था। प्रशासन की बागडोर उन्हीं के सबल हाथों में रहती थी। उनके साथ ही एक प्रान्त के रीति-रिवाज, भाषा और सभ्यता तथा धार्मिक विचार भी दूसरे प्रदेश में पहुँचते थे। इस भाँति पारस्परिक सहवास और संपर्क से रीति-रिवाजों, सभ्यता तथा सदगुणों का प्रभाव दूसरों पर भी पड़ता है और इसी सम्मिश्रण के फलस्वरूप सम्पूर्ण हिन्दुस्थान की सभ्यता में भी एकरूपता आई है। इससे लोगों में पारस्परिक प्रेम और मैत्री तथा भ्रातृत्व भावना का भी प्रसार हुआ है। वस्तुत: प्राचीन काल के चक्रवर्ती शासकों ने हिन्दू जाति को संगठित करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अतः अखिल हिन्दू दृष्टिकोण से भी हमारे लिए उनको यथोचित सम्मान देना ही अपेक्षित है, जिन्होंने अपने प्रचण्ड शौर्य और वीरता का प्रदर्शन कर अपने विजयकेतु फहराए तथा जो अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए नष्ट-भ्रष्ट हो गए। वस्तुतः वे दोनों ही हमारी आस्था के पात्र हैं।

भारतीय इतिहास में हर्ष और पुलकेशिन दोनों ही लोकप्रिय नाम हैं। मगध, आन्ध्र, आन्ध्रभ्रत्य, राष्ट्रकूट, भोज और पांड्य राज्यों की स्थापना भी हमारे लिए गौरवपूर्ण स्मृतियाँ हैं। यह भी सत्य है कि इनमें से प्रत्येक को ही अपने चक्रवर्ती शासन की स्थापना के लक्ष्य की पूर्ति हेतु हिन्दुओं से ही संघर्षरत होकर भयानक युद्धों में सहस्रों हिन्दुओं के रक्त से ही फाग खेलना पड़ा था। इतने पर भी हम उनमें से किसी को भी दोष देने के लिए तैयार नहीं हैं। हम इस संबंध में यह विचार करने के लिए ठहरने को कदापि तैयार नहीं हैं कि उनके समक्ष चक्रवर्ती साम्राज्यों की स्थापना करने के लक्ष्य की पूर्ति हेतु अन्य कोई मार्ग उपलब्ध था

अथवा नहीं। और यदि था तो उन्होंने युद्ध में रक्तिम फाग खेलने के स्थान पर उसको महत्व क्यों नहीं प्रदान किया। हम इस तथ्य से भी भली-भाँति परिचित हैं इनमें से कई साम्राज्यों का विस्तार हमारे प्रदेशों का दमन करने के उपरान्त ही हो पाया था। इतने पर भी उनके द्वारा समग्र हिन्दू जाति को ही लाभ पहुँचा अतः हम उन्हें दोषी ठहराने हेतु कदापि तैयार नहीं हैं। मराठों को भी उन्हीं के पदचिन्हों पर चलकर एक सुदृढ़ सुविस्तृत और सुव्यवस्थित प्रशासन की स्थापना कर पाने में सफलता प्राप्त हुई। यह सत्य है कि अपने साम्राज्य की स्थापना के इस प्रयास में अपने पूर्ववर्ती शासकों की अपेक्षा उन्हें कम ही रक्तपात करना पड़ा। यह सत्य है कि उनके अन्य हिन्दुओं तथा दूसरे प्रदेशों के निवासियों से संघर्ष भी हुए, किन्तु इसके लिए उन्हें दोषी घोषित ठहराना अनुचित ही होगा। अतः प्रत्येक हिन्दू का यह पावन कर्तव्य है कि वह अपनी जातिगत तथा प्रादेशिक भावनाओं को अलग रखते हुए इन महान् साधकों का भी उतना ही सम्मान करे जितनी कि अतीत काल का हिन्दू अपने चक्रवर्ती सम्राटों की करता था।

इतना ही नहीं अपितु मराठों को तो और भी अधिक सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त होनी आवश्यक है। इसका कारण यह है कि जिन आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखकर मराठा आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ था वे आवश्यकताएँ मराठों के पूर्व इन सभी आन्दोलनों की आवश्यकताओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व की थीं। मराठों का लक्ष्य और ध्येय महाराज हर्ष और पुलकेशिन की अपेक्षा भी अधिक श्रेष्ठ था। क्योंकि मराठों ने केवल अपने शौर्य और वीरता का डंका बजाने अथवा व्यक्तिगत सुख सुविधाओं को बढ़ाने की दृष्टि से ही अपने सुख और शान्ति को अंगार नहीं लगाए थे, चक्रवर्ती बनकर अपनी प्रतिष्ठा की पताका चहुँओर फहरा देने मात्र में ही उन्हें जीवन का एकमेव सार दिखाई न देता था। इनके स्थान पर उनके हृदय में एक ही आकांक्षा और एक ही महान्‌अभि-

लाषा थी, औरवह थी, हिन्दू जाति और राष्ट्र के अस्तित्व को लुप्त होने से बचाना। इस सम्बन्ध में उत्तर भारत के महान् कवि भूषण द्वारा प्रस्तुत यह श्रद्धांजलि कोरी प्रशंसा मात्र ही नहीं है कि "काशी हू की कला जाती, मथुरा मसीद होती, शिवाजी न होते तो सुनत होत सबकी।" किसी भी घटना के घटित होने के समय उसका न तो जनता सही मूल्यांकन ही कर पाती है और न ही उसे समुचित महत्व प्रदान करती है। जब उस घटना पर पुरातन की काई चढ़ जाती है तो जनसाधारण की दृष्टि में उसी का महत्त्व बढ़ जाता है। अन्यथा महाराष्ट्र मण्डल ने हिन्दू जाति के लिए जो कार्य किया वह भी कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं था अपितु उनका वह कार्य विक्रम अथवा शालिवाहन या चन्द्रगुप्त सरीखे प्राचीन काल के हिन्दू योद्धाओं से कम गौरव तथा गरिमापूर्ण न था। पाण्डवों के पश्चात् के इतिहास का अध्ययन करने से यह तथ्य सामने आता है कि चन्द्रगुप्त का शासन-काल नितान्त ही महत्त्वपूर्ण तथा ऐश्वर्यपूर्ण था, किन्तु इस तथ्य का भी विस्मरण नहीं किया जाना चाहिए कि उस समय हिन्दू धर्म पर आपदाओं के सघन घन इतने बीभत्स रूप में न छाए थे जितने कि वे मराठों के समय घहरा उठे थे। यदि उस समय कोई विपत्ति की घड़ी घहराई भी थी तो उसके शमन के लिए चन्द्रगुप्त के पास पर्याप्त साधन उपलब्ध थे। विदेशी इतिहासों में सिकन्दर की भारत विजय को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु वस्तुस्थिति यह थी कि वह केवल पंजाब को ही प्रभावित कर सका था, किन्तु वहाँ भी उसका विजय-केतु न फहरा पाया। हिन्दू राज्य-शक्ति उन दिनों पाटलिपुत्र में केन्द्रित थी और वहाँ तक सिकन्दर की आहट भी सुनाई न पड़ सकी थी। नन्द मलेच्छों के भारत से निष्कासित करने का दायित्व निभाने में पूर्णतः असफल था अतः राजनीति धुरन्धर चाणक्य तथा पराक्रमी चन्द्रगुप्त ने उसे राज्य सिंहासन का परित्याग कर देने पर ही मजबूर कर दिया था। महाबली चन्द्रगुप्त ने इस राज्य-शक्ति का संचालन सूत्र अपने हाथों में

थाम कर यवनों को भारत की पवित्र वसुन्धरा से पलायन करने पर विवश कर दिया। किन्तु चन्द्रगुप्त और मराठों के कार्य की तुलना न्याय संगत न होगी। क्योंकि जहाँ चन्द्रगुप्त के पास प्रचुर साधन उपलब्ध थे वहाँ हिन्दुओं पर विदेशी शक्तियों का आतंक भी इतना अधिक न बैठ पाया था कि उनकी सम्पूर्ण आशाएँ और आकांक्षाएँ ही उनका साथ छोड़ जाएँ। जिस समय मराठों ने स्वातन्त्र्य संघर्ष की कमान संभाली उस समय तो सम्पूर्ण भारत ही मुसलमान, पुर्तगाली तथा अन्य विदेशी शक्तियों द्वारा पददलित किया जा रहा था। शताब्दियों तक पराजय सहन करने के फलस्वरूप हिन्दू जाति का मनोबल ही भंग हो गया था और उनमें इस प्रकार का अन्धविश्वास भी जड़ जमाने लगा था कि मुगल सम्राट् का जन्म ही हम पर शासन करने के लिए हुआ और उसे हम पर शासन करने का दैवीय अधिकार प्राप्त है। हिन्दुओं की तलवारें भग्न हो गई थीं तथा ढालें भी खण्ड-खण्डित। इतने पर भी मराठे उठे और उन्होंने मुगल शक्ति का प्रतिशोध करते हुए उन्हें कई रण-स्थलों में पराजित कर हिन्दू जाति के अन्धकार-ग्रस्त भाग्य सूर्य को उबारा। हूण और शक भी यों, तो सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में ही प्रविष्ट हो गए थे किन्तु उनमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वे मुगलों के समान सम्पूर्ण भारत को अपनी पराधीनता के पाश में जकड़ पाते। मराठों के समय में हिन्दू धर्म पर जैसा प्रचण्ड आक्रमण मुसलमानों और पुर्तगालियों द्वारा किया गया वैसा आक्रमण तोरमाण और रुद्रदमन के शासन काल में भी नहीं हो पाया था। वस्तुतः जिन महान् पराक्रमी वीरों ने शकों और हूणों के आक्रमण से हिन्दुस्थान, हिन्दू जीवन पद्धति, हिन्दू धर्म की रक्षा करने में सफलता प्राप्त की वे अवश्यमेव प्रशंसा के पात्र हैं। हिन्दू मात्र ही उन वीर पूर्वजों का चिरऋणी रहेगा। उन्होंने हिन्दुओं के गले में पड़ने वाले पराधीनता के पाश को ही टूक-टूक करने की विक्रम प्रदर्शित नहीं किया अपितु मगध अथवा मालवा के प्रचण्ड शक्तिशाली हिन्दू साम्राज्यों का

भी गठन किया। वस्तुतः चन्द्रगुप्त, शालिवाहन और विक्रमादित्य के नेतृत्व में जो महान् साम्राज्य गठित हुए वे हमारे प्रदेशों पर विजय केतु फहरा कर तथा हमारे पूर्वजों के रक्तपात के उपरान्त ही अस्तित्व में आ पाए थे, इतने पर भी हम सभी का यह पावन दायित्व है कि अपने आपको उन महान् वीरों का चिरऋणी समझें तथा उनके द्वारा हिन्दू राष्ट्र एवं धर्म के लिए किए गए महान् कार्यों का स्मरण करते हुए उनके प्रति आदर और श्रद्धा की भावना को अपने हृदय में स्थान दें। क्योंकि चन्द्र-गुप्त, पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त, गौतमी के महान् पौत्र अथवा यशोवर्मन ने ही इस भूमि को हूणों और शकों की राजनैतिक दासता की शृंखलाओं से मुक्ति दिलाई थी। छत्रपति शिवाजी, बाजीराव, भाऊ, स्वामी राम-दास, नाना तथा जनकोजी ने समुचित साधनों के अभाव में भी ऐसी वीरता और शौर्य के कार्य सम्पन्न किए कि उनका उदाहरण प्राचीन इतिहास के पृष्ठों में पाना असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य ही है। उन्होंने ऐसे कालखण्ड में एक शक्तिशाली हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की जिस समय विक्रमादित्य अथवा चन्द्रगुप्त की तुलना में हिन्दू धर्म और जाति पर संकट गुरुतर रूप में विद्यमान था। क्या एक भी ऐसा हिन्दू होगा जो इन महान् वीरों द्वारा सम्पन्न किए गये कार्यों तथा उनके द्वारा संस्थापित महान् हिन्दू साम्राज्य और राष्ट्रीय गौरव और स्वाभिमान का स्मरण कर उन महापुरुषों की स्मृति में श्रद्धा सहित नतमस्तक न हो जाए और उस साम्राज्य का सप्रेम स्मरण न करे।

आज वाष्प और विद्युत के इस युग में भी मैजिनी और गैरीबाल्डी जैसे नेताओं को केवल नैतिक प्रचार के बल पर सम्पूर्ण इटली को संगठित करने में सफलता प्राप्त न हो सकी थी। यद्यपि वे इस आकांक्षा से कर्तव्य क्षेत्र में उतरे थे कि प्रादेशिक भावनाओं को दूर हटाकर उनके स्थान पर राष्ट्रीय भावनाओं को उत्पन्न करें। इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु वे प्राणप्रण सहित जुटे भी रहे, किन्तु फिर भी थोड़े बहुत लोग

उनका विरोध करने हेतु उठ ही खड़े हुए। नेपोलियन और रोमनों की बुद्धि में भी यह बात न उतर सकी कि इटली के संयुक्त राज्य की स्थापना के लिए अपनी प्रादेशिक भिन्नताओं का परित्याग कर दें। जिस समय पीडमॉन्ट नरेश, गैरीबाल्डी, क्रिस्पी और कैबूर तथा अन्य नेतागण एक के पश्चात दूसरे प्रान्त को पीडमॉन्ट साम्राज्य को अंग बनाते जा रहे थे प्रान्तीयता के कतिपय पुजारियों ने इन शूरवीरों की आकांक्षाओं और कार्यों के सम्बन्ध में भाँति-भाँति के प्रश्न उठाए तथा शंका-कुशंकाएँ, उपस्थित कीं। वे आस्ट्रिया तथा फ्रांस की दासता में जकड़े हुए थे तथा दमनचक्र की चक्की में पीसे जा रहे थे, किन्तु उन्हें अब परतन्त्रता की इन बेड़ियों में भी आत्म-ग्लानि की अनुभूति ही नहीं हो पाती थी। जिस भाँति कोई भी सेवक अपने स्वामी की तो नीचतम आज्ञा का भी सहर्ष पालन करता है किन्तु अपने से समानता की श्रेणी वाले व्यक्तियों की प्रार्थना भी उसे स्वीकार नहीं होती, क्योंकि ऐसा करने में वह अपने आपको अपमानित सा समझता है। अतः इटली को संगठित करने के प्रयास में गैरीवाल्डी और एमानुएल सरीखे सेनापतियों को केवल विदेशियों से ही नहीं अपितु इटली वासियों से भी संघर्ष करने पर विवश होना पड़ा। किन्तु उन्हें इस कार्य के लिए कोई कदापि दोष नहीं देता। आज इटली के निवासी जिनमें नेपोलियनों और रोमनों, दोनों के वशंज ही सम्मिलित हैं, उन्हीं वीरों को इटली के निर्माताओं की संज्ञा देते हैं तथा उनका नाम सुनकर, उनके गौरवपूर्ण कार्यों का स्मरण कर नितान्त श्रद्धा सहित अपनी टोपियाँ सिरों से उतार कर उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। पीडमॉन्ट नरेश को ही बाद में इटली के सम्राट् के रूप में मान्यता प्रदान की गई। इसी भाँति यदि उचित समय प्राप्त हुआ होता तो मराठों का शाशक भी सम्पूर्ण हिन्दुस्थान के सम्राट् के रूप में मान्यता पा लेता। इस उत्तरदायित्वपूर्ण पद को ग्रहण करने की उसमें योग्यता भी थी। शत्रु और मित्र दोनों पक्षों में ही यह चर्चा थी कि विश्वासराव को

भाऊ ने भारत का सम्राट् घोषित कर दिया है।

जर्मन राज्यों, उनकी स्वतन्त्रता तथा एकता का इतिहास मराठों के काल के इतिहास तथा हिन्दुस्थान के राजनैतिक विकास से कई दृष्टियों से समानता रखता है। जब हिन्दू राजाओं द्वारा मराठा नरेश को अपने सम्राट् के रूप में मान्यता देकर कार्य किया जा रहा था। जिस भाँति पीडमॉन्ट का इटली का राज्य और पर्सिया का जर्मन साम्राज्य राष्ट्रीयता की भावनाओं से ओत-प्रोत थे, उसी भाँति महाराष्ट्र के हिन्दू साम्राज्य में अखिल हिन्दू हित तथा राष्ट्रीयता की पावन भावनाएँ बद्धमूल हो चुकी थीं। अतः प्रत्येक हिन्दू का यह पावन कर्तव्य है कि उस साम्राज्य की स्थापनार्थ सर्वस्व समर्पित करने वाले इन महान् वीरों का स्मरण कर उन्हें अपनी श्रद्धा के सुमन समर्पित करें।

४

महाराष्ट्र की नवीन शैली

[आपणांस राखून गनीम घ्यावा स्थलास गनिमांचा वेढ़ा पडला तो रोज झूंजून स्थल जतन करावें. निदान येऊन पडलें तरी परिच्छिन्न नार होऊन लोकीं मरावें. पण सल्ला देऊन, स्थल देऊन, जीव वाचविला असे सर्वथा न घडावें ।]

(यदि शत्रु द्वारा हमारे देश पर आक्रमण किया जाए तो हमें अहर्निश अपने आपको सुरक्षित रखकर उससे लोहा लेना चाहिए। यदि विपत्ति शीश पर ही मँडराने लगे तो कदापि अपना पग पीछे न धरना चाहिए, अपितु युद्ध करते-करते अपने प्राण विर्सजित कर देने चाहिए। जिससे कि बाद में विश्व को यह कहने का साहस न हो सके कि कि हमने अपने देश के सम्मान की बलि चढ़ाकर अपने प्राण बचाये हैं।

—राजाज्ञा

'ऐसे अवधेंची उठता। परदलाची कायती चिंता।
हरिणे चलती उठतां चित्ता। चहुँकडे॥

(इसी भाँति यदि सम्पूर्ण विश्व भी हमारा विरोध करने पर उतर आए तब भी चिन्ता का कोई कारण उपस्थित नहीं। शत्रु सेना से भयभीत न होकर, शत्रुओं की सेना को यत्र-तत्र भागकर खड़े होने वाले हरिणों के तुल्य ही समझो।)

—रामदास

हमने प्रारम्भ में ही यह उल्लेख किया है कि छत्रपति शिवाजी तथा उनके अध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक समर्थ स्वामी रामदास द्वारा हिन्दू जाति

के समक्ष राष्ट्रीय उच्चादर्शों तथा आध्यात्मिक भावनाओं को नितान्त तर्कसम्मत रूप में उपस्थित करने तथा नवीनतम शस्त्रास्त्रों के आविष्कार के फलस्वरूप शिवाजी के जन्म के साथ ही साथ हिन्दू जाति के वर्तमान इतिहास में एक नितान्त ही महत्त्वपूर्ण अध्याय की रचना हुई थी और नवयुग का आरम्भ भी हो गया था। जिन घटनाओं का पहले विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है, उनसे यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है कि जिस भाँति मराठा युद्ध-कला युद्ध-विज्ञान के क्षेत्र में एक सर्वथा नवीन आविष्कार थी, उसी भाँति महाराष्ट्र धर्म ने भी हिन्दू जाति की सुप्त धमनियों में नवजीवन का संचार किया था। यह तथ्य भी सुनिश्चित ही है कि इस नवीन युद्ध-कला ने शिवाजी को अत्यधिक लाभान्वित किया तथा इस पर विश्वास भी तात्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में ही हुआ था। क्षत्रपति शिवाजी के वंशजों को भी युद्ध की वह नवीन शैली सर्वथा अनुरूप प्रतीत हुई और उन्होंने उसमें इतना लचकीलापन अनुभव किया वे भी उसका अनुसरण करते रहे। युद्ध के जिन ढंगों को अपनाकर शिवाजी अपनी छोटी-सी सैनिक टुकड़ी के बल पर ही शत्रु की विशालवाहिनी को छकाया करते थे, उन विधियों को उनके वंशजों ने विशाल साम्राज्य की स्थापना कर लेने में सफलता पाने के उपरान्त भी त्यागा नहीं अपितु उनके बल पर ही विशाल वाहिनियों को परास्त कर देने का पराक्रम प्रस्तुत किया। शिवाजी और समर्थ स्वामी रामदास के वंशजों ने युद्ध के उन ढंगों को और अधिक विशाल स्वरूप प्रदान किया तथा विशाल वाहिनियों के अधिपति होने पर भी उस युद्ध-कला का उपयोग किया जिसके फलस्वरूप शत्रुओं की प्रचण्ड सेनाओं को भी उनके समक्ष पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

शिवाजी द्वारा अविष्कृत युद्ध-शैली का अनुगमन करते हुए मराठा सेनाएँ शत्रुओं की विशाल सेनाओं के सामने आते ही तितर-बितर हो जाया करती थीं तथा समीप स्थित पर्वतमालाओं और वनों में छिप

जाती थीं। शत्रुओं में यह भ्रान्ति होती थी कि मराठे भयभीत होकर भाग निकले हैं और वे उनका प्रतिरोध करने में असमर्थ हैं। इसलिए शत्रु दल प्रसन्नता सहित आगे बढ़ने लग जाता था और अन्ततः वह ऐसे स्थान पर जाकर फँस जाता था जहाँ से उसका निकल पाना सम्भव न था। कभी-कभी तो वे ऐसे स्थान पर पहुँच जाते थे, जहाँ मराठे ही उन्हें ले जाना नितान्त आवश्यक समझते थे। जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती थी तो मराठे बड़ी चतुरता सहित व्यूह-बद्ध होकर अपना घेरा सीमित कर लेते थे और विद्युत की भाँति शत्रु पक्ष पर टूट पड़ते थे। शत्रु को स्थिति समझ पाने से पूर्व ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाता था। जब कभी मराठों ने सामने होकर संघर्ष करना उचित समझा तो उन्होंने अपनी राजनीति और वीरता का ऐसा सफल प्रदर्शन भी किया कि शत्रु भी दाँतों तले अँगुली दबाने पर विवश हो गये। मुसलमानों में किसी भाँति भी मराठा सेना का सामना करने का साहस न हो पाता था। इस सत्य की साक्षी हंबीरराव द्वारा किये गये युद्ध और बदायूँ के युद्ध आदि की घटनाओं से उपस्थित हो जाती है। इन युद्धों से यह सत्य भी उपस्थित हो जाता है कि मराठे जब स्वयं शत्रु से युद्ध करना उचित समझते थे तब तो वीरता सहित रण में जौहर दिखाते ही थे किन्तु जब शत्रु सेनाएँ उन्हें प्रत्यक्षतः युद्ध करने पर विवश कर देती थीं तब भी वे उसे नाकों चने चबाने में सफलता प्राप्त कर लेते थे।

मराठों की नवीन युद्धकला और आत्माहुति के सिद्धान्त का आधार थी स्वामी रामदास की यह उक्ति "शक्तीनें मिलतीं राज्यें। युक्तीं नें यत्न होत से।" अर्थात् शक्ति से राज्य की उपलब्धि हो पाती है और युक्ति के द्वारा ही कार्य सिद्ध हो पाते हैं। वे धर्मयुद्ध के अनुयायी थे, क्योंकि युद्ध के बिना न तो स्वतन्त्रता की ही प्राप्ति सम्भव थी और न ही उन्हें हिन्दुस्थान का स्वामी बनने में सफलता हो सकती थी। किन्तु उनकी दृष्टि में शक्ति की अपेक्षा भी युक्ति का अधिक महत्व था क्योंकि

युक्ति के अभाव में शक्ति पाशविकता की परिचायक भी बन जाती है। जब वे युक्ति सहित ऐसा अनुभव करते थे कि सफलता प्राप्ति हेतु उनका बलिदान देना अनिवार्य है तो वे उसमें भी किंचितमात्र संकोच न करते थे। उनकी मान्यता यह थी कि जो बलिदान सफलता प्राप्ति में सहायक न हो सके उसे आत्म-बलिदान की अपेक्षा आत्मघात कहना ही उचित है। मराठों की युद्धनीति में ऐसे बलिदान को कोई स्थान प्राप्त नहीं था। समर्थ स्वामी रामदास जिस समय "शक्तियुक्त जयें ठायीं। तेथे श्रीमंत नांदतीं' (जहाँ पर शक्ति और युद्ध दोनों विद्यमान हों वहीं श्री का वास होता है) का प्रचार किया करते थे उसकी पृष्ठभूमि में यही भावना विद्यमान रहती थी कि कातर्य केवला नीति : शौर्यश्वापद-चेष्टितम्" (युक्ति के साथ ही शक्ति का उपयोग अभीष्ट है अन्यथा शक्ति पाशविक रूप ले लेती है)। उनकी बुद्धि सदैव ऐसे ही उपायों की खोज किया करती थी जिससे स्वपक्ष की तुलना में शत्रु पक्ष को अधिक क्षति पहुँचाई जा सके। इसी सिद्धान्त को समक्ष रखकर वे प्रायः जमकर युद्ध करने की उपेक्षा ही करते थे। परन्तु यदि कहीं शत्रु से जमकर युद्ध करने की ही स्थिति उत्पन्न हो जाती थी तो वे ऐसा करने में संकोच न करते हुए अपने प्राण हथेली पर धर कर ही शत्रु सैन्य पर टूट पड़ते थे। उस समय वे इस विचार को ही मस्तिष्क से निकाल देते थे कि किस पक्ष की कितनी हानि होगी। उनके हृदय में यही विश्वास प्रबल होता था कि अन्ततः विजय श्री हमारा ही वरण करेगी और यदि अभी बलिदान देने में संकोच बढ़ता गया तो हो सकता है कि हमें और अधिक क्षति सहन करने पर विवश होना पड़े।

मराठे तो अपने शत्रुओं के चारों ओर छा जाते थे और उनके सरदारों को अकेला पाकर उन्हें ठिकाने लगा देते थे और अपने छुपने के स्थानों से निकल शत्रुओं की छोटी-छोटी टोलियों पर आक्रमण करके भी उन्हें व्याकुल करते थे। यदि शत्रु मराठों का पीछा करते तो वे भाग

निकलते थे। किंतु शत्रु जब उनका पीछा करते-करते थक कर वापस लौटने लगते थे तो मराठे उन पर वज्र प्रहार कर उनको पूर्णतः नष्ट-भ्रष्ट कर देते थे। इस रणनीति को उन्होंने इतना विकसित रूप पदान किया कि बाद में तो छोटी-छोटी शत्रु टुकड़ियों के स्थान पर वे शत्रु की विशाल वाहनियों का भी इसी नीति का अनुगमन कर होश ठिकाने लगाने लगे। अंग्रेजों और मराठों में हुए प्रथम युद्ध में होल्कर और पटवर्धन ने इस नीति का अनुगमन कर सफलता प्राप्त की थी। मराठों ने शिवाजी द्वारा अविष्कृत इस रणनीति का अवलम्बन शिन्दे और नाना फड़नवीस के समय तक बड़ी कुशलता सहित किया। उनके युद्ध की द्वितीय विशेषता यह थी कि युद्ध आरम्भ होने के पूर्व ही शत्रु दल पर टूट पड़ते थे। इस कारण शत्रु के समक्ष युद्ध करने के स्थान पर आत्म-रक्षा का ही प्रश्न खड़ा हो जाता था। इस भाँति मराठे अपने राज्य को तो सुरक्षित रखते किंतु शत्रु पक्ष को तहस-नहस कर देते थे। मराठे प्रत्यक्ष संघर्ष को टालने के लिए प्रायः इधर-उधर घूमते, अवसर प्राप्त होते ही शत्रु पक्ष की रसद लूट लेते तथा उसकी प्रजा में व्याकुलता और निराशा निर्माण करने और अन्ततः शत्रु के सन्य दल में भी निराशा का निर्माण करने के उपरान्त उसे हताश बना देते थे। इस नीति का परि-णाम यह होता था कि शत्रु राज्य दुर्बल तो ही जाता था किंतु लूट-मार के कारण वहाँ भोजन भी प्राप्त होने में उसे कठिनाई होने लगती थी और राज्य की सम्पूर्ण प्रबन्ध व्यवस्था ही अस्तव्यस्त हो जाती थी। इस भाँति एक ओर तो वे शत्रुओं की गतिविधियों को अवरुद्ध कर देते थे दूसरी ओर उन पर आतंक बैठाकर युद्ध का शुल्क भी लगा देते थे और कई प्रकार के करों को भी बढ़ा-चढ़ाकर प्राप्त करते थे। इस भाँति शत्रुओं को अपने भोजन और सुरक्षा की तो व्यवस्था करनी ही होती थी साथ ही उन्हें मराठा सेनाओं के लिए भी भोजन का प्रबन्ध करने पर विवश होना पड़ जाता था। इस भाँति न तो शत्रु उनसे बच ही पाता था

और न ही उनका सामना कर पाता था। अतः निराशा सहित उनके मुख से यही शब्द निकलते थे कि "इन मराठों से संघर्ष करना जल से युद्ध करना अथवा हवा में लट्ठ मारना मात्र है।" मराठा नीति का सर्वोत्तम उदाहरण वीर राघोजी भौंसले द्वारा किये गये युद्धों में मिलता है। हमने पहले ही उल्लेख किया है कि भौंसले ने प्रतिवर्ष ही बंगाल पर आक्रमण करके वहाँ के नवाब को इतना अधिक परेशान कर दिया था कि अन्ततः उसे उड़ीसा मराठों को सौंप देने पर विवश होना पड़ा। उसे हिन्दू-पद पादशाही को कर देने वाले एक शासक के रूप में अपना समय काटने पर विवश होना पड़ा।

इस युद्ध से यह तथ्य भी प्रमाणित हो जाता है कि यह कहना न्याय-संगत नहीं है कि छत्रपति शिवाजी के दिनों में तो इस नीति का अनु-गमन ठीक था किंतु जब पेशवाओं द्वारा विधिवत् राजस्व वसूल किया जाने लगा और नियमित रूप से सेनाएँ रख ली गईं और तो यह लूट-मार निरर्थक थी। हम इस युद्ध-प्रणाली को इस लिए भी अन्यायपूर्ण नहीं कह सकते क्योंकि उस समय सभी राष्ट्र इस नीति का अनुगमन करते थे। मुसलमान भी हिन्दुओं के विरुद्ध संघर्ष करते समय इस नीति का व्यवहार करते थे। इतना ही पुर्तगाली, अंग्रेज और अन्य राष्ट्र फिर चाहे वे एशिया के हों अथवा यूरोपीय, वे भी इस बात को न्याय-संगत समझते थे कि जिन देशों पर अपनी विजय पताका फहराई जाए उनसे युद्ध का कर वसूला जाये। इस नीति को जारी रखने का दूसरा कारण यह था कि मराठों को अपने कई शत्रुओं से एक ही साथ लोहा लेना पड़ रहा था जिनमें से कई विदेशी भी थे। उन सबका सामना करने के लिए मराठों के लिए एक ऐसी विशाल सेना का रखना नितान्त आवश्यक था, जो कि अपने केन्द्र पूना से लेकर पंजाब तक तथा अर्काट तक संघर्षरत थी। इतनी बड़ी सेना अपने धन के आधार पर ही रखना मराठों के लिए सम्भव नहीं था और इस विशाल सेना और अपनी रण-

नीति के बल पर ही मराठे अपने शत्रु पक्ष को छिन्न-भिन्न करने में सफल हो पाते थे तथा शत्रु पक्ष को नतमस्तक होने पर विवश कर देते थे।

मराठों की इस युद्ध कला को उनके शत्रुओं ने लूट मार तथा निर्दयता पूर्ण डाकों की संज्ञा दी है। यदि मराठों को इस-नीति के कारण अपराधी कहा जाता है तो इसी सिद्धान्त के आधार पर अन्य सभी राष्ट्रों को भी अपराधी ही घोषित करना पड़ेगा। क्योंकि बोअरों और जर्मनों के युद्ध में लार्ड डलहौजी के अन्य राज्यों को अंग्रेजी राज्य में मिलाने के समय तथा १८५७ ई० में नील के युद्ध में इसी नीति का अनुगमन किया गया था। उस समय इस नीति की व्याख्या करते समय यही बताया गया था कि युद्ध सिद्धान्तों के अनुसार इस नीति का अनुगमन पूर्णतः न्याय संगत है। इसी लिए हिन्दू जाति के स्वातन्त्र्य संघर्ष में भी यही सिद्धान्त सही है और विशेषतः उस अवस्था में जबकि औरंगजेब, टीपू और गुलामकादिर जैसे शत्रुओं से उन्हें लोहा लेना पड़ रहा था। युद्ध में विजय प्राप्ति के लिए प्रत्येक उपाय उचित ही है इस कथन की पुष्टि हेतु भी धर्म युद्ध में सभी कुछ उचित है आदि बातों में पड़कर हम समय नष्ट करना नहीं चाहते और शिवाजी के उस उत्तर का उल्लेख कर देना पर्याप्त मानते हैं जो उन्होंने अपने शत्रुओं को दिया था। शिवाजी ने लिखा था—"आपके सम्राट ने मुझे विवश कर दिया है कि मैं अपने देश और प्रजाजनों की रक्षार्थ सेना रखूँ और अब इस सेना का व्यय उस सम्राट् की प्रजा को ही देना होगा।"

उस समय के अंग्रेज लेखकों ने भी यह लिखा है कि "शिवाजी जहाँ कहीं भी जाते थे, जनता को विश्वास दिला देते थे कि जो उनकी आज्ञा का पालन करेंगे उन्हें वह अथवा उनके सैनिक कोई क्षति नहीं पहुचाएँगे और इस बात को उन्होंने निभाया भी।" साथ ही हम यह भी कह सकते हैं कि इसी प्रकार की प्रतिज्ञा मराठा सेनापतियों ने निजाम के साथ की

थी और उन्होंने उसके साथ सन् १७९५ ई० में खारदा में हुए अन्तिम युद्ध तक इसका पालन किया। इस युद्ध में मराठे ही विजयी हुए थे।

इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मराठों द्वारा लड़े गए इन युद्धों में शत्रु पक्ष की हिन्दू प्रजा को भी क्षति वहन करनी पड़ी। परन्तु युद्धों के फलस्वरूप घटित होने वाली निर्दयतापूर्ण घटनाओं के कारणों का और अधिक विश्लेषण करना अनावश्यक है। युद्ध की उस बेला में हिन्दू और मुसलमानों को प्रथक रूप में पहचान पाना असंभव तो था ही साथ ही उचित भी नहीं था। जिस भांति मराठों को मुसलमानों तथा उनके अन्य शत्रुओं द्वारा क्षतिपूर्ति चुकानी पड़ी उसी भाँति हिन्दू भी उसका शिकार बने। वस्तुतः हिन्दुओं को मराठों को सक्रिय सहयोग प्रदान करना चाहिए था किन्तु वे उदासीन मात्र ही नहीं रहे अपितु उन्होंने मराठों से शत्रुता की भावना भी प्रदर्शित की। अतः युद्ध की क्षति पूर्ति उन्हें भी चुकानी पड़ी। वस्तुतः यह युद्ध का वह कर था जो कि सामान्यतः सभी हिन्दुओं से विशाल हिन्दू साम्राज्य की उस वाहिनी के लिए प्राप्त किया जाता था जिसके प्रचण्ड शौर्य और पराक्रम के फलस्वरूप ही हिन्दू धर्म, हिन्दू मन्दिर, हिन्दू जाति और हिन्दू सभ्यता की रक्षा तो सम्भव हुई ही साथ ही, हिन्दू भी मुसलमान बनाए जाने से बचा लिए गए। यदि ऐसा न होता तो सम्भतः हिन्दू नाम भी समाप्त ही हो जाता। यदा-कदा मराठा सैनिकों द्वारा कतिपय अनुचित कार्य भी किए गए थे किन्तु ये अत्याचार उन अपराधों की तुलना में नगण्य थे जो मुसलमानों, पुर्तगालियों तथा उन जातियों द्वारा किये गए थे जिनसे मराठों को लोहा लेना पड़ा था। उनके इन अपराधों को क्षम्य ही नहीं माना गया अपितु कई स्थितियों में तो उनका औचित्य भी प्रतिपादित किया गया है।

इसके विपरीत मराठों ने उन मुसलमान मौलवियों को भी बलात् हिन्दूधर्म ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं किया जिन्होंने हिन्दुओं को बलात्

इस्लाम धर्म अंगीकार करने पर बाध्य किया था। यद्यपि उनके देवालयों को अल्लाह की शक्ति का परिचय देने के लिए ही धूल-धूसरित किया गया किन्तु मराठों ने उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप राम और कृष्ण की शक्ति का परिचय देने के हेतु मस्जिदों और गिरजाघरों की ईंट से ईंट बजा देने को महान पातक समझा। मराठों द्वारा किये गए कथित धार्मिक अत्याचारों के सम्बन्ध में तो उनका कोई कट्टरतम शत्रु पर भी उन पर नरमेध का आरोप नहीं लगा पाएगा। उन्होंने न तो नारियों के सतीत्व से खिलवाड़ किया और न ही शत्रुओं के धर्म ग्रन्थों की होलिका ही प्रज्वलित की। यह सत्य है कि उन्होंने युद्ध का खर्च शत्रु प्रदेशों से अवश्य वसूला और यह भी तथ्य है कि सैनिक आवश्यकताओं के अनुसार उन्हें शत्रु पक्ष की खाद्य सामग्री और प्रदेशों को भी तहस-नहस करने पर विवश होना पड़ा। उनकी इन्हीं गतिविधियों को शत्रुओं ने लूट-मार की संज्ञा दी है। उनके विरुद्ध शत्रु के दल इतना ही दोषारोपण कर पाने में समर्थ हो पाए। किन्तु समय पड़ने पर मराठों ने अपने प्रदेशों में भी विदेशी आक्रमण की स्थिति में ऐसा ही किया। इस सत्य की साक्षी औरंगजेब द्वारा महाराजा राजाराम पर किये गये आक्रमण से मिल जाती है। अंग्रेजों ने दो बार पूना को ग्रसने के लिए सेनाएँ भेजी किन्तु उन्हें भी मात ही खानी पड़ी। क्योंकि मराठों ने उस स्थिति में अपने प्रदेशों को खाली करने और उन्हें अपने हाथों ही वीरान बना देने में भी संकोच का अनुभव न किया। मराठों ने तो यह संकल्प भी कर लिया था कि यदि वे अंग्रेजों को न रोक पाये तो पूना को भी अपने ही हाथों से जलाकर क्षार-क्षार कर देंगे। इन सभी उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि मराठे अन्य प्रदेशों के हिन्दुओं को आक्रमण के समय सताना अपना कार्य नहीं मानते थे। वस्तुतः युद्ध की समाप्ति तक ही ऐसी घटनाएँ होती थीं। जैसे ही कोई प्रदेश विधवत् हिन्दू साम्राज्य का अंग बन जाता था मराठे आक्रमण रोक देते थे। जिन स्थानों के हिन्दुओं

ने मुसलमानों अथवा अंग्रेजों के गठबन्धन से अपने आपको मुक्त कराने के लिए मराठों को आमन्त्रित किया उनके साथ तो मराठों ने नितान्त सौहार्दतापूर्ण व्यवहार ही किया।

यदा-कदा मराठों द्वारा जो ज्यादतियाँ हुईं उनके लिए उनकी निन्दा की जानी भी अपेक्षित है, किन्तु यह तथ्य भी स्मरणीय है कि ऐसी घटानाएँ गैरीबाल्डी की रोम से वापसी पर, फ्रांस की राष्ट्रीय क्रान्ति में, आयरलैंड और अमरीका तथा जर्मनी के स्वतन्त्रता युद्धों में एक नहीं अनेक उपलब्ध हैं। जिस भाँति इन घटनाओं के कारण यूरोप का गौरव धूमिल नहीं होता उसी भाँति इन घटनाओं को लेकर मराठों के महान अभियान पर दोषारोपण करना भी भूल ही है। कतिपय कारणों का तो ऊपर उल्लेख हुआ ही है किन्तु सर्व प्रधान कारण यह है कि विदेशियों ने हिन्दुओं पर जो अत्याचार किए थे उनकी तुलना में मराठों द्वारा यदा-कदा किये गए ऐसे कार्य सर्वथा महत्वहीन हैं। जिस महान् आन्दोलन के फलस्वरूप शताब्दियों तक भूलुंठित हिन्दू पताका पुनः गौरव सहित उठ खड़ी हुई जिसने राजाओं, महाराजाओं, नवाबों और सम्राटों का प्रतिरोध कर अटक तक इसे फहराया और शत्रु दल को नतमस्तक होने पर विवश किया इस महान् अभियान और हिन्दू साम्राज्य के लिए प्रत्येक हिन्दू के हृदय में गौरव और श्रद्धा की भावना का उदय होना आवश्यक है।

५

हिन्दू राष्ट्र का कायाकल्प

"शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्र : शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते"

(शस्त्रों द्वारा ही राष्ट्र की रक्षा संभव है और उसके उपरान्त ही शास्त्रों की चिन्ता की जा सकती है।

मराठों के इस नव-जागरण से हिन्दू पुनरुद्धार की कीर्ति पताका तो फहरा उठी किन्तु हिन्दू जाति के एक सुविशाल साम्राज्य की स्थापना का लक्ष्य तो अभी अवशिष्ट ही था, जिससे कि हिन्दू जीवन का प्रत्येक अंग समुन्नत होता। हिन्दू-राष्ट्र के लिए पूर्ण राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त ही मराठों ने एक महान् राष्ट्रीय राज्य की स्थापना भी कर दी। इस हिन्दू राज्य द्वारा हिन्दू जाति में विद्यमान कई कमियों का उन्मूलन करने हेतु अपेक्षित सुधार भी किए गये। मराठों ने शत्रुओं के गुणों को ग्रहण करने में भी किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं किया। उनके द्वारा हिन्दू जीवन को विदेशियों के आतंक से पूर्णतः मुक्त कराने की दिशा में सक्रिय और सफल प्रयास भी हुआ। उस समय तक राज्य शासन की भाषा फारसी थी। परन्तु मराठों ने शासन सूत्र अपने हाथों में लेते ही सम्पूर्ण राज्य कार्य से फारसी का बहिष्कार कर दिया। सर्व प्रथम वे भाषा शुद्धि की दिशा में सक्रिय हुए। यदि वे ऐसा न करते तो उनकी भाषा पूर्णतः मिट जाती और पंजाब तथा सिन्ध के समान वहाँ भी अरबी और उर्दू का ही प्राबल्य हो जाता। किन्तु हिन्दू राष्ट्र के पुरोधाओं के इस शासन ने अपनी मृत्यप्राय राष्ट्र-भाषा को अपने आलम्ब की संजीवनी दानकर अमरत्व प्रदान कर दिया।

एक विद्वान् भाषा पण्डित द्वारा राज भाषा कोष का निर्माण कराया गया। उसने अपने प्रयास से महाराष्ट्र की भाषा से ढूँढ-ढूँढकर विदेशी तथा मुसलमानी भाषा के शब्दों का निष्कासन और उनके समानार्थक शब्दों का निर्माण किया। सर्वसाधारण को भी विदेशी भाषा के शब्दों का बहिष्कार करने के लिए प्रोत्साहित किया गया।

मराठी भाषा के सुधार के लिए किये गए कठोर परिश्रम की साक्षी आज भी उस काल के राज-पत्रों में सुरक्षित हैं। साहित्य, राजनीति, इतिहास, कविता आदि सभी में शनैः-शनैः सुधार होने लगा और अन्ततः मोरोपन्त ने रचना की अपने महान् ग्रन्थ 'महाभारत' की। जिसमें १२ विदेशी शब्दोंको ढूँढ निकालना भी सम्भव नहीं है 'बखर' भी कोई मध्यम श्रेणी का ग्रन्थ नहीं। इस भाषा शुद्धि आन्दोलन के सफल होने के फल-स्वरूप मराठी भाषा में अद्वितीय प्रभावशाली ग्रन्थों की रचना हुई जिनकी भाषा ही मृतप्राय: व्यक्तियों में भी जीवन का प्रपस्फुरण कराने में समर्थ है। तात्कालीन राजनैतिक वायुमण्डल तथा शौर्य और वीरकाल के अग्रदूतों की गौरव-गाथा ने भाषा में भी नवीन प्राण फूँके। परन्तु आज की परिस्थिति तो सर्वथा विचित्र है, जब कि वीरतापूर्ण कार्यों के पास फटके विना ही कलमशूर वीररस का इतिहास लिखने बैठ जाते हैं यद्यपि उन कार्यों की वास्तविक अनूभूति का एक अवसर भी उन्हें उपलब्ध नहीं हो पाता। उस काल में मराठी ही नहीं अपितु सस्कृत भी पर्याप्त मात्रा में समृद्ध हुई। वेद, वेदान्त, पुराण, ज्योतिष शास्त्र तथा वैदिक साहित्य ऐवम् काव्य का भी पुनरुद्धार हुआ। भारत के विभिन्न भागों में स्थित हिन्दू राजधानियाँ शिक्षा का प्रमुख केन्द्र बन गईं। उनसे हिन्दू विद्वानों तथा छात्रों को भी संरक्षण प्राप्त हुआ और अनेक पाठ-शालाएँ और महाविद्यालय स्थापित हुए।

धार्मिक शिक्षा को भी उस काल में पूर्ण संरक्षण प्राप्त हुआ। हरि-द्वार से रामेश्वरम् तथा द्वारका से जगन्नाथपुरी पर्यन्त साधु-सन्त स्वेच्छा-

सहित मराठों से सुरक्षा का पूर्ण विश्वास प्राप्त कर नर-नारियों को हिन्दू-धर्म, दर्शन और पुराणों की शिक्षा देते हुए निरापद विचरने लगे। उनकी सहायता और संरक्षण के लिए राजा शासकगण तथा सामन्त और सैनिक सदैव सतर्क रहते थे। जैसे समर्थ स्वामी रामदास ने मठों की स्थापना की थी, वैसे ही मठों की देश भर में स्थापना हुई और उनकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व हिन्दू साम्राज्य ने वहन किया। यही मठ राजनैतिक और धार्मिक शिक्षा के भी केन्द्र बन गए। प्रतिवर्ष ही श्रावण मास में सम्पूर्ण हिन्दुस्थान के विद्वानों का पूना में एक सम्मेलन आयोजित किया जाने लगा। इस अवसर पर पेशवा के संरक्षण में उनकी परीक्षाएँ ली जाती थीं। विद्वत् मण्डली पुरस्कृत होती थी तथा योग्य छात्रों को छात्रवृत्तियाँ भी मिलती थीं। हिन्दू-धर्म शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए प्रतिवर्ष ही १०,००,००० रुपए की राशि व्यय होने लगी थी। इन सम्मेलनों के माध्यम से धार्मिक शिक्षा सिद्धान्तों को जनसाधारण में व्याप्त होने में भी सहायता मिलती थी। सर्वसाधारण में यह भावना संचार पाती थी कि मत-मतान्तरों के विभेदों के होने पर भी हम सभी हिन्दू राष्ट्र के विशाल सागर के अभिन्न बिन्दु हैं। हमने अखिल हिन्दू-ध्वज की छाया में संघबद्ध होकर शत्रु सैन्य का सर्वनाश करने में सफलता प्राप्त कर ली है और इसी पवित्र ध्वजा के नीचे हमारा देश, धर्म तथा सभ्यता पूर्णः संरक्षण पा रही है।

पेशवा तथा उनके अधिकारियों द्वारा जनसाधारण से संबद्ध कार्यों पर भी समुचित ध्यान दिया जाता था। रामेश्वरम् और अटक पर्यन्त विस्तृत भूखण्ड से करों के रूप में जो धन पूना आया वह राग-रंग के मृदु उमंगों में बहाया नहीं गया और नहीं कृपणता सहित उसको संचित किया गया अपितु वह जनोपयोगी स्रोतों के माध्यम से भारत-भर में विद्यमान तीर्थों में प्रवाहित होता रहा। हिन्दुस्थान में एक भी पवित्र सरिता व सरोवर न रहा जिस पर घाट न बने हों, एक भी घाट न रहा

जिस पर गगनचुम्बी कलशों वाले देवालय और धर्मशालाएँ न उठ खड़ी हुई हों और ऐसा एक भी मन्दिर न बचा जिसके साथ वृत्ति की व्यवस्था न की गई हो। ये सम्पूर्ण व्यवस्थाएँ महाराष्ट्र के उसी महान् हिन्दू-साम्राज्य की गौरव गरिमा का गुणगान अद्यावत कर रही हैं।

अहर्निश शत्रुदल से लोहा लेने में संलग्न रहने पर भी जिंजी से तंजौर व ग्वालियर तक तथा द्वारिका से जगन्नाथपुरी पर्यन्त फैले मराठा राज्य में सर्वत्र शान्ति और न्याय का शासन चल रहा था। राज्य कर तो साधारण था ही, साथ ही प्रजा अन्य राज्यों की अपेक्षा सुख और वैभव से भी सम्पन्न थी। डाक-विभाग, सड़क, कारागार और चिकित्सालयों एवं इन्जीनियरिंग आदि की जैसी समुचित और समुन्नत व्यवस्था उस समय महाराष्ट्र शासन में थी वैसी उस समय के अन्य राज्यों में प्राप्त होनी दुर्लभ थी। उपरोक्त कथन कल्पना नहीं तथ्यों पर आधारित है। यदा-कदा अशान्ति की घड़ियाँ भी आ जाती थीं, किन्तु इस पर भी जनसाधारण स्वातन्त्र्य सुख की तरंगों में तरंगित हो रहा था और उनमें अपने राज्य के प्रति आदर ही नहीं अपितु गौरव की भावनाएँ भी विद्यमान थी तथा उस राज्य में जन्म लेने के लिए प्रजाजन प्रभु का आभार व्यक्त करते थे। इन तथ्यों की कहानी उस काल के पत्र-व्यवहार, काव्यों, वीर-रस से परिपूर्ण कथाओं साहित्य तथा बखरों की जबानी आज भी जानी जा सकती है।

राष्ट्र जीवन को जर्जरित करने वाली कुरीतियां तथा मिथ्या विश्वासों का या तो पूर्णतः उन्मूलन कर दिया गया था अथवा उन्हें प्रभावहीन बना दिया गया था। नवीन पूजा-पद्धति, विभिन्न वर्णों में पारस्परिक विवाह संबंध और समुद्र यात्रा का भी प्रचलन किया गया था। जिन्हें विदेश गमन अथवा मुसलमानों व पुर्तगालियों द्वारा धर्मान्तरण करने पर बाध्य कर दिया गया था उन्हें भी पुनः हिन्दू धर्म में वापस लाया गया। शुद्धि का प्रचलन भी हमारे पूर्वजों द्वारा इसी काल में प्रारम्भ किया गया।

पुर्तगालियों द्वारा लिखित विवरणों में इस सत्य की साक्षियाँ उपलब्ध हैं जिन्हें पुर्तगालियों द्वारा बलात् हिन्दू धर्म से पृथक किया था। वरिष्ठ ब्राह्मणजन उन्हें पवित्र सरिताओं के जल में स्नान कराकर हिन्दुत्व की पुनीत गंगा में अवगाहन करने की स्वर्ण सन्धि प्रदान कर रहे थे। ये कार्य गुप्त स्थानों पर चलता था। एक बार पुर्तगालियों द्वारा एक ऐसे स्थान को घेर लिया गया जहाँ एक शुद्धि-समारोह हो रहा था। अन्य लोग तो बन्दूकों के भय से पलायन कर गए किन्तु एक धर्मवीर गोस्वामी ने वहाँ से एक इंच भी न हटते हुए अपनी जीवन समिधा ही धर्म की वेदी पर समर्पित कर दी।

निम्बालकर नामक एक मराठा सरदार को बीजापुर के नवाब ने बलात् मुसलमान बनाकर अपनी पुत्री का विवाह भी उसके साथ कर दिया था किन्तु जब उसने पुनः हिन्दू धर्म ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की तो ब्राह्मणों की इच्छा तथा शिवाजी की माता जीजाबाई की संरक्षता में उसे पुनः हिन्दू धर्म में ले लिया गया। सनातन धर्म की कट्टरता को तिलांजलि देकर भी उसके सुपुत्र का विवाह महाराज शिवाजी की पुत्री के साथ संपन्न किया गया। इसी भाँति मराठा सेना के द्वितीय शिवाजी नेताजी पालकर को भी हिन्दू धर्म में शुद्धि के उपरान्त वापस लाया गया था। उसे एक बार औरंगजेब ने इस्लाम स्वीकार करने पर विवश कर दिया था। शुद्धि का यह महान् कार्य पेशवाओं के समय में भी नाना फड़नवीस के समय तक अबाध गति से चलता रहा। बलपूर्वक मुसलमान अथवा ईसाई बनाये गए लोगों को प्रायश्चित के उपरान्त पुनः हिन्दू धर्म की शरण में ले आया गया तथा उनसे सामाजिक दृष्टि से कोई भेदभाव न बरता गया। इसकी एक साक्षी पुत्ता जी नामक एक सिपाही की शुद्धि से मिलती है। उनको भी मुसलमानों ने बलात् इस्लाम ग्रहण कराया था। बाजीराव की दिल्ली से वापसी के समय वह भागकर पुनः मराठा सेना में पहुँचा और पेशवा की अनुमति प्राप्त कर उसे पुनः हिन्दू बना

लिया गया। इसी भाँति प्रलोभनों के वशीभूत मुसलमान हो जाने वाले तुलाजी भट्ट ने भी जब ब्राह्मण मण्डल के मध्य उपस्थित होकर प्रायश्चित किया तो उसे क्षमादान दे दिया गया और राजाज्ञा प्रसारित कर उन्हें सम्पूर्ण सुविधाएँ देने का भी निर्देश दिया गया।

महाराज सम्भाजी के काम की अशान्तिपूर्ण स्थिति में भी बलात् मुसलमान बनाये गए गंगाधर कुलकर्णी को पुनः हिन्दू समाज में विलीन किया गया और सम्भाजी ने यह आदेश भी प्रसारित किया कि उनके साथ भेदभाव बरतने वाले को अपराधी ही नहीं पापी भी समझा जाएगा। इस संबन्ध में जोधपुर की राजकुमारी इन्दिराकुमारी की घटना का उल्लेख भी अप्रसांगिक न होगा। उसका विवाह मुगल सम्राट् से हुआ था किन्तु राजपूतों द्वारा कई वर्ष के उपरान्त उसके वापस आने पर उसे हिन्दू धर्म में स्वीकार कर लिया गया था।

मातृभूमि के लिए अभिशाप सिद्ध होने वाली राजनैतिक बुराइयों के उन्मूलन में दत्तचित्त मराठों द्वारा उन सामाजिक बुराइयों का उन्मूलन किया जाना भी स्वाभाविक ही थी जो कम विघातक न थी। हिन्दू स्वातन्त्र्य और पुनरुद्धार के जिस पुनीत आन्दोलन ने राजनैतिक और सैनिक क्षेत्र में महान् सफलताएँ अर्जित की थीं, उसने शताब्दियों से हिन्दू समाज के धर्म, समाज और सभ्यता को विकृत करने वाली कुरीतियों पर भी कठोर प्रहार करने में किसी प्रकार का संकोच अनुभव नहीं किया। यह भी एक खेदजनक तथ्य है कि जहाँ दक्षिण में १०० वर्ष के मुसलमानी शासन में लाखों को मुसलमान बनाया गया वहाँ हिन्दू जाति अपने साम्राज्य का निर्माण करने के उपरान्त भी दो चार सौ मुसलमानों को हिन्दू न बना सकी। किन्तु यदि वह इस दिशा में प्रयास करती और उसमें ऐसी प्रथाएँ प्रचलित होतीं तो सफलता की देवी निश्चित रूप से ही उसका चरण चुम्बन करती। वस्तुतः मानव की राजनीतिक दासता की बेड़ियाँ उतनी सुदृढ़ नहीं होतीं जितनी कठोर होती हैं अन्धविश्वासों की शृंखला।

साथ ही यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि मराठों की सम्पूर्ण शक्ति हिन्दुओं के राजनैतिक स्वातन्त्र्य तथा साम्राज्य स्थापना में ही लग गयी। इसलिए अपेक्षित सामाजिक सुधारों की दिशा में पर्याप्त प्रगति हो पाना आश्चर्य-जनक नहीं अपितु आश्चर्यजनक है हिन्दू समाज के मस्तिष्क से अन्ध-विश्वासों का आवरण हटाकर उसके स्थान पर शुद्धि की प्रथा के प्रचलन का महान कार्य।

६

स्नेह और कृतज्ञता का ऋण

सौख्य स्मरूनि राज्या चें मीनापरि अखण्ड तलमलती ।

(राज्य वैभव पर दृष्टिपात कर शत्रु दल मीन के समान बेचैन हो जाता था) ।

—प्रभाकर

जहाँ तक हमारी जाति के प्राचीन इतिहास का सम्बन्ध है, हमारे हिन्दू साम्राज्यों में अन्तिम किन्तु नितान्त वैभवशाली साम्राज्य का पटाक्षेप होता है. किन्तु हा ! हन्त—वह भी इतना शीघ्र ।

हमारे सौभाग्य का सूर्य उसी दिन अस्त हो गया था जिस दिन सिन्धु सरिता के तट पर हमारे महान् पराक्रमी पूर्वज सिन्धुपति दाहिर पराजित हुए थे । काबुल के हिन्दू अधिपति त्रिलोचनपाल, पंजाब के महाराजा जयपाल तथा अनंगपाल, दिल्लीपति सम्राट् पृथ्वीराज और कन्नौज नरेश जयचन्द, चित्तौड़ के शासक महाराणा सांगा, बंगाल के महाराज लक्षमण सेन, रामदेव राव एवं देवगिरि के राजा हरपाल, विजयनगर के सभी महाराजा और महारानियाँ तथा उनके राजसिंहासन एवं राजमुकुट सिन्धु सरिता से लेकर महासिन्धु पर्यन्त एक के बाद एक धूल-धूसरित होते गए । निर्भीक, धूर्त तथा अजेय शत्रु दल हिन्दू जाति की कांपती छाती पर अपने घुटने रखकर खड़े हो गए। चित्तौड़ ही क्या हिन्दुस्थान भर की हिन्दू राजधानियाँ जल कर क्षार-क्षार हो गईं । यदा-कदा इन्हीं राख की ढेरियों से कुछ चिनगारियाँ प्रज्वलित भी हुईं किन्तु क्षणभर चमककर फिर तिरोहित हो गईं । सम्राट् औरंगजेब हिन्दू जाति की सभी आशाओं को पददलित कर अपने तख्ते ताऊस (मयूरासन) पर निश्चिन्त बैठा था

और क्रोध से तप्त उसके पैरों की ठोकर के इंगित मात्र से मृत्यु का ताण्डव नृत्य करने को तत्पर रहती थीं लाखों तलवारें।

इसी संक्रमण वेला में 'या सकल भूमण्डलांचि ये ठायीं, हिन्दू ऐसा उरला नाही' (जब कि एक भी ऐसा हिन्दू अवशिष्ट न था जो पददलित न हुआ हो) एक गुप्तगोष्ठी में एकत्रित हुई हिन्दू युवकों की एक बोली अपने दिवंगत नरेशों और रानियों, धूल-धूसरित हुए सिंहासनों तथा हिन्दू जाति के गौरव की राख की ढेरी को साक्षी कर उन्होंने अपने राष्ट्र के अपमान का प्रतिशोध लेने एवं हिन्दू शास्त्रों और अखिल हिन्दू ध्वज के सम्मान की रक्षार्थ इस अजेय शत्रु के विरुद्ध युद्ध घोषणा करने की पावन प्रतिज्ञा ग्रहण की। जब हिन्दू नवयुवकों की यह मदमाती टोली रण करने को निकली तो उसके मस्तक पर थी रोली और हाथों में थी जंग लगी तलवारें। विश्व ने उनकी इस अवस्था को देखकर तिरस्कार सहित कहा 'यह मूर्खतापूर्ण पग है, बुद्धिमान् बोले 'यह आत्मघात का पथ है' और औरंगजेब के मुख से निकला 'तुम हो ही क्या'। इनमें से सभी के अनुमान अनुभव सिद्ध थे। क्योंकि शिवाजी प्रथम विद्रोही तो थे नहीं। उनके पूर्व भी तो कई वीरों ने इसी पथ पर चलकर प्राणों से हाथ धोए थे और बदले में उन्हें मिली थी असफलता। किन्तु शीश हथेली पर धर कर प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा की थी इन दीवानों ने। उनका दुर्दम्य विश्वास था कि यदि इस पथ पर चलकर हम असफल रहे और स्वातन्त्र्य देवी के श्री चरणों में हमारे मस्तक चढ़ भी गए तो भी हम अपना रक्तदान दे मातृभूमि के उत्थान का ऐसा बीज बो जाएँगे कि भावी पीढ़ियां स्वदेश की मुक्ति के पुनीत पथ पर अग्रगामी होंगी और दासता की शृंखला एक न एक दिन चटख कर तार-तार हो जायगी।

और २० वर्ष बाद। नौरंग औरंग के चेहरे का रंग उड़ गया, वाणी का गर्जन साथ छोड़ गया। मराठा नवयुवकों की वही टोली बन गई हिन्दू राज्य की हृदयस्थली। औरंगजेब एक बार पुनः पूरा जोर लगाकर

चीखा 'मैं काफिरों की इस टोली को पहाड़ियों में ही नेस्तनाबूद कर दूँगा।' औरंगजेब सहस्रों तलवारों के साए में शिवाजी के शिशु राज्य पर चढ़ दौड़ा। उसने इस प्रदेश को पददलित तो कर दिया किन्तु दमन से भभक उठा विद्रोह का वह विस्फोट जिससे शक्तिशाली मुगल सिंहासन भी हिल उठा। अब वह न तो स्थिर रह सकता था और न ही बचाव कर सकता था। इस विस्फोट से फटी धरती से औरंगजेब जितना निकलने का प्रयास करता उतना ही धँसता जाता। अन्ततः वह ऐसा फँसा कि फिर उबरने का दिन देखना उसे नसीब न हुआ। वह तो दम तोड़ ही गया उसकी लाखों चमकती तलवारों की धार भी कुण्ठित हो गई। तदुपरान्त मराठे और उन्होंने औरंगजेब के शाही मजार के समीप ही खड़ा कर दिया विशाल हिन्दू साम्राज्य का द्वार।

शीघ्र ही महाराष्ट्र की वीर मण्डली ने हिन्दुत्व के प्रतीक परम पवित्र भगवाध्वज को हाथों में थामकर हिन्दू स्वातन्त्र्य संग्राम को सर्वदूर फैला दिया। गुजरात में वे घुसे, बुन्देलखण्ड में वे प्रविष्ट हुए, मालवा में वे पहुँचे, बुन्देलखण्ड में उनके विजयी अश्व दौड़े। उन्होंने चम्बल की लोल लहरों को नापा, गोदावरी, कृष्णा और तुंगभद्रा को पार किया। तन्जौर में उन्होंने खेमे डाले, जिंजी पर अधिकार किया, नागपुर में उनकी कीर्ति पताका फहराई और उड़ीसा तक पहुँच गए। पग-पग आगे बढ़ाते पाषाणों को तोड़ते-फोड़ते हुए उन्होंने तुंगभद्रा से यमुना तक और द्वारका से जगन्नाथ तक उन्होंने सम्पूर्ण क्षेत्र को स्वाधीन कर लिया और मुस्लिम दासता के जुए को उतार फेंका। इस प्रकार एक शक्तिशाली हिन्दू राज्य का निर्माण कर दिया गया। तदुपरान्त उन्होंने यमुना, गंगा और गण्डकी को पार किया और गुप्तों की राजधानी पटना पर अपनी विजय-पताका फहरा दी। उन्होंने कलकत्ता में कालीवन्दना की तो वाराणसी में विश्वेश्वर पूजन।

एक दर्जन मराठा नवयुवकों के उत्तराधिकारियों की संख्या अब लाखों

तक पहुँच चुकी थी और विजयध्वज फहराते तथा रण वाद्य बजाते हुए वे मुस्लिम राजधानियों के द्वारों पर दस्तक दे रहे थे। अभी तक जिन मुल्लाओं और मौलवियों को कुरान की सत्यता पर विश्वास था और जो इस्लाम की विजयों के उद्धरण देकर दूसरों को पुराण पर कुरान की श्रेष्ठता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया करते थे अब उनके नेत्र आश्चर्य से फटे रह गए। क्योंकि उन्हें यह देखकर आश्चर्य हो रहा था कि जाति, पंथ, मूर्तिपूजा के विश्वासी और दाढ़ीविहीन होने पर भी हिन्दुओं ने दिल्ली की देहरी पर दस्तक दे दी थी और वे अपनी प्रचण्ड गति से बढ़ते हुए मुस्लिम राजधानियों पर भगवी पताका फहराने में सफल हो गए थे। वे निराशा के अगाध सागर में डूब गए। अब कुरान पर पुराण की श्रेष्ठता को सिद्ध होते देखकर जबराईल भी मैदान में आना भूल गया। मुसलमानों के कथनानुसार ऐसे अवसरों पर वह उपस्थित हुआ करता था। अब किसी में यह कहने का साहस न रह गया था कि इस्लाम ही सत्य है इसलिए विजय उसके चरण चूमती है और देवालय भूलुंठित हो गए हैं अतः हिन्दू धर्म मिथ्या है। मुसलमान जिन घोषणाओं के आधार पर हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन करते थे वे अब मिथ्या प्रमाणित हो रहे थे। अब देवालयों के शिखर मस्जिदों की मीनारों से ऊपर उठ रहे थे। चन्द्रमा का प्रकाश मध्यम पड़ गया था, वह अपनी अन्तिम श्वांसें गिन रहा था तथा दूसरी ओर हो रहा था हिन्दुत्व का सूर्योदय। दिल्ली पर आज भाऊ के रूप में पुनः पृथ्वीराज के वंशजों का विजयध्वज फहरा उठा था तथा हिन्दुओं ने हस्तिनापुर की राजधानी पर भी पुनः अधिकार कर लिया था। औरंगजेब चूहों को मिटाने की ठान बैठा था किन्तु अब चूहों ने सिंहों की मांद में प्रवेश कर एक-एक करके उनके नखदन्त उखाड़ डाले थे। जैसा कि हमारे गुरु गोविन्दसिंह ने कहा था मैं चिड़ियों से बाज मरवाऊँगा वस्तुतः अब गौ ही गौवधिकों को यमलोक भेज रही थीं।

अब मराठों की सेनाओं ने वीरों और हुतात्माओं के समान ही कुरुक्षेत्र

के पावन सरोवर में स्नान किया और उन्होंने हिन्दुओं के विजय अभियान को लाहौर तक बढ़ाने में सफलता प्राप्त कर ली। अफगानों ने रुकावट डाली, किन्तु वे अटक पार खदेड़ दिए गये। वहाँ मराठा सैनिकों ने अपने अश्वों की लगामें खींचीं और उनसे नीचे उतर कर तनिक विश्राम किया। क्योंकि उस समय उनके महान् सेनापति और नेता अपने प्रधान कार्यालय में एकत्रित होकर सिन्धु को पार कर अपनी सेनाओं को हिन्दुकुश और काबुल तक भेजने की योजनाएँ बनाने में संलग्न थे। फारस, इंग्लैण्ड, पुर्तगाल, फ्रांस, हालैण्ड तथा आस्ट्रिया के राजदूत मराठों के राजदबार में पहुँचे और उन्हें वहाँ रहने देने की अनुमति माँगी। अब केवल अपने जीवित रहने मात्र के लिए बंगाल का मुसलमान नवाब, लखनऊ का मुस्लिम प्रशासक, मैसूर का मुस्लिम सुलतान, हैदराबाद का मुसलमान निजाम तथा अर्काट और रुहेलखण्ड के सामन्तों ने भी मराठों को 'चौथ' 'सरदेशमुखी' तथा अन्य कर देने आरम्भ कर दिए। निजाम आज नाम-मात्र का निजाम था और करों के रूप में उसके द्वारा एकत्रित किया जाने वाला धन येन-केन प्रकारेण महाराष्ट्र के राजकोष की ही अभिवृद्धि करता था। केवल मुसलमान ही तो मराठों के शत्रु नहीं थे अपितु ईरान और काबुल के शाह, तुर्क और मुगल, रुहेले और पठान, पुर्तगाली और फ्रांसीसी, अंग्रेज और अबीसीनियन इनमें से प्रत्येक ने, सभी ने तो उनकी सर्वोच्चता को चुनौती दी थी। स्थल और सागरीय युद्धों में उन्हें मराठों के हाथों पराजय ही मिली। हिन्दू सेनाओं ने देव और देश के नाम पर पर हिन्दुओं से घृणा करने वालों तथा हिन्दू आदर्शों के विरोधियों के सभी युद्धों में छक्के छुड़ाए। रंगणा, विशालगढ़ और चाकण, राजापुर, वेनगुरला तथा वार्सीनोर, पुरन्धर, सिंहसढ़, साल्हेर, अम्बरनी, सबनूर, संगमनेर, फोंदा, वाई, फल्टन, जिंजी, सतारा और डिंडोरी, पालकेड़ और पेतलाड, चिपलूण, विजयगढ़, श्रीगाँव, ठाणा, तारापुर और वार्सी, सारंगपुर, बिराल व जैतपुर, दिल्ली और दुराई, सराय और भोपाल, अर्काट और

त्रिचिनापल्ली, कादरगंज, फर्रुखाबाद, उद्गीर, कंजपुरा और पानीपत, रक्षाभुवन, अनाबाड़ी, मोतीतालाब और धारवाड़, शुक्रताल और नसीबगढ़, बड़गाँव और बोरघाट, वादाई, आगरा और खारदा आदि मराठों द्वारा प्राप्त की गई स्थलीय समुद्री विजयों के कतिपय स्थल हैं। इनमें से प्रत्येक विजय इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि यदि अतीत में अथवा अन्य किसी राष्ट्र द्वारा इस प्रकार की एक भी महान् विजय प्राप्त कर ली जाती तो वह उसकी स्मृति में कीर्तिस्तम्भों का निर्माण करा देता। छत्रपति शिवाजी से लेकर नाना फड़नवीस पर्यन्त पराजय की क्रूर छाया हरिभक्तों पर कदापि न पड़ सकी। ज्यों-ज्यों साम्राज्य का विस्तार होता गया मराठों द्वारा उतने बड़े-बड़े क्षेत्रों की जागीरें निर्माण की जाती रहीं जितने क्षेत्रों में दूसरे देशों में कई राज्य समा जाते थे। मराठे इन जागीरों का वितरण इसी भाँति कर रहे थे जिस भाँति जब आपकी जेब अत्यधिक भर जाए तो आप सिक्कों को गिराते हुए चलते हैं। सतारा, नागपुर, कोल्हापुर, तंजौर, सांगली, मिरज, गुत्ती, बड़ौदा, धार, इन्दौर, झाँसी, ग्वालियर तथा अन्य अनेक स्थान मराठों के प्रदेशों की राजधानियाँ थी जो यूरोप के कई साम्राज्यों की अपेक्षा भी विशाल थीं। उन्होंने हरिद्वार और कुरुक्षेत्र, मथुरा तथा डाकोर, आबू एवं अवन्तिका, परशुराम व प्रभास, नासिक और त्र्यम्बक, द्वारिका तथा जगन्नाथ, मल्लिकार्जुन एवं मदुरा, गोकुल और गोकर्ण को हिन्दू धर्म से घृणा करने वालों के क्रूर पंजों से मुक्ति दिलाई। काशी और प्रयाग तथा रामेश्वरम् के मन्दिरों के शिखर एक बार पुनः ससम्मान खड़े हो गए और हृदय से परमात्मा का आभार व्यक्त करने लगे कि अन्ततः एक हिन्दू साम्राज्य तो ऐसा है जो उनके शत्रुओं से प्रतिशोध ले सकता है।

इस विशाल हिन्दू साम्राज्य में अतीत के मौखरी, चालुक्य, पल्लव, पांड्य, चोल, केरल, राष्ट्रकूट, आन्ध्र, केसरी, भोज, मालव तथा हर्ष एवं पुलकेशिन के राज्यों के क्षेत्र तथा राठौरों और चौहाणों आदि सभी

प्राचीन राजवंशों के भूखण्ड समाहित थे। इस साम्राज्य के शासक और प्रशासक तथा सेनापति जैसे कि महादजी सिन्धिया तो इतने बड़े भूखण्डों पर प्रशासन कर रहे थे कि प्राचीन काल में इतने बड़े क्षेत्र पर सत्तारूढ़ हो जाने वाले वीरजन तो अश्वमेध यज्ञों का आयोजन कर डालते थे।

चन्द्रगुप्त प्रथम और संभवतः द्वितीय का महान् साम्राज्य भी इतना विस्तृत और गौरवपूर्ण स्वरूप ग्रहण न कर सका था। पौराणिक इतिहास में भी ऐसे दृष्टान्त बहुत ही कम मिलेंगे। यदि हम राष्ट्रीय सेवाओं तथा आत्म बलिदान की दृष्टि से विचार करें तो यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा कि इनमें किसी को भी इतनी कठिनाइयों और बाधाओं के सागर लांघने नहीं पड़े जितने कि मराठों को।

हम ऐसा अनुभव करते हैं कि हमारे अतीत के इतिहास में चक्रवर्ती की उपाधि वही प्रतापी व्यक्ति ग्रहण करता था जो अन्य हिन्दू नरेशों को पराजित करने में सफलता पा लेता था। किन्तु विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने का अधिकारी उसी को माना जाता था जो विदेशियों के प्रहारों से भी स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा करने में समर्थ सिद्ध होता था। जहाँ विक्रमादित्य प्रथम ने सीथियनों को निष्कासित किया था वहाँ द्वितीय विक्रमादित्य ने हमारी मातृभूमि को पश्चिमी शकों से मुक्त कराया और तृतीय विक्रमामित्य यशोधर्मा ने हूणों को पलायन करने पर विवश कर एक महान् युद्ध में उनके राजा का शिरच्छेदन कर दिया था। विक्रमादित्य पदवी की प्राप्ति के सम्बन्ध में यदि हमारी उपरोक्त धारणा सही है तो इस नवीन और अन्तिम हिन्दू साम्राज्य के संस्थापकों द्वारा सम्पन्न किए गए महान् कार्य और गौरवपूर्ण विजय प्राचीन चक्रवर्तियों तथा विक्रमादित्यों से किसी दृष्टि से भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी।

इसका कारण यह है कि मराठों ने हमारी जाति की यह पावन पताका हमारे राजपूत राजाओं के कांपते हुए हाथों से संभाल ली थी और उन सब के विरुद्ध की थी धर्मयुद्ध की घोषणा जो हिन्दुओं से घृणा

करते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने दाहिर और अनंगपाल, जयपाल और पृथ्वीपाल तथा हरपाल व प्रताप एवं प्रतापादित्य के महान् बलिदानों और चित्तूर तथा विजयनगर की उन राजधानियों की पराजय का प्रतिशोध भली-भाँति लिया था जिनका निर्माण माधवाचार्य और सायणाचार्य ने अपनी बुद्धि तथा हरिहर बुक्का ने अपनी प्रबल वीरता से कर उन्हें हमारे देवताओं के पावन मन्दिरों का स्वरूप दिया था। उन्होंने विदेशियों की छः शताब्दियों की विजयों पर पराजय की चादर उढ़ा दी थी।

हिन्दू जनों का यह पावन कर्तव्य है कि हिन्दू जाति के लिए उन शूरवीरों द्वारा किये गए उपकारों के प्रति स्नेह और श्रद्धा ज्ञापन करे जो एक विशाल हिन्दू साम्राज्य के निर्माता थे। क्योंकि शीघ्र ही इस विशाल हिन्दू साम्राज्य पर पर्दा गिरने वाला है और वह भी सहसा ही और यह महान् साम्राज्य हमारे सजल नेत्रों के समक्ष ही लुप्त होने वाला है।

७

यवनिका पतन

'हिमंत सोडूं नये सर्व पुन्हा येईल उदयाला'

(इस आशा से कि सुदिनों का कभी-न-कभी उदय होगा साहस नहीं छोड़ना चाहिए) —प्रभाकर

हमने यह सिंहावलोकन १७९५ ई० में हुए खारदा के युद्ध तक के कालखण्ड का किया है। पूर्व के अध्यायों में किये गए उल्लेख भी इसी कालखण्ड से संबद्ध हैं। मराठा आन्दोलन के संपूर्ण विवरण को प्रस्तुत करना हमारी आकांक्षा नहीं रही अपितु हमने तो केवल वही विवरण प्रस्तुत किए हैं जिनके माध्यम से मराठों के प्रमुख आदर्श और सिद्धान्त जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किये जा सकें और उन उद्देश्यों एवम् आदर्शों की अभिव्यक्ति हो जाए जो इस आन्दोलन के प्रेरणा के स्रोत थे। जिससे कि उन आदर्शों के प्रकाश में हिन्दू राष्ट्र के इतिहास में मराठों का सही स्थान निर्धारित किया जा सके। अब यह कार्य पूर्ण हो गया। किन्तु अभी १७९५ ई० से लेकर १८१८ ई० तक का वह कालखण्ड अवशिष्ट रह गया है जिसमें महाराष्ट्र राज्य का पतन हुआ और यह इतना रोमांचक है कि इसका वर्णन नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित किए बिना न हो सकेगा।

मराठे जैसा कि हमने देखा है शताब्दियों तक चलने वाले हिन्दू स्वतन्त्रता के संग्राम को सफलता का स्वर्ण विहान दिखाकर अपने परम्परागत मुस्लिम शत्रुओं को परास्त करने के कार्य पूर्ण कर चुके हैं। शताब्दियों तक किए गये इस घोर संघर्ष के परिणामस्वरूप वे थक गए

हैं और विश्राम की तैयारी में संलग्न हैं। यह ऐसी घड़ी है जब कि एक अन्य बलिष्ठतम शत्रु जो पहले दो बार मुँह की खा चुका था अपनी दुर्दमनीय शक्ति सहित उन पर टूट पड़ा है।

वे उस समय भी विजय का वरण कर लेते और इस शत्रु को धकेल देते किन्तु उसी समय दुर्भाग्य की घड़ी आई और नाना का देहान्त हो गया तथा उनके स्थान पर आया बाजीराव द्वितीय। वह मराठों का तो सर्वमान्य नेता था किन्तु उनके शत्रुओं का दास। वस्तुतः नाना और बाजीराव द्वितीय मराठों में विद्यमान दो मनोवृत्तियों के प्रतीक ही थे। इन दोनों मनोवृत्तियों का संघर्ष सम्पूर्ण महाराष्ट्र में चल रहा था। एक वृत्ति स्वार्थ पर आधारित तथा राष्ट्रहित विरोधी थी तो दूसरी थी स्वार्थ त्याग और राष्ट्र निष्ठा पर आधारित। राष्ट्र निष्ठा की मनोवृत्ति का अनुगामी स्वयं राजमुकुट धारण करने की लालसा का परित्याग कर स्वदेश के गौरव की अभिवृद्धि और जाति स्वतन्त्रता के संग्राम की सफलता में योगदान देता है।

यद्यपि मराठे स्वार्थपरता की वृत्ति का पूर्णतः उन्मूलन न कर पाए थे किन्तु नाना फड़नवीस के काल तक वे इसे अवरुद्ध रखने में सफल अवश्य हो गए थे। इसी के फलस्वरूप हिन्दू-पद-पादशाही की स्थापना करने में उन्हें सफलता उपलब्ध हुई थी। किन्तु अब सत्ता बाजीराव द्वितीय के हाथों में आ गई थी जो स्वार्थ का संजीव पुतला था। उस पर अंग्रेजों द्वारा आक्रमण कर दिया गया। यदि आक्रमण कारी शत्रु भारत अथवा एशिया महाद्वीप का निवासी होता तो मराठे निश्चय ही सफलता प्राप्त कर लेते, क्योंकि एशिया भर में वे अब भी सर्वाधिक सुसंगठित और शक्तिशाली थे।

किन्तु तब इंगलैंड मराठों की अपेक्षा राज्यों को विजय करने के साधनों की दृष्टि से अधिक सम्पन्न था। उनका राष्ट्र सुदीर्घ कालखण्ड तक गृह-युद्ध, गुलाबों का युद्ध तथा धार्मिक संघर्षों और स्टार चैम्बर की

क्रूरताओंको झेल चुका था। आज्ञा पालन, प्रशासनिक दक्षता स्वदेश भक्ति और राजभक्ति तथा राष्ट्रपताका का सम्मान करने के महान गुण मराठों में एशिया वासियों में तो सर्वाधिक मात्रा में विद्यमान थे किन्तु इन गुणों में वे अंग्रेजों से पिछड़े हुए थे।

इतने पर भी वे सर्वथा एकाकी हो समारांगण में कूद पड़े और उन्होंने अपने रणकौशल के जौहर भी जी भर कर दिखाए क्योंकि वे इस तथ्य से परिचितथे कि यह उनके अस्तित्व की रक्षा का ही युद्ध है। महान् देशभक्त मराठा सेनानी बापू गोखले सरीखे महान् वीरों ने यह प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली थी कि हम प्राण दे देगें किन्तु शस्त्र समर्पण न करेंगे। मृत्यु को सिर पर मँडराते देखकर भी उन्होंने अंग्रेज सेनापति को उत्तर दिया था कि हम अपने सिरों से कफन बाँध कर रणभूमि में उतरे हैं किन्तु अपनी तलवारों को हाथ में थामे हुए आत्माहुतियाँ देगें।"

जब महादजी और नाना, तुकोजी तथा राघेजी और फड़के आदि सुयोग्य सेनापति और राजनीतिज्ञ मृत्यु का आलिंगन कर चुके थे उसके उपरान्त ही मराठों का नेतृत्व अकर्मण्य बाजीराव द्वितीय के हाथों में आया। मराठा सेना का सेनापति था बाजीराव द्वितीय और उसके शत्रु शक्तिशाली अंग्रेजों में युद्ध का परिणाम तो पूर्व विदित ही था। मराठों को इस युद्ध में पराजय तो मिली ही साथ ही अन्तिम हिन्दू सम्राज्य का भी सूर्यास्त हो गया। अब केवल पंजाब में सिख ही रह गए थे जो हिन्दू स्वतन्त्रता के पावन दीप को टिमटिमाती हुई स्थिति में सुरक्षित रखे हुए थे किन्तु वे भी पतनोन्मुख थे।

हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि हम अपने इस महान जातीय साम्राज्य की समाधि पर यह स्मरण लेख सजल नेत्रों सहित लिख रहे हैं। किन्तु अंग्रेजों की विजय पर भी हमारे मन में ईर्ष्या की भावना तनिक नहीं है। एक मंजे हुए खिलाड़ी के तुल्य हम निष्पक्षता सहित इंगलैंड की शक्ति और चातुर्य की प्रशंसा ही करते हैं, जिसके बल पर उन्होंने महा-

सागरों, महाद्वीपों और देशों पर से हाथ फैलाकर हमारे संघर्षरत हाथों से भारतीय साम्राज्य को छीनकर उसकी नींव पर एक महान् विश्व साम्राज्य का निर्माण कर दिखाया। इतिहास में ऐसा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।

इस भाँति १८१८ ई० में अन्तिम किन्तु नितान्त गौरव पूर्ण इस साम्राज्य की समाधि ही निर्मित हो गई। किन्तु इसकी निगरानी रखो। चिन्ता मुक्त रहते हुए भी मेरी (ईसा की माता) के समान प्रार्थना करते रहो, "क्योंकि कौन जानता है कि कब इसमें पुनः प्राण प्रतिष्ठा की शुभ घड़ी आ जाए।"

●



ग्रन्थकार

स्वातन्त्र्य वीर सावरकर

जन्म तिथि २८ मई १८८३ ई०

हिन्दुस्थान को विदेशी दासता के अपावन पंजों से मुक्त कराने के लिए जिन्होंने विदेशों में जाकर क्रान्ति-यज्ञ की ज्वाला प्रज्वलित की, उसे अपने अनुपम त्याग से और अधिक प्रचण्ड किया, जो असंख्य क्रान्तिकारियों के प्रेरणा स्रोत रहे हैं, जिनके महान ग्रन्थ १८५७ के स्वातन्त्र्य समर ने भारत के राजनैतिक रंगमंच पर अनेक क्रान्तिकारी उपस्थित किए।

इतिहास, स्वातन्त्र्य संघर्ष और क्रान्तिकारी आन्दोलन के साथ ही साथ जिन्होंने राजनीति में भी एक नवीन विचार प्रस्तुत किया कि हिंदुस्थान में मिश्रित राष्ट्र नहीं अपितु हिन्दू जाति ही एक राष्ट्र है और यहां के अन्य सभी निवासी अल्पसंख्यक समुदाय। राष्ट्रीयता परम्परागति-एतिहासिक प्रक्रिया का ही एक परिणाम है। जिन्होंने स्पष्टतः घोषित किया कि मिश्रित राष्ट्रीयता अंग्रेजों का एक घृणित कुचक्र मात्र है।

पुण्यभूमि हिन्दुस्थान के कृत्रिम विभाजन ने यह सिद्ध भी कर दिखाया है कि वीर सावरकर की विचारधारा ही सत्य है और देश की समग्र समस्याओं का एकमात्र निदान है हिन्दुस्थान का सैनिकीकरण तथा राजनीति का हिन्दूकरण।